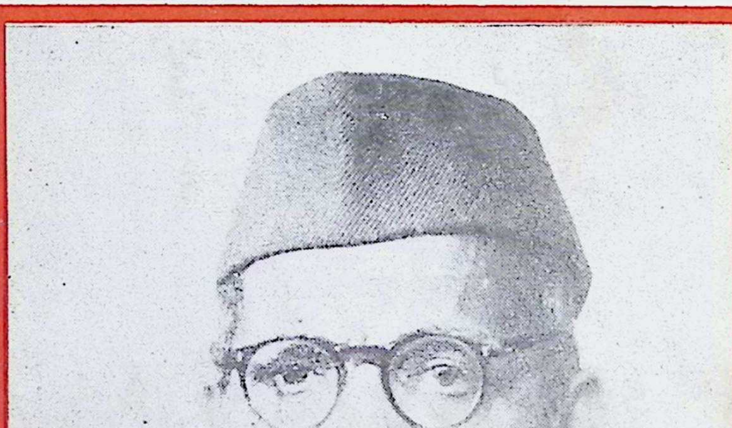
मेरा जीवन



शिवपूजन सहाय

'मेरा जीवन' शिवपूजन सहाय की आत्मकथा है। आधी सदी से ज्यादा लम्बे अपने साहित्यिक जीवन में उनका घनिष्ठ सम्पर्क हिन्दी के ऐसे ऋषिकल्प साहित्यसेवियों से हुआ जिन्होंने हिन्दी साहित्य के निर्माण में अपना सम्पूर्ण जीवन होम कर दिया। हिन्दी साहित्य के इस निर्माण-युग में उन्होने स्वयं अपनी महार्घ्य साहित्य-सेवा से हिन्दी साहित्य के भांडार की श्रीवृद्धि की। अपनी इस आत्मसंस्मरण-शृंखला में उन्होंने ग्राम्यांचल में बीते अपने शैशवकाल से लेकर जीवन के अंतिम दशक तक के स्मृति-चित्र अंकित किये हैं। इन आत्मसंस्मरणों में वर्तमान शती के पूर्वार्द्ध के हिन्दी साहित्य का जीवंत इतिहास उपलब्ध है। साथ ही रचनाकार के साहित्यिक जीवन का एक ऐसा प्रत्यगाभास प्रस्तुत हुआ है जिसमें हिन्दी भाषा-साहित्य के उत्थानकाल से उसकी आधुनिक प्रौढ़ावस्था तक की कुछ वैसी अंतरंग झांकियां मिलेंगी जिनसे हिन्दी-भाषा-साहित्य की सृजनात्मक प्रक्रिया में व्यक्ति-विशेष के विशिष्ट वैयक्तिक तथा साहित्यिक योगदान का महत्त्व स्पष्ट होगा। इन आत्म-संस्मरणों में जहां प्रसाद, निराला और प्रेमचन्द के अत्यन्त आत्मीय चित्र अंकित हुए हैं, वहीं शिवनंदन सहाय, सकलनारायण शर्मा, व्रजनंदनसहाय व्रजवल्लभ, जगन्नाथप्रसाद चतुर्वेदी, ईश्वरी-प्रसाद शर्मा, अमृतलाल चक्रवर्ती, कार्त्तिकेयचरण मुखोपाध्याय आदि अल्पचर्चित विस्मृतप्राय साहित्य-निर्माताओं के अंतरंग संस्मरण भी प्रस्तुत हैं, जिनमें हिन्दी साहित्य के निर्माण की अंतर्धारा स्पष्ट दृष्टिगोचर होगा।

मेरा जीवन

पारिजात प्रकाशन, पटना

आत्म-संस्मरण

मेरा जीवन

शिवपूजन सहाय

मूल्य : पचहत्तर रुपये / प्रथम संस्करण, १९८५ / आवरण : संजय नारायण / प्रकाशक : पारिजात प्रकाशन, डाक बंगला रोड, पटना-८०० ००१ / मुद्रक : कोणार्क प्रिंटर्स द्वारा सविता प्रिंटर्स, दिल्ली-११० ०३२

MERA JEEWAN : Shiv Pujan Sahai Rs. 75.00

श्रद्धास्पदेषु मातृ-पितृचरणेषु

जिनके पुण्य-प्रभाव से'

'टाट में पाट के सीवन-सा इस जीवन में साहित्य सधा'

'जा थल कीन्हे बिहार अनेकन
ता थल कांकरी बैठि चुन्यो करैं।
जा रसना सों करी बहु बातन
ता सों विचित्र चरित्र गुन्यो करैं।
'आलम' जौन से कुंजन में
करी केलि तहां अब सीस धुन्यो करैं।
नैननि में जे सदा रहते
तिनकी अब कान कहानी सुन्यौ करैं।'

प्रस्तावना

'मेरा जीवन' पुण्यश्लोक आचार्य शिवपूजन सहाय के आत्म-संस्मरणों का काल-क्रमानुसार विशिष्ट आकलन है। अर्द्धशती की दीर्घतर कालावधि से भी अधिक लम्बे अपने साहित्यिक जीवन में उन्होंने शताधिक संस्मरणों की रचना की एवं अनेक संस्मरणात्मक टिप्पणियां लिखीं, जो लगभग सन् १९२१ से १९६१ ई० के बीच विभिन्न पत्र-पत्रिकाओं में प्रकाशित हुई थीं। उनके साहित्यिक जीवन का सूत्रपात वर्तमान शती के दूसरे दशक में ही हो चुका था, जब वे आरा में अध्यापक थे और संभवतः इसीलिए उनका सर्वप्रथम संस्मरण 'प्रेममंदिर के प्रेमी पुजारी का परलोक-प्रस्थान' आरा के उदीयमान हिन्दीसेवी एवं प्रकाशक कुमार देवेन्द्र-प्रसाद जैन के असामयिक निधन से द्रवित-प्रेरित होकर लिखा गया था, जो पटना सिटी की 'चैतन्य-चंद्रिका' में सन् १९२१ ई० में प्रकाशित हुआ था; किन्तु उनके साहित्यिक संस्मरणों का काल-प्रारंभ वस्तुतः उसके बाद से ही होता है, जब वे आरा की 'मारवाड़ी-सुधार समिति' के मुखपत्र 'मारवाड़ी-सुधार' के सम्पादक के रूप में कलकत्ता पहुंचे और अंततः 'मतवाला'-मंडल की सदस्य-चतुष्टयी के प्रमुख सदस्य बन गये।

तीसरे दशक में प्रकाशित आचार्य शिवजी की अधिकांश संस्मरणात्मक रचनाओं में संस्मृत व्यक्ति का संक्षिप्त जीवनवृत्त प्रस्तुत हुआ था अथवा उसके प्रति श्रद्धांजलि अर्पित की गई थी; और बहुधा संस्मृत व्यक्ति से रचनाकार का व्यक्तिगत सम्पर्क नहीं था अथवा अत्यल्प था। किन्तु, यह तो सर्वथा स्वाभाविक था, क्योंकि इसी दशक में तो वे पहली बार साहित्यिक घटनाओं एवं साहित्यसेवियों के प्रत्यक्षदर्शी-सहयोगी बने थे, जिनकी सघन संवेदनशील अनुभूति ही कालांतर में उनके संस्मरण-सर्जन का उपजीव्य बनी। इसके बाद के तीन दशकों, एवं विशेषतः अंतिम दशक, में प्रकाशित उनके संस्मरणों में वर्तमान शती के पूर्वार्द्ध के हिन्दी साहित्य का जीवंत इतिहास उपलब्ध है। अंतिम तीन दशकों में प्रकाशित इन संस्मरणों में ही संस्मरणकार ने वस्तुतः अपनी आत्मकथा भी प्रस्तुत कर दी है; क्योंकि संस्मृत व्यक्तियों एवं उस युग के संस्मरणों की समष्टि में ही तो रचनाकार का सम्पूर्ण वाङ्मय प्रतिबिम्बित हुआ है।

आचार्य शिवजी ने अपनी आत्मकथा नहीं लिखी, लेकिन एक प्रकार से अपने संस्मरणों में ही उन्होंने अपनी आत्मकथा रच डाली थी; आवश्यकता थी केवल उस सामग्री को सहेजने-सजाने की, कालक्रमानुसार उसको तरतीब देने की; और यहां बस उतना ही किया गया है। वैसी रचनाएं छोड़ दी गई हैं, जिनमें केवल संस्मृत व्यक्ति का जीवनवृत्त एवं कृतित्व वर्णित है। कुछ दूसरी रचनाओं में से ऐसे अनुच्छेदों को छोड़कर केवल वही अंश लिये गये हैं, जो मुख्यतः आत्मकथात्मक हैं। इसी आकलन-क्रम में यदा-कदा एकाध शब्दों का जोड़-घटाव अनिवार्य हो गया है। प्रत्येक अध्याय का प्रारम्भ एक परिचयात्मक टिप्पणी से होता है, जो उस अध्याय के घटनाक्रम को स्पष्ट करती है। अधिकांश पाद-टिप्पणियां रचनाकार की ही हैं, अथवा उसके शब्दों में ही उद्धृत हैं; किन्तु सम्पादकीय पाद-टिप्पणियां एकाध भी कहीं-कहीं आवश्यकतानुसार जोड़नी पड़ी हैं।

पुस्तक का प्रारम्भ शैशव के संस्मरणों से होता है। ग्राम्यांचल का यह बालसुलभ स्मृतिचित्र प्रथमतः पटना से प्रकाशित 'चुन्नू-मुन्नू' में सन् १९५० ई० से कुछ अंकों में धारावाहिक प्रकाशित हुआ था। इस प्रथम अध्याय में जीवन के पहले दशक की कहानी है, जब 'माता का अंचल' छोड़कर वे मकतब और मदरसे से गुजरते हुए प्रारम्भिक स्कूली शिक्षा के लिए पिता के साथ आरा पहुंचे। दूसरे अध्याय का प्रारम्भ बंग-भंग आंदोलन से होता है, जब वे आरा में स्कूल के छात्र थे। बाद में उसी स्कूल में शिक्षक हुए और हिन्दी साहित्य में विशेष अनुरक्त बने। इसी काल में अपने शिक्षक एवं साहित्यिक गुरु पं० ईश्वरीप्रसाद शर्मा के संरक्षण में साहित्य-लेखन की ओर प्रवृत्त हुए एवं बाबू शिवनंदन सहाय, महामहोपाध्याय पं० सकलनारायण शर्मा आदि ऋषिकल्प साहित्यकारों के निकट सम्पर्क में आये। अखिल भारतीय हिन्दी साहित्य सम्मेलन के लखनऊ में सम्पन्न पंचम अधिवेशन की नाट्य-मंडलियों के प्रदर्शन से अत्यधिक प्रभावित गुरुवर शर्माजी ने जब आरा में भी एक नाट्य-मंडली का संगठन किया तब उसमें आचार्य शिवजी ने शैव्या का इतना स्वाभाविक अभिनय किया था कि दर्शक बार-बार उन्हें मंच पर बुलाकर उनसे यह गीत सुनना चाहते—

'हा रोहित, प्यारे दुलारे, छोड़कर अपनी मां को सिधारे।
लाल तुम बिन कैसे रहूंगी, ये बिपत हाय कैसे सहूंगी।
तुमको पाऊं कहां प्राणप्यारे, हा रोहित, प्यारे दुलारे।
दूध रातों को तुमको पिलाया, हाय गोदों में अपने खिलाया।
कौन मैया हमें अब कहेगा, कौन इस गोद में अब रहेगा।
हो कहां मेरी आंखों के तारे, हाय रोहित, प्यारे दुलारे॥

तीसरे अध्याय में कलकत्ता-प्रवास के संस्मरण हैं, जो पहली बार सन् १९५० ई० में, श्रीरामवृक्ष बेनीपुरी द्वारा सम्पादित 'नई धारा' में धारावाहिक रूप से प्रकाशित हुए थे, उसी काल के कुछ अन्य संस्मरण भी इस अध्याय में हैं। 'मतवाला' से कुछ मतभेद के कारण सन् १९२४ ई० में कुछ दिनों के लिए वे 'माधुरी' में लखनऊ चले गये थे, जिसकी चर्चा चौथे अध्याय में है, यद्यपि मतभेद एवं 'मतवाला'-मंडल के विघटन के वास्तविक कारणों का विगोपन उन पत्रों के प्रकाशन से ही हो सकेगा, जो आचार्य शिवजी के बहुमूल्य पत्र-संग्रह में सुरक्षित हैं। इन पत्रों के संकलन का प्रकाशन भी यथाशीघ्र होगा।

पांचवें अध्याय में आत्मसंस्मरणों की वह श्रृंखला है, जिसमें काशी-प्रवासकालीन जीवन की स्मृतियां अंकित हैं। सन् १९२६ ई० से प्रारम्भ होने वाले दशक के काशी-प्रवासकाल में ही सन् १९३२-३३ ई० में 'द्विवेदी-अभिनंदन-ग्रंथ' का सम्पादन सम्पन्न हुआ था, जिसकी चर्चा आचार्य द्विवेदीजी वाले संस्मरण में है। जिस ग्रंथ के सम्पादन में महीनों का श्रम लगा था, जब काशी-नागरी-प्रचारिणी सभा में उसका समर्पण-समारोह हो रहा था, उस समय अपने ज्येष्ठ पुत्र के शीतला-ग्रस्त होने के कारण उसमें उपस्थित न हो सके थे, यद्यपि सभा-भवन के वे बिलकुल समीप ही रहते थे। द्विवेदीजी को जब यह ज्ञात हुआ, तब उन्होंने एक श्लोक पुर्जे पर लिखकर भेजा, जो आज भी सुरक्षित है। पुर्जे पर एक ओर द्विवेदीजी की हस्तलिपि में यह श्लोक है, और उसके नीचे एक संदेश—

'देव्यायया ततमिदं जगदात्मशक्तया
नि:शेषदेवगणशक्तिसमूह मूर्त्या
तामम्बिकामखिलदेवमहर्षिपूज्यां
भक्त्या नतोस्मि विदधातु शुभानि सा नः ॥'

'भगवती चंडिका से मेरी यही प्रार्थना है। कृपा करके वह आपके बच्चे का जल्द नीरोग कर दे।'

म० प्र० द्वि०
३।५।३३

पुर्जे की पीठ पर लेखक के ये शब्द अंकित हैं—

'जिस समय काशी-नागरी-प्रचारिणी सभा में द्विवेदी-अभिनन्दनोत्सव हो रह था, उसी समय आचार्य द्विवेदीजी ने 'आनन्दमूर्त्ति' को यह आशीर्वाद भेजा था; क्योंकि भयंकर शीतला के कारण वह जगदम्बा की अपार दया से ही जीता बचा था और उसी की सेवा-शुश्रूषा के कारण मैं उत्सव में न जा सका। किन्तु रायकृष्ण

दासजी, बाबू मैथिलीशरण गुप्त और श्री कृष्णानन्द गुप्त अथवा सियारामशरण गुप्तजी मेरे मकान पर आकर द्विवेदीजी का संदेश कह गये थे।—शिवपूजन'

पुस्तक के उत्तरार्द्ध के पांच अध्यायों में मुख्यतः लहेरियासराय-प्रवास से प्रारम्भ कर छपरा-कॉलेज तथा बिहार-राष्ट्रभाषा-परिषद्, पटना निदेशक-काल तक के आत्मसंस्मरण हैं। जीवन के इन अंतिम दो दशकों की स्मृतियां प्रमुखतः उनकी दैनंदिनियों में सुरक्षित हैं, जो निश्चय ही हिन्दी-साहित्य की अमूल्य निधि हैं। इस कालावधि-विशेष की स्मृतियों का अन्यतम संग्रह यथाशीघ्र दैनंदिनियों के दो-तीन खंडों के रूप में हिन्दी-संसार के सम्मुख प्रस्तुत करने का मेरा संकल्प है। ईशकृपा से यह संकल्प अवश्य पूरा होगा, ऐसा विश्वास है।

इस पुस्तक के प्रकाशन-क्रम में अपने पूज्याग्रज डॉ० आनंदमूर्त्ति, अग्रजतुल्य भाई शंकरदयाल सिंह एवं सम्मान्य डॉ० श्रीरंजन सूरिदेव से जो प्रोत्साहन एवं मार्गदर्शन प्राप्त हुआ है, तदर्थ उनके प्रति विनम्रतापूर्वक कृतज्ञता ज्ञापित है। सामग्री के संयोजन-प्रस्तावन में अनेक त्रुटियों का होना सर्वथा स्वाभाविक है, जिसके लिए सुधी पाठकों से करबद्ध क्षमा-याचना है।

—मंगलमूर्त्ति

माघी पूर्णिमा, सं० २०३९
कॉलेज परिसर, मुंगेर

अनुक्रम

मेरा जीवन

कविवर 'प्रसाद' जी का एक सुन्दर गीत है—
'वे कुछ दिन कितने सुंदर थे !'
वह पंक्ति याद आते ही मन अनायास कह उठता है—
'ते हि नो दिवसा गताः !'
न अब वे दिन बहुरेंगे, न वे लोग !

1

माता का अंचल

बचपन : १८९३—

•

मुगलसराय-पटना के वीच बक्सर रेलवे स्टेशन से पन्द्रह किलो मीटर दक्षिण (भोजपुर ज़िलांतर्गत) 'उनवांस' गांव में ९ अगस्त, १८९३, बुधवार (श्रावण कृष्ण त्रयोदशी, वि० सं० १९५०) को शिवपूजनसहाय का जन्म एक साधारण काश्तकार कायस्थ परिवार में हुआ। पिताश्री वागीश्वरीदयाल आरा के बक्शीजी की जमींदारी के पटवारी थे। शैशव के सात-आठ वर्ष उसी गांव में बीते। फिर अपनी छोटी फुआ के यहां (बक्सर से पश्चिम और रघुनाथपुर रेलवे स्टेशन से दक्षिण) 'बगेन' गांव में रहकर अपने फूफा से अंग्रेजी और उर्दू की आरंभिक शिक्षा पायी। साल लगते-लगते वहां से अपने बड़े बहनोई मुंशी कालिकाप्रसाद के यहां (रघुनाथपुर से भी थोड़ा पश्चिम, विहिया रेलवे स्टेशन से दक्षिण) 'बम्हवार' गांव में भेज दिये गये जहां अंग्रेजी और उर्दू-फारसी के साथ-साथ रामायण पढ़ने की प्रवृत्ति जगी। अंततः पिता उन्हें अपने साथ रखकर पढ़ाने के लिए (जिला मुख्यालय) आरा ले गये जहां जनवरी १९०३ में प्रसिद्ध के० जे० एकेडमी के पांचवें दर्जे में दाखिला मिला। बचपन के इन प्रारम्भिक पन्द्रह वर्षों की कहानी 'मेरा बचपन' शीर्षकसे पहले-पहल १९५२ में प्रकाशित हुई थी।

मेरे गांव में एक पंडितजी थे। वे संस्कृत के अच्छे विद्वान् थे। उनका शुभ नाम था रामप्रकाश पाण्डेय। वे डुमरांव के महाराज के राजगुरु परमहंसजी के प्रिय शिष्य थे। परमहंसजी का नाम था पं० दुर्गादत्तजी। वे सिद्ध योगी और शिवजी के अनन्य आराधक थे। उनकी जीवनी प्रोफेसर अक्षयवट मिश्र ने हिन्दी में लिखी है। वह पुस्तक-भंडार (पटना) से प्रकाशित हुई है। उसकी भूमिका मैंने लिखी थी। उसी भूमिका में मेरे जन्म की संक्षिप्त कहानी है।

मेरे गांव में एक दूसरे पंडितजी भी थे। वे भी संस्कृत के अच्छे विद्वान् और कथावाचक थे। उनका शुभ नाम था रामयत्न पाण्डेय। पं० रामप्रकाशजी सरयूपारीण ब्राह्मण थे। पं० रामयत्न पाण्डेय थे शाकद्वीपीय। यही मेरे कुल-पुरोधा थे।

पं० रामप्रकाशजी के घर पर एक बार उनके गुरु परमहंसजी आये थे। मेरे माता-पिता ने बड़ी भक्ति से परमहंसजी के दर्शन किये थे। मेरे एक चाचा ने परमहंसजी से प्रार्थना की थी। मेरे पिताजी संकोचवश कुछ निवेदन न कर सके। किन्तु चाचाजी की प्रार्थना सुनकर परमहंसजी ने कहा कि शिवजी की आराधना करने से सन्तानोत्पत्ति होगी।

पं० रामयत्न पाण्डेय ने काशी में रहकर विश्वनाथजी की और देवघर में रहकर वैद्यनाथजी की कई महीने तक, आराधना की। यह शिवाराधन परमहंसजी के आदेशानुसार हुआ। पूजा की पूर्णाहुति के बाद चाचाजी को परमहंसजी ने बुलाया और अपने अग्निहोत्र-कुण्ड से दिव्य विभूति दी। उसी के प्रताप से मेरी मृतवत्सा माता सन्तानवती हुई।

मेरे जन्म का संवाद परमहंसजी के पास वही चाचाजी ले गये। उन्होंने नामकरण करके जो भविष्यवाणी की थी वह सफल हो गई। परमहंसजी के आशीर्वाद की चर्चा मेरी माता बराबर किया करती थी। पिताजी और चाचाजी भी कभी-कभी परमहंसजी के उपकार का स्मरण कर लेते थे।

तपस्या का प्रभाव अमर होता है। परमहंसजी के अग्निहोत्र-कुण्ड के चुटकी-भर भस्म से एक मृतवत्सा की कोख फलवती हो गई। उस दिव्य विभूति के एक-एक कण में जो अद्भुत शक्ति थी वही मेरे जीवन-निर्माण में सहायक सिद्ध हुई। मेरे मन में ईश्वरभक्ति बीज उसी शक्ति ने बोया। उसी शक्ति ने मुझे सुखी-यशस्वी बनाया।

मेरी पूजनीया माता प्रायः परमहंसजी के दिव्य स्वरूप एवं अद्भुत प्रभाव का वर्णन किया करती थीं। बचपन में उसके मुख से जो बातें मैंने सुनी थीं, वे आज तक ज्यों-की-त्यों याद हैं। यहां मैं उसी के शब्दों को दुहराता हूं।

"परमहंसजी की देह खूब गोरी थी। सन की तरह दाढ़ी सफेद थी। बैठने में

जांघ तक दाढ़ी लटकती थी। आंखें लाल-लाल थीं। बोलते कम थे। तमाम देह में भभूत का टीका लगाते थे। आंखों पर भभूत लेपते थे। तांवे की सिकड़ी में गूंथी हुई वड़ी-वड़ी मनिया का रुदराछ पहनते थे। कान में, कपार में, वांह में, गरदन में, छाती पर खाली रुदराछ-ही-रुदराछ। हाथ के नख बड़े-बड़े थे, जो सीप की तरह चमकते थे और उसमें महादेव-पारवती की मूरत लगाते थे। उनके घर में अगर किसी के सिर में दर्द होता था तो महादेवजी के सिर में घी और कपूर मला जाता था। कोई बीमार पड़ता था तव भी महादेवजी पर ही दवा पीसकर चढ़ाई जाती थी। महादेवजी को हरदम अरघे पर आमने-सामने रखते थे। धूप की वत्ती जलती रहती थी। सोलह कहारों की पालकी पर चलते थे। कहार भी महादेवजी की जय बोलते चलते थे। मेरे तीन लड़के मर गए तब तुम्हारे चाचा उनसे भभूत मांगने गए। उन्होंने दूध समान उजली भभूत एक डिबिया में दी। वह घी समान चिकनी थी और खूब गमगमाती थी। उसी को मैं नहा-धोकर हर महीने में खाती थी। बाबाजी (पुरोहित) वैजनाथ-धाम और काशी बिसेसरनाथ में जाकर परमहंसजी का बताया हुआ मन्तर जपते थे—मेरे घर में भी पारथी-पूजा और खीर का हवन करते थे।

रोज पहर भर तक एक पोथी का पाठ भी करते थे। परमहंसजी ने जैसे-जैसे बताया था वैसे-ही-वैसे सब हुआ। तब तुम्हारा (मेरा) जन्म हुआ। परमहंसजी के पास सन्देशा गया, तो उन्होंने कहा कि यह लड़का महादेवजी का भगत होगा।"

मेरे पितामह[1] प्रातः संध्या का सारा समय शिवजी की पूजा में ही बिताया करते थे और दिन में भी शिवपुराण तथा योगवासिष्ठ पढ़ते थे। उनके सगे चचेरे भाइयों ने उनको अलग कर दिया, क्योंकि दिन-रात पूजा-पाठ में रमे रहने के कारण काम-धाम में थोड़ा भी समय नहीं देते थे। भाइयों में सबसे छोटे थे। हिस्से में ऊसर खेत और अमराई की जगह कुछ महुए के पेड़ मिलने पर भी बड़े भाइयों से उलझे नहीं, शिवजी के भरोसे सन्तोष कर गये। मेरी पितामही ने उन्हें पुजारी ही रहने दिया और मेरे पिता को पढ़ाई-लिखाई छोड़ाकर नौकरी करने के लिए बाहर शहर में भेजा। कई साल तक परिवार की माली हालत बहुत खराब रही। उन्हीं दुर्दिनों में जन्म होने के कारण मेरा बचपन कुछ दिन गरीबी में ही बीता। किन्तु ईश्वर की कृपा से जब मेरे पिता कमाने लगे तब धीरे-धीरे घर की आर्थिक

---

१. देवीदयाल, जिनके प्रपितामह सुथरदास अपनी मां के साथ उत्तर प्रदेश के गाजीपुर जिले के शेरपुर गांव से अपने ननिहाल उनवांस में आकर रह गये थे। यह अनुमानतः अठारहवीं सदी के प्रारम्भ की बात होगी।—सं०

दशा सुधरने लगी। मेरी दादी और मां ने बड़ी शान्ति से गरीबी झेली। पर जब सुख के दिन बहुरे तब भी गरीबी की कष्टकथा का स्मरण कर भगवान को गुहराती रहीं।

महाभारत की कथा में सुना जाता है कि द्रोणाचार्य का इकलौता बेटा अश्वत्थामा, गरीबी के कारण, दूध के अभाव में, भुने चावल के आटे का घोल पिया करता था। कहा जाता है कि मुझे भी बचपन में वैसा ही घोल पिलाया जाता था। उसके लिए भी घर में कभी-कभी चावल और गुड़ नहीं रहता था। मेरी दादी जौ का सत्तू घोलकर शहद के साथ मुझे पिलाती थी। वह कहा करती थी कि उसके बहुत फुसलाने-बहलाने पर ही मैं सत्तू का घोल पीता था।

मेरे जन्म के बाद मेरे घर की गरीबी धीरे-धीरे कम होने लगी, मगर मेरा बचपन उसी की गोद में बीता। भूना हुआ चावल पीसकर गुड़ के साथ पानी में घोल दिया जाता, मैं दम साधकर बड़े चाव में एक ही सांस में सुड़क जाता। कभी-कभी वही घोल आग पर पकाकर हलवा बना दिया जाता।

मेरी माता कहा करती थी कि मीठा घोल पीते समय मैं तब तक मुंह से कटोरा अलग नहीं करता था जब तक एक-एक बूंद चुक न जाये। और हलवा बनते समय मैं तुरत उसे खाने के लिए बेचैन हो जाता था।

मेरा मचलना भी विचित्र ढंग का था। मां कहती थी कि खाने-पीने की अच्छी चीज देखकर मैं नाचने लगता था। उस समय सिर में बहुत घनी जटाएं थीं। बाबूजी रोज दोनों जून गोबर के चौके पर गन्ध-धूप जलाकर तुलसीकृत रामायण का पाठ किया करते थे। पूजा से उठते ही भोजन करने बैठ जाते थे। अपने साथ ही मुझे भी नहलाकर पूजा की आसनी पर एक बगल में बैठाते थे। मेरे ललाट पर भी उज्ज्वल विभूति का त्रिपुण्ड लगा देते थे। उस रूप में मुझे घर के लोग 'भोलानाथ' कहा करते थे।

जब वे मुझे टहलाने के लिए अपने साथ ले जाते तब रास्ते में कोई मन्दिर पड़ने पर कहते कि हाथ जोड़कर देवता की वन्दना करो। किस देवता का मन्दिर है, शिवजी का मन्दिर है तो उसकी चोटी पर त्रिशूल क्यों है, रामजी का मन्दिर है तो उसके ऊपर चक्र क्यों लगा है, इन सब बातों को सरलता से समझाते थे।

खाने के समय बाबूजी की थाली में आलू का भुर्त्ता देखकर मैं उछलने और थिरकने लगता था। जिस दिन वह आलू का चोखा नहीं नजर आता था उस दिन मैं आंगन या बरामदे के एक कोने में चुपचाप खड़ा हो जाता और मुंह लटका लेता था। माता-पिता मुझे बड़े लाड़-प्यार से मनाने लगते थे। माता तुरत गोरसी में आलू पकाकर झट भुर्त्ता बना देती थी। तब मैं फिर किलकने लगता था।

मेरा 'जटाधारी भोलानाथ' का रूप मेरी माता को बहुत प्रिय लगता था। मेरे त्रिपुण्ड-तिलक को वह मुझे गोद में लेकर आईने में दिखाती थी, तो मैं बहुत

मुसकराता था और उसके हाथ से आईना छीनकर खुद अपना रूप निहारने लग जाता था। मां कहती थी कि मैं कभी-कभी आईने को छाती पर रखे-ही-रखे सो जाता था।

मुझे याद है कि मेरी बूढ़ी दादी मुझे अपने साथ लेकर मेरे गांव से पांच कोस उत्तर बक्सर में गंगातट पर मेरा मुण्डन कराने के लिए बैलगाड़ी पर गयी थी। मेरे सिर पर सेम और इमली की फलियों की तरह जठुलियां लटकती थीं। उस समय मैं पांच साल का था। मुण्डन हो जाने पर कटे जटों के लिए मैं रोने लगा था। जब मेरी दादी ने चीनी के बने बहुत से खिलौने खरीदकर मेरी छोटी चादर के दोनों आंचलों में बांध दिया तब मैं चुप हो गया। उसके कुछ ही दिन बाद मेरी दादी मर गयी। उसका शरीर बहुत गोरा और सुन्दर था। सयाना होने पर मेरे ध्यान में आया कि मेरे पिता और बड़े चाचा का चेहरा उसी के समान था। मेरी माता कहती थी कि मेरे छोटे चाचा हूबहू मेरे दादा के समान थे। अपने दादा को मैंने नहीं देखा था। मेरी दादी का मायका नारायणपुर मेरे गांव से दो कोस उत्तर-पूरब है। मेरे बूढ़े पुरोहित इसी कारण मेरी दादी को 'नारायणी' नाम से पुकारा करते थे। उनकी देखा-देखी जब मैं भी उसको उसी नाम से पुकारता था तब मेरी माता बहुत हंसती थी।

मेरी दादी पढ़ी-लिखी नहीं थी मगर उसको 'हनुमान-चालीसा' कंठस्थ था। वह उसकी एक-दो चौपाई मुझे भी रटाती थी। उनका पोसा हुआ तोता भी उन चौपाइयों को दुहराने लगता था—

'नासे रोग हरे सब पीरा, जपत निरन्तर हनुमत बीरा
संकट कटे मिटे सब पीरा, जो सुमिरै हनुमत बलवीरा'

दादी के मरने पर मेरे माता-पिता या चाचा जब इन चौपाइयों को दुहराने के लिए कहते थे तब मैं रोने लगता था। दादी का तोता भी जब कभी इन चौपाइयों को दुहराता था तब मेरी माता डबडबाई आंखों से दादी के गुण गाने लगती थी। मेरी सबसे बड़ी सगी बहन का नाम 'मनबसिया' क्यों पड़ा था, इसके विषय में वह कहती थी कि जिस समय उस बहन का जन्म हुआ उस समय दादी 'हनुमान-चालीसा' का पाठ कर रही थी। ज्योंही वह 'रामचरित्र सुनिवे को रसिया, राम लखन सीता मनबसिया' चौपाई का पाठ समाप्त कर चुकी त्योंही किसी ने आकर कन्या-जन्म का शुभ संवाद सुनाया। बस उसने उसी क्षण ऐसा नाम रख दिया।

मैं बचपन में बहुत कम बोलने के कारण, घर के लोगों में 'मौनी बाबा' के नाम से भी पुकारा जाता था। मेरी तोतली बोली सुनने के लिए माता-पिता और परिवार के लोग नाना प्रकार के यत्न करते थे। अपनी भूख-प्यास मिटाने के लिए भी मैं केवल मां के पास जाकर चुप खड़ा हो जाता था। उसके लाख पूछने

पर भी मैं कुछ कहता न था। काम-धाम से मन हटाकर वह मुझे ही पुचकारने-बहलाने में लग जाती थी। आखिर मेरी चुप्पी तोड़ने के लिए उसको बहुत दिनों का संचा हुआ मोतीचूर लड्डू निकालना पड़ता।

बाबूजी जब कभी बाहर कहीं शहर से आते, मोतीचूर जरूर लाते। माता उसे अपने दरवाजे पर आये हुए किसी बड़े अतिथि के लिए जुगाकर रखा करती थी। कभी-कभी वह इतने दिनों तक संचित रह जाता कि चींटे चीनी के कण चट कर जाते और सिर्फ दाने रह जाते। पर एक लड्डू से कभी मौन नहीं तोड़ता था। जब दोनों हाथों में लड्डू आ जाते, मैं गोद से उतरकर फुदकने-चहकने लग जाता।

मेरी माता कई तरह के गीत और भजन गाया करती थी। उनमें से गीतों की कुछ कड़ियां मैं उसके साथ ही गाने में दुहराया करता था। लड्डुओं को देकर वह एक कड़ी छेड़ देती, मैं गाने-नाचने लग जाता—

'मैया बिन आदर कौन करे, गैया बिन ओदर कौन भरे
बरखा बिन सागर कौन भरे, श्रीराम बिना दुख कौन हरे?'

बचपन में एक खिलौना मेरा बहुत प्यारा था। वह किसी कुम्हार या कारीगर का बनाया हुआ नहीं था। मेरी माता ने ही उसे बनाया था। वह बहुत दिनों तक माता की झांपी में पड़ा रहा। उन दिनों बक्स या ट्रंक की चाल नहीं थी। सीकों से बना गोला संदूक रंगीन कपड़े या चमड़े से मढ़ दिया जाता था, जिसे भोजपुरी बोली में 'झांपी' कहते हैं।

कुछ सयाना होने पर उस खिलौने की सुधि या ममता भूल गयी या मेरे छोटे भाइयों ने उसे तोड़ डाला। वह रंग-बिरंगे कपड़ों की कतरनों से बनी एक चितकबरी गाय थी, जो काठ की छोटी-सी पतली पटरी पर खड़ी होकर बछड़े को दूध पिला रही थी। उसके गले में छोटी-छोटी घंटियां थीं, जो कौड़ियों से मढ़ी हुई रस्सी में लटकती थीं। उसके सींग पीले कपड़े से मढ़े थे, जिसको मां सोना बतलाती थी। उसके खुर सफेद कपड़े से बने थे, जिसे वह चांदी कहती थी। जब मैं उसके बछड़े को अलग हटाकर खुद दूध पीने के लिए कहता था तब वह बहुत खुनसाती थी, क्योंकि बछड़ा भी गाय की तरह पटरी पर जड़ा हुआ था; पर मैं इसी कारण ठिनकने लगता था, तो वह कहीं पड़ोस से दूध मंगाकर मुझे फुसलाती थी।

एक बार मैं उसी खिलौना-गाय का दूध पीने के लिए इतना मचल उठा कि चिरौरी करके मंगाया हुआ दूध फेंक दिया और अपना बघनखा या बिजायठ पानी से भरे एक गड्ढे में डाल दिया। मुझे इतना याद है कि बरसात के बाद गर्मी में जब गडढा सूख गया तब उसकी मिट्टी काटते समय वह गहना निकल आया जिसे

दिखाकर माता ने हंसते हुए मेरे हठ की कहानी सुनायी थी। मेरे सयाना होने पर, मेरी शादी होने पर मेरी पत्नी के सामने भी, मेरे बचपन की बातें कह-सुनाकर माता हंसा-हंसाया करती थी।

मैं जब पांच साल का हो गया था, तब घर की हालत कुछ सुधरने लग गयी थी। मेरे दूध पीने के लिए जो गाय सबसे पहले मेरे घर आयी थी, वह पांच रुपये की थी और एक सेर दूध देती थी। उस समय फी सेर दूध पर पांच रुपये गाय का दाम था। मेरी माता की सेवा से उसका दूध बढ़ गया।

मेरे पांच साल के बचपन में ही मेरे दूसरे छोटे भाई का जन्म हो चुका था। माता कहती थी कि मैंने अपनी ही इच्छा से उसका दूध पीना छोड़ दिया था। अपने छोटे भाई को माता की छाती में लगकर दूध पीता देखकर मैं बहुत खुश होता था। उस बच्चे को मैं इतना प्यार करने लगा कि माता हम दोनों को एक साथ ही गोद में लेकर हंसी-खेल किया करती।

एक बार माता घर की चक्की में गेहूं पीस रही थी और मैंने चुपचाप जाकर बच्चा-भाई को खाट के बिछौने से अपने कंधे पर उठा लिया। वह अचानक रोया तो माता दौड़ी। तब तक मैं बच्चे को लेकर माता की ओर चल पड़ा था। किन्तु बच्चे के बोझ के साथ चौखट न लांघ सकने के कारण घर में ही गिरफ्तार हो गया। माता ने हंसते-हंसते बच्चे को अपनी गोद में उठा लिया, जिससे नाराज होकर मैं वहीं देहली पर लोटने लगा। बड़ी देर तक मैं गुमसुम लोटता ही रहा। कभी-कभी माता उस समय की मेरी त्योरी-भरी आंखों, फुलाये हुए गालों और बिचकाये हुए होंठों की नकल करके बहुत हंसाया करती थी। माता की वह मुद्रा आज भी मैं दिल पर आंकता और हर्ष-विषाद का अनुभव करता हूं।

इधर मैं बचपन से बालपन की ओर बढ़ रहा था, उधर घर में गायों की गिनती भी बढ़ती जा रही थी। मेरे पिता जो गाय खरीदते थे उसे बेचते कभी न थे। वह घर में ही बूढ़ी होकर मरती थीं। सबसे पहली गाय बड़ी सूधी थी। उसे माता 'गंगिया' कहा करती थी। उसी के दूध-दही-घी से मैं पाला-पोसा गया। उसके थन में मुंह लगाकर मैं दूध पी लेता और वह चुप खड़ी पगुराती रहती। उसकी बछिया भी इतनी सूधी थी कि जब वह दूध पीने लगती तब मैं भी उसका साथ देता। एक दफा बछिया ने हुमककर थन को झकझोरा, बस उसके सिर से मेरा सिर टकरा गया। बड़े जोर की चोट लगी। लिलार पर काला-सा गोला उठ आया। बुखार तक हो गया। माता परेशान तो थी, मगर जब-तब मुंह फेरकर हंसती भी थी। मुझसे कहती थी—'तुम्हारे बिना गंगिया की बछिया बहुत उदास है, सत्तू का घोल नहीं पीती, उठकर चलो, उसे मट्ठा पिलाओ।' इस तरह, ज्वर उतर जाने पर, माता बहलाकर घुमाने-फिराने लगी। मगर थनैला दूध पीना

छूट ही गया।

जब घर में दूध-दही की बढ़न्ती हुई, तब मैं अन्न बहुत कम खाने लगा। मेरे छोटे भाई को उबाले हुए दूध की और दही की भी छाली नहीं रुचती थी, इसलिए दूध और दही की सारी छाली मेरे ही बांटे पड़ती थी। मुझे याद है कि प्यास लगने पर माता दूध ही पीने को देती थी, पानी कम पीने देती थी। शायद इसीलिए अन्न खाना कम हो गया। अन्न से मुझे परचाने के लिए माता थाली में अलग-अलग कौर रखकर तोता, मैना, कबूतर आदि बनाती और गीत गा-गाकर खिलाती। खाते समय मैं लगातार सिर हिलाकर जटाओं को फटफटाता था। माता कहती कि खाते समय सिर हिलाना नहीं चाहिए, क्योंकि जटा की फटकार सुनकर डाली के पंछी फुर से उड़ जायेंगे, जल्दी खा लो चुपचाप। तब मैं सिर न हिलाता। मगर कुछ ही चिड़ियों को चट कर उड़ जाता। वह बड़े-बड़े कौर खिलाती, इसलिए थोड़े में ही मैं अघा जाता। वह कहा करती थी—

'जब खाओगे बड़े-बड़े कौर
तब पाओगे दुनिया में ठौर'

मेरा नटखटपन कुछ उधम से भरा न था। माता तरह-तरह के अचार बनाया करती थी। अचार से बढ़कर अचार के घड़े उसे प्यारे थे। मैं खट्टा-तीता अचार तो छूता भी न था, पर मीठा अचार खूब खाता था। आंगन में तुलसी-चौतरे के पास गोबर के चौके पर अचार के घड़े घाम में रखे जाते थे। माता कुल काम खुद करती, किसी को कभी कोई घड़ा छूने न देती। आम और छुआरे के मीठे अचार मैं बनते समय ही चख चुका था। घड़ों के मुंह उघारकर उन्हें धूप में रख माता कहीं किसी काम में लग गयी। मैं इतमीनान से मीठे अचार गपकने लगा। जब काफी खा चुका तब मेरी मौसी ने देखकर हंसते हुए हल्ला किया। माता दौड़ी आयी। झट मुझे अलग उठा ले गयी। उस समय भी मेरी मुट्ठी में अचार भरा था। मगर खाते-खाते पेट इतना अफर गया कि माता ने तुरत कोई घुट्टी पिलाई। मुट्ठी का अचार छप्पर पर कौवे को नसीब हुआ। अचार तो भ्रष्ट हुआ ही, उन घड़ों के लिए माता जिन्दगी-भर सचमुच रोती-कलपती रही। मुझसे कहती थी कि जैसे तुमको उबट-चुमटकर पाला-पोसा है, वैसे उन घड़ों को भी तेल से रिठाया था। उसका रोना-पछताना मुझे बहुत अखरता था। किन्तु बचपन का वह नटखटपन उसे हंसाता भी कम न था।

बड़े दुःख के साथ अपने अभाग्य की बात कहनी पड़ती है। मुझे बचपन में बहुत नटखटपन करने का अवसर ही नहीं मिला। मुझे ऐसी कड़ी निगरानी में रहना पड़ा कि नटखटपन मेरे पास आकर भी ललचकर भाग जाता था। फिर भी माता के सामने कभी-कभी नटखटपन कर ही गुजरता था। पर मेरे अभाग्य से

वह नटखटपन भी ऐसा न होता कि माता तंग आकर डांट-डपट करे या झुंझला उठे। वह मेरा नटखटपन देखकर बहुत हंसती थी और मुझे नटखटपन करने के लिए बहुत बढ़ावा भी देती थी।

एक बार अपने आंगन में ही मैं एक पड़ोसी लड़के के साथ खेलते-खेलते झगड़ पड़ा। पिताजी बाहर बैठकखाने में थे। आवाज सुनकर भीतर आये। उस समय हम दोनों साथी कुश्ती लड़ रहे थे। पिताजी चुपचाप हंसते हुए खड़े रहे। माता चूल्हे के पास थी। पिताजी मेरे नखों को बराबर काटते-छांटते और साफ करते रहते थे, इसलिए मेरे पास उस लड़ाई में कोई हथियार न था! हां, दांत बड़े चोखे थे। मेरे साथी ने अपने चोखे नखों से मेरे शरीर को लहूलुहान कर दिया। मैंने भी अपने दांतों से उसकी देह में कई जगह खून निकाल दिये। किसी ने हम लोगों को छेड़ा नहीं, क्योंकि पिताजी अलग से ही सबको मना कर रहे थे। जब हम दोनों उठा-पटक करके थक गये, तब अलग-अलग हटकर कहने लगे—अब आओ, आते क्यों नहीं, आ जाओ एक बार!

इसी समय पिताजी दरवाजे की ओट से प्रकट हुए और हम दोनों को बाहर ले गये। माता बार-बार मुझे अपने पास बुलाती रह गयी, पर पिताजी ने उधर न जाने दिया। बाहर आने पर गांव के दो आदमियों ने हम दोनों को गोद में उठा लिया और हम दोनों की पीठ ठोकी जाने लगी। इसके बाद हम दोनों साथी एक साथ ही तेल लगाकर नहलाये गये। लड़ने के समय हम लोग तनिक भी रोये न थे, पर नहाने के बाद नोच-खसोट के घावों में कुछ तकलीफ मालूम हुई इसलिए हम लोग रोने लगे। तब तिल के मीठे लड्डू दोनों हाथों में दिये गये। बस, आंसू की आखिरी बूंदें गालों पर लुढ़ककर लड्डुओं पर आ गिरीं। खारा पानी भी मीठा हो गया!

मेरे पिताजी बहुत अच्छे रामायणी थे। जब कभी नौकरी से छुट्टी पाकर घर आते, सुबह-शाम दरवाजे पर रामायण की कथा हुआ करती। एक पांड़ेजी ऊंचे से ऊंचे स्वर में रामायण बांचते और पिताजी भी वैसे स्वर में अर्थ कहते। कथा सुनने के लिए गांव-भर के लोग जुट जाते। उन्हीं लोगों में एक किसान भी आता जो शिवजी का सच्चा पुजारी था। उसका नाम 'जगेसर' था। पर गांव के लोग उसे 'गोदी' कहते थे। उसने पूजा-फूल के लिए एक बहुत अच्छी फुलवारी तैयार की थी, जो यों तो बहुत छोटी थी मगर सुगन्धित फूलों से भरी हुई थी। वह दोनों जून बड़ी तैयारी से पूजा करता था। कथा में भी आता तो अंजली-भर फूल जरूर लाता। कभी-कभी शिवज़ी का प्रसाद 'फूलों का गजरा' भी लाता।

मैं उसके साथ उसकी फुलवारी और मंदिर में जाने लगा। सूंघने के लिए

वह फूल नहीं तोड़ने देता था। उसका कहना था कि फुलवारी शिवजी की है और इसका हरेक फूल शिवजी पर ही चढ़ना चाहिए। उसने मेरे नाम का अर्थ मुझे समझाया और फूलों को सजाकर शिवजी का शृंगार करना सिखाया। मैं माला गूंथना और बेलपत्ते पर रामनाम लिखना सीख गया। वह कुएं से पानी भरकर देता और मुझसे मंदिर धुलवाता। बाहर की जगत पर झाड़ू भी दिलवाता। वह बतलाता कि देवता की पूजा से बढ़कर है मंदिर की सफाई। उसके सत्संग का मुझ पर सीधा असर पड़ा। मैं सचमुच पुजारी बन गया। अब घर पर भी तराजू के बटखरे पर धमोई और भंटकंटैया के फूल चढ़ाने लगा। लंगोटिया साथियों के संग मिलकर सावन में शिवजी का सोमारी-मेला भी लगता। इस खेल में रामायण की कथा का नाटक भी होता था। जोर-जोर से अर्थ कहा जाता और जय-जयकार होती। चना-चबेना ही प्रसादी की तरह बांटा जाता। मेरी माता लुक-छिपकर देखती और जब हंसती हुई प्रकट हो जाती तब हम लोग लजाकर भाग खड़े होतें। मुझे याद है कि आरा के हाई स्कूल में दाखिल होने पर भी अपने छोटे बहनोई के छोटे भाई के साथ मैं सोमारी-मेले का खेल खेला करता था।

मेरे गांव में रासमंडली वाले हर साल आते थे। उनकी लीलाओं की नकल भी बालमण्डली में होती थी। ये खेल मेरे घर के आंगन या बाहर के चौपाल में ही होतें थे। कभी-कभी दशहरे के लगभग रामलीला मण्डली भी आ जाती थी। जनकपुर के धनुषयज्ञ की रंगभूमि में हम छोटे लड़कों को भी श्रीराम-लक्ष्मण के साथ घूमना पड़ता था। उस समय मैं अपनी बातों से उन लोगों को और दर्शकों को बहुत हंसाता था।

छुटपन में माता मुझे घर से दूर नहीं जाने देती थी। मैं माता से पूछे बिना कहीं जाता न था। वह पुजारी किसान जब मुझे साथ मंदिर ले जाता, मेरी माता से कह देता। माता की इस निगरानी या देख-रेख का नतीजा अच्छा ही हुआ। मैं गांव के खराब लड़कों के संग न पड़ सका। पूजा और कथा के असर से मन में भावों का संस्कार अच्छा हुआ। पिताजी तो बराबर घर पर नहीं रहते थे, पर जब कभी आते थे, हर घड़ी अपने साथ ही रखते थे। उनके न रहने पर दोनों चाचा भी बड़ी कड़ी देखभाल रखते थे।

एक बार मैं लंगोटिया साथियों के साथ चने के खेत में साग खाने चला गया। दुपहरी हो आयी थी। मेरे बड़े चाचा कहीं से उसी राह आ रहे थे। उन्हें देखते ही मैं झड़बेरी की ओट में छिप गया। उन्होंने मुझे झुरमुट की आड़ में देख लिया। पकड़कर चुपचाप घर ले आये। रास्ते में कुछ न कहा। माता के सामने लाकर मुझे अपने ही हाथों अपने कान पकड़कर उठने-बैठने को कहा। माता ने

बीच-बचाव करते हुए उनसे कहा कि तुम भी लड़कपन में पेड़ पर चढ़कर जामुन खाते हुए पकड़े गये थे तो पिटने से मैंने ही बचाया था। मेरी माता ने ही चाचा को पाला-पोसा था। वह कहती थी कि कटोरे में रखी हुई बासी रोटी टेढ़ी हो जाती, तो बेलन से मुझे मारने लगते थे! इस तरह मैं माता के लाड़-प्यार के कारण प्रकृति की हरी-भरी गोद में खूब खेलने का अवसर न पा सका। हां, एक बरसात में लड़कों के बहकावे में पड़कर मैं नदी-तीर निकल गया। वहां खुले मैदान की ऊंची जमीन में चूहों के कुछ बिल थे। गाय के चरवाहे लड़के उन बिलों में पानी उलीच रहे थे। जब भीतर ऊबकर चूहे निकल भागते, तब वे डंडों से मारकर उन्हें वहीं पकाते और खाते। मैंने भी पानी उलीचा। चूहों के साथ भी दौड़ा और मांस भी खाया। किसी ने उधर से आकर मेरे घर खबर दे दी। मेरे छोटे चाचा वहां पहुंच गये। उन्हें आया देख मैं डर गया। पर उन्होंने मारा-पीटा नहीं, बड़े जोर से हाथ पकड़कर बड़ी तेजी से घर की ओर ले आये। संयोग बिगड़ा हुआ था। पिताजी बाहर से आ गये थे और मुझे देर से तलाशते थे। उनको देखते ही मैं सिटपिटा गया। छोटे चाचा ने ही मेरी ओर से काफी वकालत की। पिटने से जान बच गयी, पर दंड यही मिला कि जब तक पिताजी गांव रहे, मुझे घर के अन्दर माता के पास न जाने दिया। मैं कलपकर रह गया।

मेरे गांव के एक लंगड़े गुरुजी लड़कों को पढ़ाते थे। वे गहमर (गाजीपुर) के निवासी कायस्थ थे। उनका नाम भी याद है—तिलकधारी लाल। सूधा आदमी थे। लड़कों को मारते भी और रोने पर गोद चढ़ाकर दुलारते-पुचकारते भी। हर सनीचर को पाठ-पूजा होती थी। सब लड़कों की जगह पर मिट्टी की छोटी वेदी बनी रहती थी। वही वेदी 'पाठ' कहलाती थी। उसी पर सूखे गोबर के जले हुए कंडे की बुकनी पोतकर उजली खली से लिखना पड़ता था। अपनी-अपनी वेदी सब लड़के गाय के गोबर से लीपते। उसके बाद गुरुजी के साथ सब नदी नहाने जाते। तब अच्छत, फूल, गुड़ और गन्ध-धूप से सरस्वती की पूजा होती। भिगोया चावल और गुड़ प्रसाद मिलता। एक-एक पैसा भी सबको चढ़ाना पड़ता। उन दिनों गोरखपुरिया पैसा ही चालू था, जिसे भोजपुरी में 'बुटवलिया' भी कहते थे। मेरा पैसा कई बार नदी में ही गिर गया। एक लड़का बड़ा गहरा पनडुब्बा था। वह नदी की तह से पैसा निकाल लेता था। एक दिन गुरुजी ने ताड़ लिया। सब लड़के उसे लुलुआने लगे। वह गरीब ब्राह्मण-बालक था। जितनी बार जितने लड़कों के पैसे भूले थे, सब जोड़कर गुरुजी ने उस पर जुर्माना किया। मेरे कितने पैसे थे, कुछ याद नहीं। पर मेरी माता ने यह सुना, तो चुपके से जुर्माने के पैसे उसके घर भिजवा दिये। इसका असर यह हुआ कि

नदी में कभी कोई पैसा मिलता, तो वह पहले मेरे पास आकर पूछ लेता कि वह मेरा तो नहीं है। यह बात आज मेरी समझ में आती है कि मनुष्य पर उपकार का प्रभाव जरूर पड़ता है।

गांवों में घर-घर ढेंकी चक्की चलती थी। सभी किसान और गृहस्थ गाय पालते थे। बस्ती से बाहर गोचर-भूमि काफी रहती थी। गांव के उत्तर और पूरब घने जंगल थे, जिसमें कई तरह के जंगली फूल-फल मिलते थे। उनमें जंगली सूअर,, नीलगाय और हिरन भी देखे जाते थे। गांवों में अधिक-से-अधिक दूध आसानी से मिल जाता था। किसी को दूध खरीदने की जरूरत नहीं पड़ती थी।

मेरी दादी धान की बालियों के गुच्छों को चोटी की तरह गूंथकर छप्पर की ओलती में टांग देती थी। उसी तरह मिट्टी की कड़ाही में जल भरकर छींके पर रख लटका देती थी। यह दाना-पानी चिड़ियों के लिए था। मुझे गोद में लेकर वह घर के पास पीपल की जड़ में जल देने जाया करती थी। पीपल के पास ही ऊंचे टीले पर चींटियों के बिल के पास सत्तू और गुड़ की बुकनी बुरकती थी। आंगन में तुलसी के पौधे के सामने रोज शाम को घी का दीप जलाती थी। घी के अभाव में वह तिल के तेल से भी काम लेती थी। दादी के प्यार का सुख अधिक समय तक नसीब न हुआ, पर वह आज भी उसके स्नेह की अनुभूति से मन को भर देता है।

मेरी माता भी मेरे बचपन का सुख अधिक दिन नहीं पा सकी। पर जितने दिन भी उसके प्यार-दुलार का सुख मिला, वही इतना अधिक था कि आज तक उससे हृदय भरा हुआ है। हर घड़ी उसके स्नेह की स्मृति बनी रहती है। सचमुच संसार में माता के ऋण से कभी किसी का उद्धार नहीं हो सकता। थोड़ी ही अवधि में मिला सही, माता के स्नेह का सुख जीवन भर के लिए मन-भरन कलेवा है। आज भी यही बात ध्यान में बसी हुई है कि जीवन में जो शुभ और सुन्दर मिला है, वह माता-पिता के पुण्य का ही प्रभाव है।

अपनी माता को मैंने प्रातःकाल से संध्या तक काम-काज करते देखा था। दूध-दही और अचार के घर (भंडार) को वह प्रतिदिन गोबर से लीपती-पोतती थी। यह काम वह अपने ही हाथों रोज करती थी। चावल-दाल अमनिया करना आंगन और ओसारा बार-बार बुहारना, बाहर निकलने के दरवाजे और भंडारघर में रोज शाम को अपने ही हाथों दीपक जलाना, पालतू कुत्ते को दोनों समय मिट्टी के पात्र में भोजन देना, दोनों ही समय खुद तौलकर रसोईघर में सीधा (अन्न) देना, सबके खा चुकने के बाद स्वयं भोजन करना—यह उसका नित्य नियम था। घर-भर के लोगों के पुराने कपड़े धोबी से धुलवाकर अपने पास रखती

जाती थी। समय पाकर मरम्मत करके काम में लाती थी। पिताजी जो नये कपड़े देते और जाड़े में नयी रजाई बनवाते उन्हें वह गांव की बूढ़ी ब्राह्मणियों को दे डालती थी। पुराने धुले कपड़ों की सिली सुजनी खुद ओढ़ती थी। सुजनी बहुत सुन्दर बनाती थी। उस पर बेलबूटे भी काढ़ती थी। सींक की चंगेली और डलिया में भी लाल-हरे रंग के चित्र बनाती थी। विशेष रूप से अतिथि के सत्कार में उसकी सच्ची लगन थी। अतिथि का आना सुनते ही वह उसकी सेवा की तैयारी में तत्पर हो जाती थी। जरूरत पड़ने पर इस काम के लिए अपना गहना भी बंधक रखकर स्वागत के सामान मंगा लेती थी।

माता के स्वभाव से पिताजी बहुत प्रसन्न रहते थे। वे उसे दान-पुण्य में हमेशा उत्साहित करते रहते थे। कहा करते थे कि बाल-बच्चेवालों को दीन-दुखियों पर हरदम खयाल रखना चाहिए। वे स्वयं भी परोपकार करने में अपनी औकात या हैसियत का खयाल नहीं रखते थे। उनके ऐसे कामों में माताजी का सहयोग भरपूर रहता था। मेरे दोनों चाचा भी उनके सभी कामों में दिल-जान से शामिल रहते थे। वैसे भाई और दम्पति अब बहुत कम नजर आते हैं। ईश्वर की कृपा से ही परिवार में आपस का प्रेम निबहता है।

मैं जब लगभग सात-आठ साल का था तभी पिताजी ने मुझसे घर छुड़ा दिया। मैं अपनी छोटी फूफी के यहां भेज दिया गया। वह मेरे पिता की सबसे छोटी बहन थी। उस पर पिताजी का इतना अधिक स्नेह था कि उससे बहन के बदले बेटी का नाता निबाहते थे। वह भी उनको बड़ा भाई के बदले बाप ही मानती थी। उनके मरने की खबर पाकर वह भी मौत के मुंह में समा गई। उसके पति—मेरे फूफा—अंगरेजी पढ़े हुए थे। उन्हीं से अंगरेजी सीखने के लिए मैं घर से अलग किया गया। फूफी के नेह-छोह में घर बिसर गया। पर माता का हृदय बराबर बेचैन ही रहा। वह हमेशा कोई-न-कोई खाने की चीज मेरे लिए भेजती ही रहती थी। उसकी सौगात देखकर फूफा बहुत हंसी करते थे; क्योंकि वह पकवानों के साथ मकई और चने के सत्तू का—चीनी मिला—घेवर भी भेजा करती थी, जो मुझे बहुत रुचता था। उनकी हंसी पर फूफी कह देती थी—महतारी का कलेजा मर्द कैसे पहचानेगा ?

फूफा की छोटी बहन अंधी थी, विधवा भी। फूफा-फूफी को उसकी सेवार करते देख मैं भी उसकी सेवा करने लग गया। वह भी मुझे हथेली का फूल बनाये रहती थी। उसी की गोद में रात बीतती थी। वह कहा करती थी कि मुझे पाक वह अपनी आंखें पा गई। रोज रात में सोते समय वह मेरी देह में तेल की मालिश करती थी। उसी समय कहानी भी कहती जाती थी। उसके लाड़-प्यार ने फूफी और माता के लाड़-प्यार से भी बाजी लगाई। उसका हाथ पकड़कर मैं उसे इधर-

उधर ले जाता था। मेरे आसरे वह बैठी रहती थी। अपनी माता और फूफी की भी उतनी सेवा उस समय तक मैंने नहीं की थी। उसे पानी और भोजन की थाली भी मैं ही हठ करके पहुंचाता। आजकल की कोई भी भाभी अपनी अंधी बेवा ननद की वैसी सेवा न करेगी जैसी उसकी सेवा फूफी करती रही। मैंने अंधी फूफी को सेवा का सारा बोझ अपने ऊपर ले लिया। सेवा में आनन्द पाने की शिक्षा वहीं पहले-पहल मिली थी। उस समय तक माता और फूफी ने तो कभी अपनी सेवा करने का मौका ही नहीं दिया था। परन्तु किसी पिछले जन्म की वह अंधी माता मुझसे अपनी सेवा कराने और खुद मेरी सेवा करने में बहुत सुख पाती थी। उसी अंधी देवी की गोद, मुझे सेवा का पहला पाठ पढ़ाने के लिए पाठशाला बनी। आज भी गुरुजनों की सेवा में सुख पाता हूं।

फूफा से मैंने अंगरेजी की पहली किताब (फर्स्ट बुक) पढ़ी और उनके बूढ़े पिता से उर्दू की पहली किताब—उर्दू-आमोज। पिताजी वहां जब-तब आया ही करते थे। वे मुझे तुलसीदासजी की रामायण की चौपाइयां और उसके दोहे याद कराया करते थे। एक चौपाई याद करके ठीक-ठीक सुना देने पर मुझे एक पैसा देते थे और एक दोहे के लिए दो पैसे। पिताजी चाहते थे कि मुझे कोई रामायण भी पढ़ा दिया करे, पर फूफा का खानदान उर्दू-दां था, इसलिए मेरे बड़े बहनोई मुंशी कालिकाप्रसाद ने मुझे रामायण पढ़ा देने का जिम्मा लिया। पिताजी ने मुझे उनके पास भेज दिया। फूफी और उसकी ननद ने वहां जाने से बहुत रोकना चाहा, कई दिन अन्न-जल तक छोड़ दिया, पर पिताजी मुझे पढ़ाने-लिखाने के मामले में बहुत कठोर थे। वे मेरी माता के आंसुओं की भी चिन्ता नहीं करते थे। होली-दशहरे में भी वे मुझे घर नहीं जाने देते थे। उन्हें आशंका थी कि माता मुझे अधिक दिनों तक घर पर रोक लेगी।

मैं जब चार-पांच वर्ष का था, तभी उन्होंने दादी और माता का संग छुड़ा दिया। जब गांव आते तब अधिकतर अपने ही साथ रखते। किसी बुरे लड़के के साथ खेलने नहीं देते थे। अपने साथ नहलाकर सूर्य-नमस्कार कराते और रामायण के चित्रों को दिखलाकर उनकी कहानी सुनाते थे। उनकी इस कड़ाई का नतीजा अच्छा ही हुआ। जहां कहीं मेरा लाड़-प्यार अधिक देखते थे वहां से मुझे हटा देते थे। वे हरदम यह बात दुहराया करते थे कि अधिक लाड़-प्यार से लड़के बिगड़ जाते हैं। पढ़ने-लिखने के समय उन्होंने कभी दुलार न किया, खाने-पीने में भी नहीं। माता और फूफी को चेतावनी देते रहते थे कि ठीक समय पर ही खिलाया करो। मुझे भी सिखाते रहते थे कि कभी बे-हिसाब मत खाया करो। मेरे पेट का अन्दाज समझकर अपनी थाली से भी मुझे उठा देते थे। मुझे देहाती लड़कों के संग-साथ रहने देना भी उन्हें पसन्द न था। फूफा को भी इस बात में सख्त जानकर ही मुझे उनको सौंपा गया था।

जब मैं अपने बड़े बहनोई की देख-रेख में रहने लगा, तब अंगरेजी की दूसरी किताब (सेकण्ड बुक) पढ़ता रहा। मगर उसके शुरू का कुछ हिस्सा ही पढ़ सका, क्योंकि वहां उर्दू-फारसी के मदरसे में दिन-भर पढ़ता था। रात में थोड़ी देर अंगरेजी पढ़ता था और फिर रामायण भी। मेरे बहनोई के पिता भी रामायण के बड़े प्रेमी थे। उन दिनों वहां काशी-नरेश के बनवाये हुए महाभारत की भारी-भरकम पोथी रोज पढ़ी-सुनी जाती थी। उस महाभारत के भीष्म-पर्व से मेरे बहनोई ने भगवत्-गीता की नकल की थी।[1] मेरे बहनोई ने एक दूसरे छपे हुए सचित्र ग्रंथ की भी नकल की थी। यह ग्रंथ अयोध्या-नरेश का प्रकाशित किया हुआ 'रस-कुसुमाकर'[2] था। उसके चित्रों को मुझे दिखलाकर मेरे बहनोई उनका भाव समझाया करते थे। वह ग्रंथ खरीदने से कहीं मिलता न था, इसलिए उन्होंने अक्षर-अक्षर उनकी नकल कर डाली।

महाभारत की कथाओं में भी मेरा मन खूब लगता था। कई कथाओं को उसी बड़े पोथे से मैंने एक कापी में उतारा था। वह कापी भी आज तक मेरे पुस्तकालय में है। मेरे बचपन के लिखे अक्षर उसी कापी में हैं। इस तरह हिन्दी-साहित्य का प्रेम, बचपन में मुझे अपने बड़े बहनोई से ही मिला। वे ब्रजभाषा की कविता के बड़े रसिक थे। उन्होंने 'रस-कुसुमाकर' से कई कवित्त-सवैये मुझे याद करा दिये थे। हिन्दी के पुराने कवियों के सम्बन्ध में बहुत-सी बातें वे सुनाया करते थे। उनके गुरु पंडित धनञ्जय पाठक[3] संस्कृत और ब्रजभाषा के अच्छे

---

१. यह सुन्दर अक्षरों में लिखी भगवत्-गीता अभी तक मेरे बड़े बहनोई के पुस्तकालय में सुरक्षित है।

२. 'रस-कुसुमाकर' की यह हस्तलिखित प्रति अब बिहार-राष्ट्रभाषा परिषद् (पटना) के प्राचीन-ग्रन्थ-शोध-विभाग में सुरक्षित है।

३. 'बाबू कुंअरसिंह की राजधानी 'जगदीशपुर' से दो कोस दक्खिन-पच्छिम 'बम्हवार' गांव है, जहां मैं बचपन में अपने बड़े बहनोई के घर रहकर मदरसे में उर्दू-फारसी पढ़ता था। उन्हीं दिनों उस गांव में एक ब्राह्मण (जगपति चौबे) लड़कों को बाबू साहब की कहानियां सुनाया करते थे। उस समय वे नब्बे वर्ष के अत्यन्त वृद्ध थे। वे बाबू साहब के दरबार में नौकरी कर चुके थे और अपनी आंखों-देखी बातें कहा करते थे। उनके पुत्र देशपति चौबे भी, जो सत्तर वर्ष की आयु में मरे, बहुत-सी बातें सुनाया करते थे; क्योंकि दिलीपपुर दरबार में वे अनेक वर्ष रह चुके थे। दिलीपपुर-दरबार के सभा-पंडित श्री धनंजय पाठक से भी, जो मेरे बड़े बहनोई के गुरु थे, मैंने बाबू साहब के कविता-प्रेम की बहुत-सी बातें सुनी थीं।'

विद्वान थे। पाठकजी के पास उनके साथ मैं बराबर जाया करता था। इसी सत्संग में साहित्य का प्रेम पैदा हुआ।

मकतब में पढ़ानेवाले मौलवी साहब भी मुझ पर बड़े मेहरबान थे। 'करीमा', 'खालिकबारी', 'आमदनामा' और 'गुलिस्तां' उन्होंने शुरू कराया। फारसी की इन किताबों को दिन-भर घोखते रहना पड़ता था। वे मानी मतलब भी बतलाते थे, मगर उसको भी तोते की तरह रटना ही पड़ता था। बीच-बीच में तख्ती-लिखाई जाती थी। अक्षर सुन्दर न होने पर खजूर की छड़ी से हथेली और पीठ की पूजा होती थी।

किताबों को रटकर याद कर लेना बड़ा कठिन था। मगर मौलवी साहब की छड़ी उस कठिन को भी सरल बना देती थी। उसी घड़ी ने अदब-लिहाज भी सिखाया और उसी छड़ी के प्रताप से लिखावट में भी सुघरायी आयी। देवनागरी अक्षर लिखने का अभ्यास भी काठ की पट्टी पर ही कराया जाता था।

मेरे बहनोई जब उस बड़ी पोथी की नकल करने बैठते थे, तब मैं भी उनके पास ही बैठकर उनके सुडौल अक्षरों की देखा-देखी अपनी कापी पर महाभारत के छन्दों को उतारता था। मेरे पिताजी की तरह उनके पिताजी भी सुन्दर अक्षरों की लिखावट पर बहुत ध्यान देते थे।

मेरे पिताजी जब मेरी फूफी के यहां आते थे तब शब्दों के उच्चारण की परीक्षा लेते थे और कॉपी पर देवताओं के नाम लिखवाते थे। कभी-कभी तुलसीदासजी की खूब सरल चौपाई लिखवाते, भूल करने पर भी कभी डांटते या मारते न थे, बल्कि बड़े प्यार से मीठी-मीठी बातें कहकर सही बात बतला देते थे। बहुत बचपन में कालिख से पुती हुई मिट्टी की छोटी बेदी (पाठ) पर उजली खली से सुन्दर अक्षर रचे गये थे और अब काठ की छोटी तख्ती (पाटी) पर कील की कलम और चावल की बनी रोशनाई से सुन्दर अक्षर संवारे जाते थे। उन दिनों सुघर लिखावट पर बहुत अधिक ध्यान दिया जाता था। पढ़ाई से लिखाई पर कम सख्ती न थी। अच्छे अक्षरों की बनावट पर बूढ़े बहुत खयाल रखते थे। मैंने अपने गुरुजनों से इसके लिए कई बार इनाम पाये थे।

मेरे बहनोई के यहां साप्ताहिक 'हिन्दी-बंगवासी' कलकत्ता से आया करता था और उर्दू का 'पैसा अखबार' लाहौर से। उनके पिता मुझसे दोनों पढ़वाकर सुनते थे। टटोलकर दस-बीस पांती मैं पढ़ सुनाता था। इसके लिए भी मिठाई की बंधेज थी। गलत-सही के लिए माफी थी। सिर्फ पढ़कर सुनाना ही काफी था। शक्कर का लड्डू या बताशा उसी छन मिल जाता था।

उन पुराने लोगों के प्यार की मिसाल भी अब कहीं नहीं मिलती। उसी समय अखबार पढ़ने का चसका लगा। हाई स्कूल में जाने पर भी यह लगन लगी

रही। बीज कहां कब कैसे बोया गया और कहां कब कैसे पनपकर फूला-फला, यह सोचने पर समय की महिमा और ईश्वर की विचित्र लीला का ध्यान हो आता है।

जहां तक मुझे याद है, सन् १९०३ ई० की जनवरी में, 'आरा' नगर के एक हाईस्कूल (कायस्थ जुबली एकेडमी) के सातवें दर्जे में मेरा नाम पहले-पहल लिखाया गया। पूज्य पिताजी की इच्छा थी कि मैं हिन्दी पढ़ूं, पर मेरी इच्छा उर्दू-फारसी पढ़ने की ही हुई, इसलिए पिताजी भी राजी हो गये। वे भी फारसी ही पढ़े हुए थे और उर्दू में दस्तावेज का मजमून लिखने में मुंशी माने जाते थे।

उस समय सातवें दर्जे में सिर्फ उर्दू ही पढ़ाई जाती थी, चौथे दर्जे से पढ़ाई फारसी से शुरू होती थी। उन दिनों आज का मैट्रिक क्लास, आखिरी दर्जा होने पर भी, पहला दर्जा (फर्स्ट या इण्ट्रेंस क्लास) कहलाता था और हाईस्कूल की पढ़ाई आठवें दर्जे से शुरू होती थी, जो सबसे नीचे का दर्जा था। आठवें से पहले दर्जे तक आठ वर्ष समय लगता था। हाईस्कूल में नाम लिखाने के समय मेरी उम्र दस साल की थी, पर शायद छः-सात साल की ही लिखाई गई थी, जिसका नतीजा यह हुआ कि इण्ट्रेंस क्लास के सालाना इम्तहान (टेस्ट) में पास होने पर भी, चौदह साल का होने के कारण, मैं विश्वविद्यालय परीक्षा के लिए चुना नहीं गया—'सेण्ट अप' नहीं हुआ। उन दिनों यह नियम था कि सोलह वर्ष से कम का बालक विश्वविद्यालय परीक्षा में नहीं बैठ सकता। हां, उर्दू पढ़ने के लिए मेरे हठ करने का कारण यह था कि जहां मैं पिताजी के साथ रहता था वहां अनेक विद्यार्थी थे, और सब-के-सब उर्दू-फारसी ही पढ़ते थे। वे ही मेरे असली सलाहकार थे। मैं भी उस समय तक मौलवी साहब के देहाती मदरसे में थोड़ी-बहुत उर्दू-फारसी पढ़ ही चुका था। वहां ऊंचे दर्जे के विद्यार्थियों को अरबी पढ़ते देख, बचपन के कुतूहली स्वभाव के कारण उनके विचित्र उच्चारणों का मुझ पर बड़ा असर हुआ। मैं उनके भारी-भरकम उच्चारणों को दुहरा-तिहरा कर कौतुक किया करता था। उनको पढ़ाने के लिए जो मौलवी आते थे, वे भी मुझे उर्दू ही पढ़ने की राय देते थे, बल्कि वे रोज ही मेरी उर्दू-लिखावट की तारीफ करते हुए मेरे पिताजी से कहा करते थे कि यह लड़का मदरसे में फारसी भी पढ़ चुका है—इसलिए शुरू से ही यह उर्दू में बहुत अच्छा निकलेगा। तब भी पिताजी मुझे हिन्दी ही पढ़ाना चाहते थे। वे खुद भी फारसी के अच्छे जानकार थे। उर्दू के तो मुंशी ही थे, पढ़ाते समय मौलवियों को भी टोक देते थे। मगर वे तुलसीदासजी की रामायण के बड़े भक्त थे और मुझे समझाया करते थे कि जबान दुरुस्त करने भर उर्दू-फारसी पढ़ ही चुके, अब हिन्दी पढ़ो कि अपने पुरखों के गुण और देश की महिमा का ज्ञान हो।

शुरू में तो मेरी ही इच्छा को उन्होंने मान लिया, लेकिन अन्त में उनकी ही इच्छा सफल होकर रही, क्योंकि इण्ट्रेंस में पहुंचते ही, हिन्दी पढ़नेवाले अपने कुछ साथियों की सलाह से, मैंने एकाएक हिन्दी पढ़ना शुरू कर दिया। उर्दू-फारसी में वराबर मैं अच्छे नम्बर से पास होता आ रहा था, मगर संग-साथ का असर सचमुच बड़ा जबरदस्त होता है। शुरू के सभी साथी उर्दू वाले थे, इसलिए बालमंडली में उर्दू का ही प्रस्ताव पास हो गया। लेकिन ऊपर के क्लासों में हिन्दीवाले साथियों में ही हिल-मिल गया, इसलिए पिताजी की इच्छा का संस्कार बलवान हो उठा।

पिताजी सन् १९०६ ई० में ही स्वर्गवासी हो चुके थे, इसलिए वे अपनी इच्छा पूरी होते नहीं देख सके। किन्तु उनकी आत्मा शायद स्वर्ग में असीसती रही, इसलिए उर्दू-फारसी का विद्यार्थी होने पर भी मैं हर एक परीक्षा में हिन्दी में भी पास होता चला आया। हिन्दी परीक्षा में पास होते जाने का मुख्य कारण यह हुआ कि उन्होंने मुझे तुलसीकृत रामायण का पाठ करना सिखा दिया था। छुटपन से ही मैं उनकी आज्ञा से दोहे-चौपाइयां याद करके उन्हें सुनाया करता था। जनकपुर की सभा में लक्ष्मण और परशुराम की बातचीत, लंका की सभा में रावण और अंगद की बातचीत तथा लक्ष्मण और मेघनाद की लड़ाई की कहानी सुनाने के लिए मैं उन्हें प्रायः बहुत तंग किया करता था। हर दफा वे यही तीन कहानियां मुझे सुनाते थे, क्योंकि मैं और कोई कहानी उस समय पसन्द नहीं करता था। बाद में फिर उन्होंने रोज सुबह नहा-धोकर रामायण का पाठ करने की आदत लगा दी। पाठ का वह अभ्यास अब तक है, मगर उस समय उस नित्य पाठ के अभ्यास का बहुत बड़ा प्रभाव मेरे चाल-चलन पर पड़ा।

उन दिनों देश में हलचल मचानेवाला कोई आन्दोलन नहीं था। वैसा खलबली मचानेवाला कोई अखबार भी न था। उन दिनों का विहार इन सनसनीदार चीजों से अछूता था। देशी-विदेशी भाषा में जो दो-चार अखबार थे उनको गिने-चुने आदमी ही पढ़ते थे। कोई नेता भी ऐसा प्रसिद्ध नहीं था जिसका नाम सब लोग जानते हों। विद्यार्थी सजग और सचेत नहीं थे। उनका कोई संगठन नहीं था। किन्तु बंगाली विद्यार्थियों का दल हर जगह स्वदेशी-आन्दोलन की सभा करता था। केवल स्कूलों में सरस्वती-पूजा भी उन्हीं की ओर से होती थी। हिन्दी का भी बोलबाला आज-जैसा नहीं था। हर जगह अंगरेजी की ही तूती बोलती थी। विहार के स्कूलों में आधे से भी अधिक शिक्षक बंगाली विद्वान् ही थे। सौ में नब्बे-पंचानबे लड़के उर्दू-फारसी पढ़नेवाले थे। इसलिए क्लास के कमरे में मौलवी साहब के आते ही दो-चार हिन्दी-छात्र पंडितजी के पास चले जाते थे। पंडितजी कहीं बरामदे के कोने या किसी छोटे मामूली कमरे

में अकेले बैठे रहकर पढ़ाया करते थे। हिन्दी के विद्यार्थी बहुत सीधे-सादे होते थे। मौलवी साहब प्राय: कहा करते थे कि जो ठेठ देहाती गंवार और उजबक हैं वे ही हिन्दी पढ़ते हैं।

विद्यार्थियों को ऊंचे दर्जे में भी शारीरिक दण्ड दिया जाता था। मेरे हेडमास्टर हरेक विद्यार्थी के चाल-चलन पर हमेशा कड़ी निगाह रखते थे। खराब चाल-चलन के कारण करीब-करीब हर हफ्ते दो-चार बार बेंतबाजी होती थी। हेडमास्टर खुद बेंत मारते थे। बेंतों की कोई गिनती नहीं हो सकती थी। देह पर नीली साटें उखड़ आती थीं सयाने लड़कों की तो दुर्गति हो जाती थी। बदचलन लड़कों के लिए हेडमास्टर यमराज से कम न थे। उनकी कड़ाई और पढ़ाई सारे शहर में मशहूर थी। बहुत अच्छा पढ़ाते और बड़ी बेदर्दी से मारते-पीटते थे। उनका नाम श्रीशिवानाथ गुप्त था। वे बंगाली थे। हिन्दी के प्रसिद्ध लेखक पंडित ईश्वरीप्रसाद शर्मा के बड़े भाई पंडित गुरुदेवप्रसाद शर्मा भी मेरे ही स्कूल में मास्टर थे। वे भी बदमाशों के काल कहे जाते थे। उनसे भी लड़के थर्राते थे। बेंतबाजी में वे भी बड़ी सख्ती करते थे। हेडमास्टर की तरह ही वे भी एक आदर्श शिक्षक माने जाते थे। इन दोनों का पढ़ाने का तरीका इतना अच्छा था कि विद्यार्थी इनके भक्त बने रहते थे। ये दोनों ही बहुत सुन्दर अक्षर लिखते थे। खराब अक्षर लिखनेवाले लड़के इनसे जरूर दण्ड पाते थे। शारीरिक दण्ड की कठोरता से आतंक छाया रहता था। मास्टरों से गुस्ताखी करने की हिम्मत लड़कों में नहीं थी। किन्तु अच्छे स्वभाव के पढ़ाकू लड़कों को प्यार और पुरस्कार भी काफी मिलता था। सुशील और परिश्रमी लड़कों की पहुंच हेडमास्टर तक बेधड़क होती थी। बड़े-बड़े बिगड़ैल भी स्कूल में भीगी बिल्ली बने रहते थे। गुरु में चेलों की श्रद्धा हृदय से थी, केवल डर से नहीं। कारण, आदर्श-चरित्र शिक्षकों की संख्या ही अधिक थी।

मेरे माता-पिता ने बहुत नन्हेपन से मुझे बराबर सुचाल की शिक्षा दी। अदब-लिहाज सिखाने में भी उन्होंने कभी कोताही नहीं की। अपने खिलाड़ी साथियों के साथ जब मैं माता के पास कुछ खाने को मांगने पहुंचता तब वह गांव के उन बच्चों को भी मेरे हिस्से में से बांटकर देती थी। स्कूल के कुछ साथी जब मेरे साथ आते थे तब पिताजी उनको भी मिठाइयां बांटते थे। सस्ती के वे दिन तो लद गये! लेकिन उन्होंने कभी मुझे किसी के साथ खाने नहीं दिया। स्कूल में पानी पिलाने-वाले नौकर को पैसा और परबी इनाम दिया करते थे कि हरदम गिलास मांजकर मुझे पानी पिलाया करे। कभी बाहर जाते तो घर के नौकर और रसोइया को सब बातों की ताकीद कर जाते। लौट आने पर रोज-रोज का सारा हाल पूछते। कभी-कभी स्कूल में भी जाकर मेरे मास्टरों से कह आते थे—खराब लड़कों के

साथ मत खेलने दीजिए। हमेशा बड़ों का आदर करना, दांतों को साफ रखना, नाक में उंगली न डालना, रोज सवेरे उठकर बड़ों को प्रणाम करना, चौके में खाने से पहले हाथ-मुंह धो लेना, मुंह से कभी किसी के लिए गाली न निकालना, अपनी कॉपी और किताब को साफ जगह में सरियाकर रखना, कभी किसी के डर से झूठ न बोलना, इसी तरह की और भी बहुत-सी बातें बतलाते रहते थे। छोटी-से-छोटी बात भी कड़ी चेतावनी के साथ सिखलाते थे। उनके उपदेशों ने मुझे बहुत संभाला। पग-पग पर शिष्टता की सीख उन्हीं से मिली। अनुशासन पर उनका बहुत ध्यान रहता था। जिन्दगी की नींव वे ही जमा गये।

उन दिनों बिहारी छात्रों की एक सभा थी, जिसका एक वार्षिक अधिवेशन आरा नगर के जिला-स्कूल में हुआ था। उसी में पहले-पहल मैंने डॉक्टर सच्चिदानन्द सिन्हा को देखा था। उसमें सबके भाषण अंगरेजी में ही होते थे। प्रसिद्ध बैरिस्टर हसन इमाम साहब और सिन्हा साहब को उसी में पहले-पहल अंगरेजी बोलते सुना था।

जब स्कूल में नाम लिखाया गया तब मैं अपनी दूसरी बड़ी बहन के साथ रहकर पढ़ने लगा। मेरे छोटे बहनोई भगवानजी सहाय के पिता श्रीगोपालजी सहाय मेरे अभिभावक थे। छोटे बहनोई के छोटे भाई गजाधर प्रसाद मेरे दिन-रात के साथी और प्रिय मित्र थे। रसोइया बाबाजी के साथ हम दोनों को प्रति रविवार की शाम को बाजार जाकर खाने का सामान खरीद लाना पड़ता था। हम दोनों हाईस्कूल के सातवें दर्जे में पढ़ते थे।

मुझे याद है कि उस समय बढ़िया भुजिया चावल एक रुपये का पक्का चार पसेरी मिलता था। अरहर की अच्छी दाल का भाव पक्का दो पसेरी था। पक्का एक सेर आलू एक आने में और दो पैसे में फूलगोभी की एक गांठ। दूसरी चीजों की बिक्री की दर याद नहीं; पर एक देहाती ग्वाला ढाई रुपये सेर शुद्ध घी बराबर दे जाया करता था। सुबह में घर पर और दोपहर को स्कूल में नाश्ते के लिए एक-एक आना पैसा रोज मिलता था। एक आने में चार कचौड़ियां और चार जलेबियां मिलती थीं—अर्थात् एक पैसे में दो-दो। उन दिनों आटा पीसने वाली कल शहर में भी कहीं नहीं थी, सर्वत्र घरेलू चक्की का आटा ही मिलता था और नकली या मिलावटी घी का नाम तो सपने में भी नहीं सुन पड़ता था। लड़कों के लिए धोती दस आने में और सयानों के लिए एक रुपये में अच्छी मिल जाती थी। उस समय सभी खुशहाल दीख पड़ते थे। उससे भी पहले के बीते समय की चर्चा सुनकर बड़ा आश्चर्य और आनन्द होता था।

यहां एक बहुत पुरानी बात का उल्लेख मनोरंजक होगा। सन् १९०८ की घटना है। आरा नगर में महादेव नामक एक अधेड़ हलवाई रोज मिठाइयों की

प्रभातफेरी करता था। हम विद्यार्थियों का वह मिठाई का मोदी था। वह अपनी बोली में स्वयं भजन बनाकर गाता था। उसके पास अपनी बिक्री बढ़ाने का यही एक आकर्षक साधन था। उसका बनाया और लिखवाया हुआ एक भजन हमारे पुराने संग्रह में मिला है—

सिव जोगी होके बइठे जंगलवा में।
भसम बघम्बर सांप लपेटे,
बइठे बरफ के बंगलवा में ।।सिव०।।
अपने त ओढ़ेले हाथी के छलवा
जगदम्मा सोहेली दुसलवा में ।।सिव०।।
आगे गजानन खड़ानन खेलसु,
गौरी बिराजस बगलवा में ।।सिव०।।
माता के नेह बाटे सिंघवा खातिर,
बाबा मन वसेला बएलवा में ।।सिव०।।
लड्डू आ पेड़ा से थार भरल वा,
भांग भरल वा गंगलवा में ।।सिव०।।
जे सुमिरे नित भोला बवा के,
मगन रहे ऊ मंगलवा में ।।सिव०।।
जे केहु रोज चढ़ाई बेलपतिया,
गिनती ना होई कंगलवा में ।।सिव०।।
सिवजी के छोह बड़ा बरियारा,
पाप के पछारे दंगलवा में ।।सिव०।।

ऐसे-ऐसे बहुतेरे भजन उसने बनाये थे। उस समय हमें देशी बोली की कविता के महत्त्व का कुछ ज्ञान नहीं था। यह भजन तो शिव-भक्ति की प्रेरणा से लिख लिया था। यदि उस समय हम लोकभाषा का थोड़ा भी महत्त्व जानते होते तो अपने गांव के स्वर्गीय अम्बिका अहीर के बनाये हुए जोशीले बिरहों को भी लिख लेते, जिन्हें वह डुग्गी बजाकर अपनी जवानी के ओजस्वी कण्ठ से गाता था। उन बिरहों में 'लंका-दहन' और 'मेघनाद की लड़ाई' का ऐसा सजीव वर्णन था कि सुनकर शरीर कंटकित हो उठता था। आज भी देहातों में कहीं-कहीं ऐसे लोग मौजूद हैं, जो होली में स्वयं 'कबीर' और 'जोगीड़ा' बनाकर गाते हैं।

उस युग के स्त्री-पुरुष बड़े बलवान और समर्थ होते थे। रोगी मनुष्य बहुत ही कम देखने में आते थे। वैद्यों और हकीमों के सिवा विदेशी दवा करनेवाले डॉक्टर शहर में भी इने-गिने थे। अधिकतर लोग देशी दवा का ही व्यवहार करते थे।

चोरी की ख़बर कहीं-कहीं सुनने में आती थी। डकैती तो शायद ही कभी कहीं सुन पड़ती थी। तिलक-दहेज का बाजार भी गरम न था। रेलगाड़ियों में भीड़ नहीं होती थी। डाकगाड़ी के सिवा केवल मुसाफिरगाड़ी चलती थी। आरा नगर से सासाराम नगर तक डाक ढोनेवाली ऊंटगाड़ी मेरे स्कूल के अहाते में ही रहती थी। गाड़ीवान एक पैसा लेकर हम लड़कों को गाड़ी पर चढ़ाकर अहाते में ही घुमा देता था। शहर में भी मोटर का नाम-निशान नहीं था। केवल धनी-मानी रईसों की लैंडो गाड़ियां बड़ी शान से निकलती थीं, जिनमें दो सुन्दर घोड़े एक ही रंग-रूप के जुते होते थे। बड़े-बड़े वकील-मुख्तार फिटन या बग्घी पर कचहरी जाते थे। अंगरेज कलक्टर और जज भी साइकिल पर ऑफिस में आते थे।

आह, कैसे थे बचपन के वे दिन!

२

वे दिन : वे लोग

आरा : १९०३—

•

जिस के० जे० एकेडमी में शिवपूजनसहाय १९०३ में पांचवें दर्जे में दाखिल हुए थे, लगभग एक दशक बाद उसी स्कूल में वे हिंदी अध्यायक पद पर नियुक्त हुए। इस बीच १९०६ में पिता का देहान्त हुआ, १९०७ में पहली शादी हुई और उस पत्नी की प्लेग से मृत्यु हो जाने के कारण १९०८ में दूसरा विवाह हुआ। कई कारणों से, १९१३ में मैट्रिक परीक्षा पास कर सके और कुछ दिनों के लिए बनारस की कचहरी में नकलनवीसी की। १९१४ में अध्यापन प्रारम्भ किया तथा उसी वर्ष आरा नागरी प्रचारिणी सभा की साहित्यिक मंडली के साथ अ० भा० हिंदी साहित्य सम्मेलन के पांचवें अधिवेशन में लखनऊ गये, जहां पं० बदरीनाथ भट्ट, पं० माधव शुक्ल, पं० जगन्नाथ प्रसाद चतुर्वेदी, पं० अमृतलाल चक्रवर्त्ती, बाबू श्यामसुन्दर दास आदि से प्रथम संपर्क हुआ। लखनऊ से अयोध्या होते हुए आरा वापस हुए। फिर अगले वर्ष प्रयाग वाले छठे अधिवेशन में भी सम्मिलित हुए। १९१६ में विशूचिका से माता का देहान्त हुआ। अगले वर्ष आरा टाउन स्कूल में हिंदी शिक्षक नियुक्त हुए, आरा सेवा समिति के संयुक्त मंत्री बने, आरा नागरी प्रचारिणी सभा के सहकारी मंत्री रहे। इसी वर्ष अपने साहित्य-गुरु पं० ईश्वरीप्रसाद शर्मा के बुलावे पर आगरा गये, वहां से कांग्रेस अधिवेशन (१९१८) में भाग लेने दिल्ली चले गये जहां श्री गणेशशंकर विद्यार्थी से

पहली भेंट हुई । वहां से वापसी से मथुरा-वृन्दावन होते आगरा लौटे और फिर आरा आये । इसी बीच दो वर्षों तक 'ग्रंथमाला कार्यालय', पटना के अधिष्ठाता एवं प्रसिद्ध विद्वान् लेखक पं० रामदहिन मिश्रजी के साथ स्कूली पुस्तकों का संकलन-संपादन किया। आरा में बीते इन दो दशकों में ही शिवपूजन सहाय के साहित्यिक जीवन की नींव पड़ी । इस कालखंड के संस्मरण प्रारम्भ होते हैं वंग-भंग के आंदोलन के साथ।

●

पं० दीनदयालु शर्मा

बंग-भंग के स्वदेशी-आंदोलन का युग था—सन् १९०५ ई०, जब मैं दस-बारह वर्ष का छात्र था, बिहार-प्रान्त के आरा नगर में। उन दिनों आर्यसमाज और सनातनधर्म का घोर संघर्ष चल रहा था । दोनों की ओर से प्रत्येक छोटे-बड़े नगर में सभाएं होती थीं, बड़े-बड़े धुरन्धर विद्वान वक्ताओं के भाषण होते थे, एक-से-एक दिग्गज पंडितों के शास्त्रार्थ होते थे, दोनों ओर की स्पर्धा में आवेश की मात्रा पर्याप्त रहती थी ।

शहर में सरगर्मी और सनसनी देख हम छात्र भी उन सभाओं में जाते थे। कुतूहली छात्रों की उत्सुकता देख दोनों दलों के लोग अपनी सभा में उन्हें सबसे आगे स्थान देते थे, यहां तक कि सयाने विद्यार्थी उन छात्रों की नाम-सूची लिखने में लगे रहते थे, जो आर्यसमाजी या सनातनी बनने को तैयार होते थे। उस हलचल में धर्म का तात्पर्य समझने की मनोवृत्ति भी नहीं थी, प्रवृत्ति कहां से होती !

मैं अपने पूज्य पिताजी के साथ सनातन धर्म सभाओं में जाया करता था। वे स्वयं बड़े अच्छे रामायणी थे और सभाओं में हुए धार्मिक भाषणों को बड़े ध्यान से आद्यन्त सुनते थे। उन्होंने ऐसा चसका लगा दिया कि एक साल बाद उनके साकेतवासी हो जाने पर भी मैं सनातनधर्मी विद्वानों के व्याख्यान सुनने के लिए सभाओं में सोत्साह जाता रहा । ये सभाएं हर साल होती थीं और लगभग दस वर्षों तक बराबर प्रायः जाड़े में होती रहीं ।

सनातन धर्म की सभाओं में जो विद्वान वक्ता आते थे उनमें व्याख्यान-वाचस्पति पंडित दीनदयालु शर्माजी विशेष प्रसिद्ध और लोकप्रिय थे । लम्बा तगड़ा शरीर, लम्बा अंगरखा, सिर पर पगड़ी, गले से लटकता दुपट्टा, ओजस्विनी वाणी, ललकार से भरी चुनौतियां, दिल-दिमाग को झकझोरने वाला भाषण— सब कुछ प्रभावशाली और आकर्षक ! जनता उमड़ पड़ती थी । श्रोता दत्तचित्त हो सुनते । तालियों की गड़गड़ाहट घनी हो जाती ।

वह ध्वनि-विस्तारक यंत्र का युग नहीं था, पर जान पड़ता कि शर्माजी जन-जन के कानों के पास ही दहाड़ रहे हैं। सचमुच वे सभाओं में दहाड़ते ही थे। ऐसा प्रतीत होता था कि व्याख्यान-मंच पर कोई पराक्रमी पुरुषसिंह पावस-पयोद की भांति गर्जन-तर्जन कर रहा है। किन्तु वे अन्य वक्ताओं की तरह विपक्षी सम्प्रदाय की केवल खिल्लियां नहीं उड़ाते थे। उनके तर्क-युक्ति-संगत भाषणों को सुनकर प्रतिपक्षी भी प्रभावित हुए विना न रहते थे। वे केवल सनातन धर्म की विशेषताओं को ही सप्रमाण प्रदर्शित करके उसकी महत्ता स्थापित कर दिखाते थे।

खण्डन-मण्डनात्मक भाषण करने वाले धार्मिक व्याख्याताओं की तरह वे अपने साथ प्रामाण्य पोथियों के ढेर भी ढोते नहीं फिरते थे। ग्रन्थ की तो बात ही क्या, एक पत्र-खण्ड भी उनके हाथ में या सामने नहीं रहता था। श्रुति-स्मृतियों के प्रमाण-वाक्य वे मौखिक ही कहते चले जाते थे। श्रोताओं के हृदय-तल पर सनातन धर्म की महिमा की गहरी छाप डालना ही उनके भाषण का मुख्य लक्ष्य रहता था। जब भारतीय सभ्यता-संस्कृति के उत्कर्ष का वर्णन करने लगते थे तो उनकी आंखों से अश्रुधारा प्रवाहित हो चलती थी। श्रोताओं को कभी-कभी पहले ही सावधान करके कह देते थे—'हाथ में रुमाल ले लो, मैं अभी-अभी तुम लोगों को रुलाऊंगा।' वास्तव में किसी प्राचीन भारतीय कथा का कोई कारुणिक प्रसंग कहकर लोगों को रुलाकर ही छोड़ते थे। श्रोतासमाज को पुलकित और द्रवित कर देना उनके बाएं हाथ का खेल था। वैसी शक्तिशालिनी वाणी कभी कहीं कानों में न पड़ी।

उनके भाषण में कई विशेषताएं और भी थीं। उसे देर तक सुनते रहने पर भी मन नहीं ऊबता था। वे अपने भानण के बीच-बीच में मनोरंजक बातें भी सुनाते चलते थे, पर वे बातें भी उनके प्रतिपाद्य विषय से ही सम्बद्ध होती थीं। कोई चुटकुला भी सुनाते तो छिड़े प्रकरण से प्रतिकूल नहीं। एक उदाहरण स्मरण हो आया है—

'एक जंगल में एक बहुत पुराना ठूंठ खड़ा था। बरसात आयी तो एक नयी लता उसके सिर तक चढ़ गयी। उस स्थाणु के मस्तक पर आरुढ़ होने से लता मन ही मन फूली न समाई। अपने यौवन पर इठलाती हुई बड़े अहंकार से बोली—'ऐ ठूठे पेड़! मेरी छवि-छटा तो देखो, मैं तुम्हारी भी शोभा बढ़ा रही हूं। अगर मैं तुम्हारे रूखे-सूखे तन को हरा-भरा न बनाती तो बरसात में भी तुम उकठे काठ ही रह जाते।' यह सुनकर ठूठे पेड़ ने तिरस्कार की हंसी हंसते हुए कहा—'अरी छोकरी! तू चार दिनों की चांदनी पर इतना क्यों इतराती है? दम धर, बीतने दे बरसात, तेरी यह लहलहाती देह सूखकर मेरे चरणतल की धूल बन जाएगी। मैं युगों से इस जंगल में इसी तरह अचल खड़ा हूं और हर साल की बरसात में

तुझ-सी नाजनियां मेरे ऊपर चढ़कर मचलती हैं, न जाने कितनी ही आयीं और गयीं, मैं ज्यों का त्यों हूं।' इसी प्रकार संसार-रूपी जंगल में सनातन धर्म प्राचीनतम स्थाणु के समान है और नये-नये सम्प्रदाय तथा पन्थ बरसाती वल्लरी के समान हैं, जिनका अस्तित्व क्षणिक है।'

बाबू शिवनंदन सहाय

उन दिनों मैं स्कूल में पढ़ता था। आरा की नागरी प्रचारिणी सभा के सार्वजनिक वाचनालय में प्रायः नित्य संध्या समय जाया करता था। चौदह-पंद्रह वर्ष की उम्र थी। मैट्रिक में पहुंच चुका था। रोज देखता था कि एक बहुत बूढ़ा नाटा-सा आदमी नाक पर चश्मा सरकाये बड़े गौर से अखबार पढ़ा करता है। कभी-कभी परिचित लोग बड़े जोर-जोर से उससे बोलते थे, जैसे लोग बहरे आदमी से बोलते हैं। सभा के संस्थापक महामहोपाध्याय पंडित सकलनारायणजी को भी उस बूढ़े का बड़ा आदर करते देख यह जानने का कौतूहल हुआ कि यह कौन है। स्कूल में हिन्दी पढ़ानेवाले गुरु पंडित ईश्वरीप्रसादजी शर्मा भी रोज सभा में जाते थे। एक दिन उनसे पूछा। उन्होंने परिचय देते हुए चरण छूने का आदेश दिया। पांव छूते ही छोटी दाढ़ी वाला पोपला मुंह सरल हंसी से खिल उठा। शर्माजी ने कान के पास मुंह ले जाकर कहा—'मेरा विद्यार्थी है, शुरू से उर्दू-फारसी पढ़ता था, अब मैट्रिक में आकर हिन्दी पढ़ने लगा है, कुछ पूछिए।' बाबू शिवनंदन सहाय कुर्सी पर बैठे ही बैठे हंसते-हंसते हिलने लगे। पूछा, 'गोसाइंजी की रामायण तुमने पढ़ी है?' शर्माजी बोले, 'जो पूछते हैं सो जोर से बतलाओ।'

'बचपन में मेरे पिताजी रामायण पढ़ाते थे।'

'अब पढ़ते हो कि नहीं?'

'रोज पाठ करता हूं।'

'अर्थ भी समझते हो कि पाठ ही भर करते हो?'

'पाठ ही करता हूं, अर्थ सब जगह नहीं समझता।'

'कुछ जगह भी समझ लेते हो?'

'कहीं-कहीं, थोड़ा-थोड़ा।'

फुलवारी में से पूछूं तो अर्थ कहोगे?'

'चौपाई या दोहा?'

'यह तो मेरी इच्छा पर है। अच्छा कहो, चौपाई पूछूं या दोहा?'

'चौपाई ही पूछिए।'

'चहुं दिसि चितै पूछि माली-गन, लगे लेन दल फूल मुदित मन'—

इसमें 'दल' का अर्थ क्या है ?'

'तुलसी-दल है ।'

पीठ ठोककर हंसते-हंसते हिलने लगे। शर्माजी से बोले—'चेला-चाटी को रामायण खूब पढ़ाओ, उसी से मजे में हिन्दी आ जाएगी ।'

शर्माजी—'पाठ्य पुस्तक में रामायण का वहुत ही थोड़ा अंश है ।'

'इससे क्या ? घर पर सब को रामायण पढ़ने के लिए सीख दो ।'

मुझसे : 'तुम यहां कहां रहते हो ?'

'आपके मकान के बिलकुल पास ही ।'

शर्माजी : 'आपका पोता भवेशनंदन[1] इसके साथ पढ़ता है ।'

'वह तो उर्दू-फारसी पढ़ता है ।'

शर्माजी : 'मगर दोनों में बड़ी दोस्ती है ।'

मुझसे : 'अच्छा, जहां न समझो, वहां मुझसे इसी जगह पूछ लिया करो ।'

मेरे पिताजी वहुत अच्छे रामायणी थे। वचपन से ही रामायण के श्लोक, चौपाई, दोहा, छंद घोखवाते थे। नहा-धोकर रामायण वांचने की बान पड़ गयी थी। पिताजी के मुख से निकला हुआ अर्थ बड़े ध्यान से सुना करता था। उनकी कही हुई प्रसंगानुकूल कथाएं आज तक याद हैं।

उस समय बाबू शिवनंदन सहाय की सलाह मानकर समझ-बूझकर रामायण पढ़ने लगा। उसमें ऐसा मन रम गया कि अभिभावक से लुका-छिपाकर स्कूली किताबों के बदले रामायण ही पढ़ने लगा। स्कूल में भी जेब में गुटका रामायण ले जाता था। स्कूली पढ़ाई में बाधा पड़ने लगी। कभी-कभी कुछ टांककर सभा में ले जाता और उनसे अर्थ पूछता।

उन्हीं दिनों आरा में एक 'कड़ाचूर बाबा' रामायणी आकर रहने लगे। उनका अर्थ कहने का ढंग बड़ा आकर्षक था। उनकी कथा-मण्डली में भी जाकर सुनने का चसका लग गया। उनके अर्थ में विचित्रता भी होती थी। जब मैंने वाबू शिवनंदन सहाय से 'कड़ाचूर बाबा' के अर्थ की विलक्षणता का जिक्र किया, तब वे कहने लगे कि रामायणी लोग जनता को तुलसीदासजी का असली अभिप्राय न बतलाकर अपनी बुद्धि की बारीकी और सूझ की गहराई दिखाया करते हैं !

उनकी वातों से बड़ा मनोरंजन होता था। उनकी सरल हंसी आज भी आंखों में नाच रही है। मैंने देखा कि वे बातचीत में एकाध ही बार 'तुलसीदासजी' कहते थे, नहीं तो बराबर 'गुसाइंजी' ही उनके मुख से निकलता था। उनके कथन

---

१. स्व० भवेशनंदन सहाय—प्रसिद्ध साहित्यसेवी स्व० व्रजनंदनसहाय 'व्रजवल्लभ' के चचेरे भाई।

की मनोहर शैली आज तक मस्तिष्क में अंकित है। उनसे मैं इतना परच गया कि सभा भवन में प्रायः उनसे कथा-वार्त्ता और रामचर्चा सुना करता था। उनकी लिखी हुई गोस्वामी तुलसीदासजी की जीवनी हिन्दी में सबसे पहली और सबसे अच्छी जीवनी मानी जाती है। भारतेंदुजी की भी जीवनी उन्होंने लिखी है। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने भी 'हिन्दी साहित्य का इतिहास' नामक अपने प्रसिद्ध ग्रंथ में इन वृहत् जीवनियों का उल्लेख किया है और बाबू शिवनंदन सहाय को सबसे पहला सफल जीवनी-लेखक माना है।

उनके पास एक बस्ता था, जिसका वेठन हर साल चित्रगुप्त-पूजा के दिन नया बदलता था। उसमें कागज के छोटे-बड़े अनेक पुर्जे थे जिन पर नाना प्रकार के साहित्यिक शोध की बातें लिखी हुई थीं। उनमें से एक भी कोई पुर्जा उठाकर उसके बारे में कुछ पूछताछ करने पर झट साहित्यिक पंवारा शुरू कर देते थे। उस समय वे हिन्दी-जगत् के सजीव विश्व कोश ही जान पड़ते थे। हिन्दी के सेवकों और पोषकों की कहानियां कहने लगते थे तो ठीक महाभारतकार व्यास के समान प्रतीत होते थे। वैसा विवरणात्मक वर्णन मैंने कभी किसी से सुना नहीं। हां, काशी-नागरी-प्रचारिणी सभा के वयोवृद्ध सेवक (पुस्तकालयाध्यक्ष) पं० केदारनाथ पाठक अलबता वैसे वर्णन सुनाया करते थे। शायद पुराने लोगों के साथ ही यह विशेषता चली गयी।

बाबू जयशंकर प्रसाद जब काशी के फक्कड़ों, गवैयों, गुण्डों, गहरेबाजों, पहलवानों, कलावंतों, पंडितों, शौकीनों, भोजनभट्टों और मंगलामुखियों के किस्से सुनाने लगते थे, तब घंटों अध्याय ही नहीं लगता था। उनके यहां जब कभी लाला भगवानदीनजी और रत्नाकरजी आ जुटते थे तब बुन्देलखण्ड और व्रजमंडल की साहित्यिक प्रदर्शनी खुल जाती थी। धन्य थी उन लोगों की स्मरण-शक्ति! कवित्त, सवैया, छप्पय, दोहा—चाहे जो सुन लीजिए।

बाबू शिवनंदन सहाय की सादगी बेजोड़ थी। घिसा स्लीपर, घुटनों तक धोती, गाढ़े का कुर्ता और मामूली दुपलिया टोपी, उलझी हुई दाढ़ी, कभी-कभी पैबंद लगा हुआ कुर्ता और उनके भी बटन खुले हुए! वेशभूषा, भाषा, स्वभाव, बोलचाल—सबमें सादगी। सरलता और साधुता की साक्षात् मूर्ति ही समझिए।

हम स्कूल के लड़के घेरकर बैठ जायेंगे, वे अमंद हंसी के साथ कबीर-कथनी शुरू कर देंगे। प्रवचन के बीच-बीच में अंगरेजी के नामी कवियों की भी कविताए कहते चलते थे। लड़कों से खूब खुश रहते थे। वैसी निश्छल हंसी किसी परमहंस में ही मिल सकती है।

अन्त में एक दुर्घटना का उल्लेख आवश्यक है। बाबू शिवनंदन सहाय का जिस समय देहान्त हुआ, उस समय मैं काशी में रहता था। प्रयाग की हिन्दुस्तानी

एकेडमी की त्रैमासिक पत्रिका 'हिन्दुस्तानी' में उनकी मृत्यु का जो संवेदनात्मक संवाद छपा, उसमें उनके नाम की जगह मेरा नाम छप गया ! अनेक मित्रों के पत्र धड़ाधड़ मेरे पते पर आने लगे। उस समय कई दिनों तक 'प्रसाद' जी यही चर्चा छेड़कर हंसते-हंसते लोट-पोट होते रहे। उनकी दूकान पर प्रेमचंदजी पहुंच जाते तो दोनों का अखंड अट्टहास वहां के दिङ्मंडल को गुंजा देता था। आखिर 'हिन्दुस्तानी' के अगले अंक में संशोधन के साथ खेद-प्रकाश छप गया; मगर कुछ दिनों के लिए यह दुर्घटना हास-विलास का साधन बनी ही रही।

मेरी सबसे पहली—अस्वीकृत रचना

सन् १९१० ई० में सबसे पहले मैट्रिक चालू हुआ था। उसी साल मैं पहले-पहल हिन्दी पढ़ने लगा। उसके पहले बराबर स्कूल में उर्दू-फारसी पढ़ता रहा। उस समय तो ऊंचे दर्जे में अरबी भी पढ़ाई जाती थी।

हिन्दी पढ़ना शुरू करने पर लेख लिखने की लालसा हुई। इसके लिए दो तरफ से प्रेरणा मिली। आरा नगर की नागरी-प्रचारिणी सभा में नित्य नियमित रूप से मैं जाया करता था। वहां पत्र-पत्रिकाएं पढ़ा करता। इससे इच्छा जगी कि मेरा भी लेख छपता तो अच्छा होता। इस इच्छा को उकसाया बाबू शिवनन्दन सहाय ने, जो तुलसीदासजी की बृहत् जीवनी के यशस्वी लेखक थे। दूसरे थे मेरे स्कूल के हेडपंडित पंडित चन्द्रहास द्विवेदी[1]। उन्होंने 'हिन्दी-बोध' नामक एक पुस्तक हम मैट्रिक-छात्रों के लिए लिखी थी। उसके छपने पर उन्होंने उसकी एक प्रति मुझे दी और ध्यान से उसे पढ़ने की सलाह भी। उसमें लेख लिखने के कुछ नियम भी थे। लेख मैंने बड़े शौक से लिखा[2]। वह होली के

---

१. देकुली (ब्रह्मपुर, शाहाबाद)-निवासी।

२. उस लेख का शीर्षक था—'होली में सभ्यता का नाश'। उसे नागरी-प्रचारिणी सभा के कर्मठ सदस्य पंडित हरनाथ द्विवेदीजी ने देखकर पसन्द किया और 'शिक्षा'-सम्पादक पंडित सकलनारायण शर्मा से उसके प्रकाशन के लिए सिफारिश कर दी। वह साप्ताहिक 'शिक्षा' (पटना) के होलिकांक में छपा। सम्पादकजी ने बड़े स्नेह से मुझे उत्साहित करके 'शिक्षा' के लिए कई लेख लिखवाये—क्षमा, दया, सन्तोष, परोपकार, सत्संगति, विद्या आदि लेख भी 'शिक्षा' में छपे। किन्तु उनकी कतरनें नष्ट हो गयीं। 'शिक्षा' के पुराने अंक भी न मिल सके। उन आरंभिक रचनाओं का मोह आज भी है। उक्त द्विवेदीजी बलिया जिले के निवासी थे। आगे चलकर हम दोनों सहकर्मी हो गये। आरा के टाउन-हाईस्कूल में वे हेडपंडित थे और मैं हिन्दी-शिक्षक।

सम्बन्ध में था। हास्यरस का था। सरस भी था, किन्तु अश्लील नहीं। सोच-समझकर लिखा गया था। भाषा अलंकृत थी। अनुप्रास की बहार भी थी। शुरू से मेरी आदत नोट लेने की है। जो कुछ पढ़ता था, रुचिकर बातें छांटकर या चुनकर लिख रखता था। नोट-बुक से भी सहायता ली थी लेख तैयार करने में। मुझे वह बहुत ही सुन्दर जंचा। मैंने उस लेख की कई प्रतिलिपियां स्वयं लिखकर तैयार कीं। उपर्युक्त सभा के वाचनालय से अनेक सुन्दर पत्र-पत्रिकाओं के पते लिख लाया। सभी के संपादकों के पास एक-एक रजिस्ट्री भेज दी। उसी में जवाबी पोस्टकार्ड भी अपने पते के साथ भेजा। गार्जियन की ओर से जो पैसे जलपान के लिए मिलते थे, उन्हीं का उपयोग डाकखर्च में किया।

ईश्वर की इच्छा। लेख कहीं भी न छपा। सभी पत्रों के होलिकांक उलट डाले, दिल की धड़कन न मिटी—वह क्रमशः सघन होती गयी। तब ? तब मैंने सभी के पास फिर रजिस्ट्री-खर्च भेजा कि मेरा लेख लौटा दें। उस समय इतना भी ज्ञान न था कि एक ही जगह से लेख लौट आने पर काम चल जायेगा, और मेरे पास तो एक नकल थी ही। फिर भी अपने लेख का मोह ! रजिस्ट्री-खर्च भी सम्पादकों के गोलक में गुम हो गया। लेख न लौटा।

महामहोपाध्याय पं० सकलनारायण शर्मा

शर्माजी ने ही मेरा सबसे पहला लेख ('होली में सभ्यता का नाश') अपनी 'शिक्षा' में प्रकाशित किया था। वे बराबर नये लेखकों को प्रोत्साहित करते रहते थे। मेरा लेख देखकर उन्होंने प्रोत्साहित किया था कि सभा के पुस्तकालय में प्रतिदिन आकर पुस्तक, पत्र-पत्रिकादि पढ़ा करो और नये-नये शब्दों तथा वाक्यों को लिखकर रखते जाओ। उन्होंने आदेश भी दिया कि स्कूल में जो लेख लिखने को दिये जाते हैं उन पर लेख लिखकर मुझे दिखाया करो। इस तरह कई विषयों के लेखों को उन्होंने स्वयं शोधा और 'शिक्षा' में छापा। व्याकरण की बातें वे बड़ी आसानी से समझा देते थे। वे नित्य सभा के वाचनालय में आकर बैठते और पाठकों को पढ़ने की रीति सिखाया करते थे। उनके मतानुसार कुछ-न-कुछ नयी बात सीखने के लिए ही पढ़ना चाहिए। वे स्वयं अखबार पढ़कर बतला देते थे कि इसमें यह बात सीख रखने योग्य है।

उनके घर में ठाकुरबाड़ी और सरस्वती-भवन पुस्तकालय था। ठाकुरजी की पूजा उनके बड़े भाई पाण्डेय सत्यनारायण शर्मा किया करते थे। वे अपने भाई को पिता-तुल्य मानते थे। स्वयं तो अपने ग्रन्थागार में ही अधिक समय बिताते थे। स्वाध्याय के बाद बाहर निकलने पर मित्रों के घर जाते और रास्ता चलते भी हाथ में रुद्राक्ष की सुमिरनी लिये 'शिव-शिव' जपते रहते थे। सभा की तरह सिद्धनाथ महादेव प्रसिद्ध प्राचीन मन्दिर भी उनका अड्डा था। वहां शिवजी के

दर्शनार्थ नियमित रूप से नित्य जाते थे। संस्कृत स्तोत्रों की एक पुस्तक '(सिद्धनाथ कुसुमांजलि') उन्होंने स्वयं रची और छपाई थी। उक्त मन्दिर में तन्मयता से नामकीर्त्तन करते हुए भी मैंने उन्हें देखा था। नाम-जप तो वे हर घड़ी करते ही रहते थे। बातचीत करते समय भी बीच-बीच के अवकाश-क्षणों का सदुपयोग वे नाम-जप में ही करते थे। वे परम शिवभक्त और भारतीय संस्कृति के अनन्य पुजारी थे।

उनकी वेशभूषा साधारण थी। दिल्लीवाल जूता, पंडिताऊ धोती और गोल टोपी, बन्ददार मिर्जई और चादर। मिर्जई के बन्द कभी खुले हुए और चादर भी कन्धे से आगे या पीछे एड़ी तक लटकती हुई। कहीं किसी सभा-सम्मेलन में जाते समय वन्ददार बटनदार अंगरखा पहनकर रेशमी साफा बांधते थे। वह साफा भी सिर में ऐसा लटपट बंधता कि बोलते समय खुलता जाता और वे समेटते-खोंसते रहते। उनकी सादगी में छिपी विद्वत्ता का अन्दाज अपरिचित व्यक्ति नहीं कर सकता था। सरलता तो बच्चों जैसी थी। कई बार 'व्रजवल्लभजी' को मैंने उन्हें टोकते भी देखा—'वयोवृद्ध विद्वान् में लड़कपन आप ही में देखता हूं।' पंडितजी हंसने लगते। किसी नवविवाहित युवक से बातें करने लगेंगे तो उसके दाम्पत्य-जीवन की बातें भी पूछ बैठेंगे। यह केवल उनका मनोविनोद था। वे रूखे नहीं, सरस-हृदय थे। हंसते भी थे दिल खोलकर। चलते थे द्रुतवेग से, जान पड़ता कि हड़बड़ी में हैं। बोलते भी वैसे ही थे। लिखते भी थे अन्धाधुन्ध। लिखावट कठिनाई से पढ़ी जाती थी। 'व्रजवल्लभ' जी ने एक बार कहा भी था कि "खड्ग-विलास प्रेस के 'शिक्षा' वाले कम्पोजिटरों को ही पंडितजी की लिखावट पढ़ने का अभ्यास है, और किसी को अधिकार नहीं है।"

विद्या-व्यसन और सुमिरन-भजन में अहर्निश तल्लीन रहने के कारण पाण्डेयजी ऐसे अस्तव्यस्त स्वभाव के लापरवाह थे कि उनके पास अच्छी कलम-दवात भी नहीं रहती थी। थे तो सम्पादक, पर कभी घिसी पेंसिल से ही जैसे-तैसे कागज पर सम्पादकीय लेख घसीट डालते थे। एक चिट्ठी लिखनी हो तो कागज का टुकड़ा खोजने लगेंगे। जिस समय आरा-नागरी-प्रचारिणी सभा द्वारा राष्ट्रपति डॉ० राजेन्द्रप्रसादजी को एक अभिनन्दन ग्रन्थ समर्पित किया गया, मैंने पंडितजी से निवेदन किया कि आत्मकथा लिख डालिए। उन्होंने छूटते ही कहा कि अब मेरे हाथ कांपने लगे हैं, मेरी लिखी चीज पढ़ेगा कौन? वहीं 'व्रजवल्लभ' जी के बहनोई श्री रघुनाथप्रसाद मुख्तार बैठे हुए थे, जो हिन्दी-लेखक भी थे। वे बोले कि पंडितजी लिख दें तो मैं साफ नकल कर दूंगा। पंडितजी ने मेरा आग्रह स्वीकार कर आत्मकथा लिख दी, जिसकी मूल प्रति और मुख्तार साहब की नकल की हुई प्रति भी बिहार-हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन के संग्रहालय में विद्यमान है। वह आत्मकथा सम्मेलन के त्रैमासिक मुखपत्र 'साहित्य' के दो अंकों में क्रमशः प्रकाशित

हुई थी।

जब शर्माजी कलकत्ता-विश्वविद्यालय में संस्कृत के व्याख्याता प्राध्यापक नियुक्त हुए तब अपने अन्तरंग मित्र पं० जगन्नाथप्रसाद चतुर्वेदी के साथ उनके निजी मकान (सीताराम घोष स्ट्रीट) में रहते थे। 'मतवाला'-मण्डल (कलकत्ता) में रहते समय मैं भी प्रायः उनके पास जाता था। दोनों विद्वान् सन्ध्या समय बैठकर केवल शुद्धाशुद्ध भाषा पर ही विचार-विनिमय किया करते थे। चतुर्वेदीजी भाषा के मर्मज्ञ पारखी थे और शर्माजी तो प्रकाण्ड वैयाकरण थे ही। दोनों भाषा-विशेषज्ञों की बातें सुनने से नित्य ही ज्ञानवृद्धि होती थी। उन लोगों का भाषा-विचार अतिशय सूक्ष्म होता था। उन लोगों के पास जो हिन्दी-पत्र-पत्रिकाएं आती थीं, उनकी भाषा पर तो बहस होती ही थी, नयी निकली हुई कोई प्रसिद्ध पुस्तक भी उन लोगों की पैनी दृष्टि से नहीं बच पाती थी। भाषा पर उतनी बारीकी से नित्य-प्रति विचार करते मैंने किसी साहित्य-सेवी को नहीं देखा। कभी-कभी महाकवि 'निराला' भी वहां जाते और उस नियमित भाषा-विचार-गोष्ठी में साधिकार बोलते हुए उन लोगों को प्रभावित करते थे। किन्तु निरालाजी ऐसे शीलवान थे कि चतुर्वेदीजी जब उनके अतुकान्त छन्दों पर विनोद छेड़ते तो निरालाजी उस परिहास को उपहास न समझकर उसका आनन्द ही लेने में मस्त रहते। इसका कारण यह भी था कि चौबेजी का कोई विनोद कभी निरर्थक नहीं होता था, उसमें साहित्यिक सरसता भरी रहती थी, और शर्माजी तो संस्कृत-साहित्य के साथ वैदिक प्रमाणों से भी अतुकान्त कविता का समर्थन करने लगते थे। मुझे स्मरण है कि 'मतवाला' का प्रथमांक प्रकाशित होते ही मैं उसे लेकर शर्माजी के पास गया तो उन्होंने प्रथम दृष्टिपात में ही 'जूही की कली' को नवयुगीन कविता में सर्वोत्कृष्ट अन्योक्ति कहकर निरालाजी के परोक्ष में उनकी प्रतिभा की भूरि-भूरि प्रशंसा की। उसी क्षण उन्होंने चौबेजी को संस्कृत की कई सुन्दर अन्योक्तियां सुनाकर पुष्प-सम्बन्धी अनूठी उक्तियों से मुग्ध कर दिया। वे दोनों विद्वान् एकमात्र भाषा की विशुद्धता और सार्थकता पर विशेष ध्यान रखते थे। कहना न होगा कि इस गुण के कारण ही वे निरालाजी के प्रशंसक बन गये थे।

कलकत्ता विश्वविद्यालय के सिनेट-हॉल में कई बार शर्माजी के भाषण सुनने के अवसर मुझे प्राप्त हुए थे। बंगीय विद्वानों में संस्कृत और बंगला में निर्द्वन्द्व भाषण करके करतल-ध्वनियों का उपहार लेना साधारण काम नहीं है। किन्तु शर्माजी उन स्वाभिमानी विद्वानों के बीच रहकर अपनी विद्वत्ता के प्रताप से जो प्रतिष्ठा अर्जित कर गये वह हिन्दी-संसार के लिए गौरव का ही विषय है।

उसी सिनेट-हॉल में श्री जगन्नाथदास 'रत्नाकर' के सभापतित्व में अखिल भारतीय हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन का महाधिवेशन हुआ था जिसके बाद ही उसी

स्थान पर अखिल भारतीय हिन्दी-पत्रकार-सम्मेलन स्वामी भवानीदयालजी[1] की अध्यक्षता में हुआ। उसके स्वागताध्यक्ष शर्माजी ही थे। उस अवसर पर उन्होंने पत्रकार-कला और सम्पादक-कर्तव्य पर जो भाषण किया था उसकी प्रशंसा वहां के अंग्रेजी और बंगला पत्रों में हुई थी। उसी भाषण में हिन्दी के लब्धकीर्त्ति सम्पादकों की नामावली गिनाते हुए उन्होंने कहा था कि सबकी सचित्र जीवनी प्रकाशित होनी चाहिए जिससे हिन्दी पत्रकारिता का इतिहास स्वतः तैयार हो जायेगा।

प्रो० अक्षयवट मिश्र 'विप्रचन्द्र'

'आरा' नगर के मिश्रटोला मुहल्ले में पंडित चक्रपाणि मिश्र एक पुराने ढंग के विद्वान थे। मैं जिस हाईस्कूल में पढ़ता था, उसी में वे हेड पंडित थे। गोरा छरहरा शरीर, कलीदार अंगरखा, बंधाई पगड़ी, रेशमी दुपट्टा, आंखों में सुरमा, दांतों पर सुनहली बिंदी, त्रिकुटी पर पंचरंगा तिलक, ललाट पर अर्द्धचंद्राकार त्रिपुंड, गले में रुद्राक्ष की माला, मुंह में पान की गिलौरी, हाथ में गोमुखी छड़ी, लंबा डीलडौल-

---

१. स्वामी भवानीदयालजी का जन्म दक्षिण अफ्रीका में १० सितम्बर, १८९२ को हुआ था, यद्यपि उनके पूर्वज शाहाबाद (अब रोहतास) जिले के 'बहुआरा' ग्राम के वासी थे। शिवजी से संभवतः वर्तमान शती के दूसरे दशक से ही परिचय-पत्राचार बना रहा। स्वामीजी का परिवार दक्षिण अफ्रीका में ही प्रवासी रहा, यद्यपि वे स्वयं बहुधा भारत आते रहे। १९२६ में उन्होंने 'बहुआरा' में ही 'प्रवासी भवन' की स्थापना की जो बाद में अजमेर के पास पुनर्स्थापित हुआ। शिवजी ने दोनों ही स्थानों पर जाकर स्वामीजी के इस विशाल एवं विशेष महत्त्वपूर्ण संग्रहालय को देखा था। (सं०)

"२२ जून १९२७ को पं० भवानीदयालजी के छोटे भाई श्री देवीदयालजी मेरे पास पंडितजी का निमंत्रण लेकर एकाएक आ पहुंचे। मैं काशी से उसी दिन दो बजे दिन की गाड़ी से चलकर रात को दस बजे 'बहुआरा' पहुंचा। चांदनी रात में प्रवासी भवन की विचित्र शोभा थी। दूसरे दिन प्रातःकाल ही से भवानीदयालजी मुझे प्रवासी भवन दिखलाने लगे।…'

"१९४४ में फिर अजमेर जाकर मैंने प्रवासी-भवन के विशाल भवन को देखा था। उसमें प्रवासी भारतवासियों से संबंधित प्रचुर सामग्री थी। अजमेर के प्रवासी-भवन से आपने 'प्रवासी' नामक मासिक पत्र भी निकाला था।

स्वर बड़ा गंभीर ! छात्रों को जितना ही प्यार करते, उतना ही लुच्चा-पाजी-बदमाश भी कहते थे। एक छात्र को उन्होंने कक्षा से निकाल दिया, क्योंकि वह बेंच पर तबले का ताल देकर 'दधि' शब्द का रूप गा रहा था—'दधि दधिनी-दधीनि—दध्ना-दध्ना-दध्ना...।'

वह छात्र मेरा सहपाठी था। उस समय मैं फ़ारसी-उर्दू पढ़ता था। किन्तु अपने एक साथी का अपराध क्षमा कराने के लिए मैं भी उसके साथ पंडितजी के घर गया। वहां अक्षयवटजी विराजमान थे। अक्षयवटजी की ससुराल का मकान पंडितजी के मकान के सामने ही बगल में था। उन्होंने मेरे गांव-घर का पता पूछा था। मेरे बतलाने पर यह जानकर प्रसन्न हुए कि उनके एक परिचित कथावाचक (पंडित रामयत्न पांडेय) मेरे पुरोहित हैं। पांडेयजी मेरे गांव के निवासी नामी व्यास थे। अपने बचपन में उनके मुख से वाल्मीकीय रामायण और भागवत की ललित कथा मैंने भी सुनी थी।

उसी समय अक्षयवटजी ने मुझे हिन्दी पढ़ने का उपदेश दिया। उनकी प्रेरणा से उत्साहित होकर मेरा सहपाठी भी आग्रह करने लगा। उन दिनों स्वदेशी आंदोलन का बड़ा जोर था। स्कूलों में बंगाली शिक्षकों की ही अधिकता थी। हेड पंडित और हेड मौलवी के सिवा एक-दो बिहारी शिक्षक थे, बाकी सब बंगाली। स्कूल में बंगभंग-दिवस मनाया जाता था। विशेषतः बंगाली छात्र ही उसमें सम्मिलित होते थे। सरस्वती-पूजा की भी यही दशा थी। बिहारी लड़के चंदा देते थे, पर पूजा-अर्चा और सारी व्यवस्था बंगाली लड़के ही करते थे।

मैं सन् १९०९ ई० में इंट्रेंस क्लास का छात्र था। उस समय वह 'फर्स्ट-क्लास' कहलाता था। जब मैं सेकंड क्लास से तरक्की पाकर उसमें आया, तब एकाएक हिन्दी पढ़ने लगा। पहले तो मैं स्कूल में शुरू से बराबर उर्दू-फारसी पढ़ता रहा, और एक अच्छा विद्यार्थी होने के कारण मौलवी साहब का कृपापात्र भी था; मगर इंट्रेंस में आते ही अचानक मेरा मन हिन्दी की ओर बरबस झुक गया। उस समय यह नियम था कि सोलह साल से कम उम्र का छात्र विश्वविद्यालय-परीक्षा के लिए 'सेंट-अप' नहीं होता था। स्कूल में नाम लिखाते समय उम्र घटाकर लिखाने की परिपाटी थी। अंत में वही मेरे सिर पर बजरी। मैं बहुत उदास होकर सोचने लगा कि पढ़ाई छोड़ ही दूं। पर उस निराशा में प्रोफेसर मिश्रजी के उपदेशों से बड़ा धीरज बंधा। वे न उपदेशते तो मैं मूर्खता कर ही बैठता।

यद्यपि सन् १९१० ई० में इंट्रेंस की जगह मैट्रिकुलेशन हो गया, तथापि मिश्रजी के उत्साहित करने से मैं उदासी छोड़ मन लगाकर पढ़ने में जुट गया। इस प्रकार मिश्रजी के दुबारा दर्शन का सौभाग्य सन् १९०९ ई० में प्राप्त हुआ, जब उन्होंने फारसी-उर्दू के बदले संस्कृत-हिन्दी पढ़ने को उत्तेजित किया और

हतोत्साह होने पर प्रोत्साहन भी दिया। उन दिनों मिश्रजी डुमरांव के नाबालिग महाराज (श्रीनिवासप्रसाद सिंह) के शिक्षक थे। महाराज के साथ रांची में रहा करते थे। डुमरांव-राज्य के राजमन्दिर में उनके पिता प्रधान पुजारी थे।

मेरे साहित्यिक गुरु पं० ईश्वरीप्रसाद शर्मा का मकान भी आरा नगर के मिश्र टोले में ही था। उनका बैठकखाना मिश्रजी का एक अड्डा था। जब कभी वे आरा में रहते, शर्माजी के घर पर गोष्ठी जम जाती। कभी-कभी उस गोष्ठी में पं० रामदहिन मिश्र, पं० पारसनाथ त्रिपाठी आदि साहित्यसेवी भी जुट जाते। जैसे शर्माजी मनोरंजन-मूर्ति और अक्षयवटजी लीलाधारी विनोदी, वैसे ही रामदहिनजी काव्यालंकारी और त्रिपाठीजी ठहाकेबाज!

पंडित ईश्वरीप्रसादजी मेरे स्कूल में हिन्दी-शिक्षक थे। आरा की नागरी-प्रचारिणी सभा में प्रतिदिन वे जाया करते थे। वहां मैं भी नियमित रूप से जाकर वाचनालय में पत्र-पत्रिकादि पढ़ता था। उनके घर पर भी प्रायः जाता रहता था। उन्हीं के घर पर उर्दू-फारसी छोड़कर हिन्दी पढ़ने के कारण, अक्षयवटजी ने मेरी पीठ ठोककर आशीर्वाद दिया था।

सन् १९१४-१५ ई० की बात है। उन दिनों पटना से साप्ताहिक 'पाटलिपुत्र' निकलता था। आरम्भ में उसके संपादक थे डॉक्टर काशीप्रसाद जायसवाल और उनके सहकारियों में थे पंडित ईश्वरीप्रसाद शर्मा तथा बाबू महावीरप्रसाद गहमरी (सुप्रसिद्ध 'जासूस'-संपादक बाबू गोपालराम गहमरी के अनुज)। उस समय के 'पाटलिपुत्र' में विद्वच्चक्रचूड़ामणि पंडित रामावतार शर्मा भी प्रायः लेख-कवितादि लिखा करते थे। उनकी एक व्यंग्यविनोदमयी कविता छपी थी 'काना-वर्करीयम्' (खण्डकाव्य)! उसकी एक पंक्ति थी—'कौन हो आप स्वामीजी घास खाते हरे-हरे!'

एक दिन, संयोग की बात, शर्माजी पंडित-मंडली में विराजमान थे। उनका दरबार देवताओं की सुधर्मा-सभा के समान सुशोभित था। अक्षयवटजी की रसमयी सूक्तियां अट्टहास से वायुमंडल को गुंजा रही थीं। एक स्कूली पंडित ने अकस्मात् पहुंचकर देहाती भोलेपन के साथ अपनी शंका प्रकट की—'घास खाते हरे-हरे' कैसे शुद्ध है? 'घास' तो हिन्दी में स्त्रीलिंग है, 'हरी-हरी' होना चाहिए।' छूटते ही अक्षयवटजी बोल उठे—'महाकवि स्वामी शंकरानंदजी पुंल्लिग ही व्यवहार करते हैं।' तब सारी सभा का हास्यकोलाहल चारों ओर व्याप्त हो गया।

डुमरांव-महाराज के गढ़ में श्रीविहारीजी का दर्शनीय मंदिर है। उसमें जन्माष्टमी का महोत्सव हो रहा था। काशी की मशहूर मंगलामुखियां और लखनऊ के भांड़ों का दल आया था। उस समय राजधानी की रौनक देखते ही

बनती थी। कई बार मैंने भी वह उत्सव देखा है। सुदूर देहात से हजारों लोग रोज आते थे। डुमरांव में चिड़ियां पालने के शौकीन बहुत थे। वे सुन्दर पिंजड़े को बढ़िया कपड़े से ढककर हाथ में लिये तमाशा देखा करते थे। कोई-कोई पिंजड़ा भीतर खाली रहता था। उसमें चुने हुए जोड़े चुराकर रख लिये जाते थे। एक दफा मिश्रजी का नया जूता वहां चोरी चला गया। उन्हें बड़ा अफसोस हुआ। खीजकर यह दोहा कहा—

दुम्मरांव के दोल में, अचरज हो भरपूर।
पेट पींजरा पैठि कै, जूता जात जरूर॥

आरा-नगर के मिश्रटोला मुहल्ले में मिश्रजी की ससुराल का मकान जिस गली के पूर्वी छोर पर था, उसी गली के बीच में हिन्दी के आदिगद्यकार पंडित सदल मिश्र का मकान भी था। मिश्रजी ने ही मुझे पहले-पहल वह घर दिखलाया था। उस समय सदल मिश्रजी के अति वृद्ध प्रपौत्र रघुनन्दन मिश्र जीवित थे। बाद में जब मैं आरा-टाउन स्कूल में हिन्दी-शिक्षक था, तब रघुनन्दनजी के सुपुत्र भगवतीप्रसाद मिश्र मेरे विद्यार्थी थे। भगवतीप्रसाद उसी समय हिन्दी के एक होनहार लेखक बन गये थे। यदा-कदा वे मुझे अपने घर ले जाते तो उनके वृद्ध पिता दिखाने लगते थे कि इस कमरे में दादाजी पूजापाठ और उसमें बैठ लिखा-पढ़ा करते थे। खेद है कि सदल मिश्र का कोई स्मारक वहां न बन सका।

पं० ईश्वरीप्रसाद शर्मा

आरा के 'मिश्रटोला' में पहले बड़े-बड़े धुरन्धर दिग्विजयी पंडित हो चुके हैं। हिन्दी के आदि-गद्य-लेखक पंडित सदल मिश्र वहीं के थे। उनके प्रपौत्र वयोवृद्ध पं० रघुनन्दन मिश्र को मैंने स्वयं देखा था। हमारे पंडितजी भी इसी वंश-वृक्ष के एक विकसित सुमन थे। मिश्रटोला में पंडितजी का परिवार बड़ा शिक्षित और प्रतिष्ठित तथा गण्यमान्य है। पंडितजी के पितामह का नाम पं० पिनाकधर मिश्र और पिता का नाम पं० शारंगधर मिश्र तथा चाचा का नाम पं० श्रीधर मिश्र था।

पंडित ईश्वरीप्रसादजी विलक्षण प्रतिभा लेकर संसार में आये थे। उनको लोग 'मनोरंजन-मूर्ति' कहा करते थे। उनका मन बड़ा तरंगी था, कहीं किसी काम पर ज्यादा देर तक टिकता ही न था। जितनी योग्यता और शक्ति ईश्वर ने उन्हें दी थी, यदि वे उनका ठीक उपयोग कर पाते, तो वे बहुत-कुछ कर जाते। पर अपनी सैलानी तबीयत और दोस्त-परस्ती की लत से लाचार थे। बिना हंसे-हंसाये उनका खाना नहीं हजम होता था। उनके साहित्यिक संगी-साथी यही

देखकर चकित रहते थे कि दिन-रात इष्ट-मित्रों के यहां घूमते-फिरते रहने पर भी वे किस तरह लिखने-पढ़ने का समय निकाल पाते हैं। पर बात यह थी कि वे दो-चार घंटे में ही उतना लिख-पढ़ लेते थे, जितना हम लोग दिन-रात-भर में।

जब वे आरा में रहते, बैठकबाजी में ही दिन निकल जाता, हर घड़ी मित्र-गोष्ठी जमी रहती। शहर में निकल पड़ते, तो खास-खास दोस्तों के यहां चक्कर जरूर लगा आते। कहीं गपशप, कहीं हंसी-दिल्लगी, कहीं गाना-बजाना, कहीं कविता-पाठ। विशेषता यह कि गपशप और हंसी-दिल्लगी में भी साहित्यिक पुट खूब ! कहीं तो रसगुल्ले के साथ गुलछर्रे उड़ रहे हैं, कहीं ताश ही जम गया है। जिसके यहां पहुंच जाते, वह समझ जाता कि अब हंसी-मजाक के सिवा कोई जरूरी-से-जरूरी काम भी न हो सकेगा। अगर कोई कुछ लिख रहा हो और वे अचानक आ पहुंचे, तो कलम-दवात-कागज छीनकर अलग रख देंगे—'क्या जो है सो दिन-रात कलम-घिसघिस किया करते हो !' यदि वहां पोस्टकार्ड पड़े होंगे, देखते-देखते पांच-छः चिट्ठियां लिख डालेंगे। कमीज-कुर्त्ते की जेब टटोलने लगेंगे, नौकर को पान और शरबत लाने के लिए बाजार भेज देंगे। आतिथेय मुंह ताकता रहेगा, अतिथि स्वयं अपने आतिथ्य का प्रबन्ध कर लेगा। तकल्लुफ से कोई तअल्लुक नहीं। फिर थोड़ी देर में कहेंगे—'सड़क पर अभी आ रहा था, तो हलवाई मिहीदाने के लड्डू बना रहा था, खूब सोंधी सुगन्ध उड़ रही थी !' मित्र का लड़का बगल में बैठा पढ़ रहा है, फट उसके आगे पड़ी किताब ले लेंगे—'जाओ, दूकानदार से कहना कि बाबूजी आध सेर ताजा लड्डू मांग रहे हैं।' बाबूजी बेचारे मुंह ताक रहे हैं और शर्माजी सिर हिला-हिलाकर हंस रहे हैं—'बहुत दिनों पर आज हाथ लगे हो यार !'

आरा तो शर्माजी का घर ही था, कलकत्ता और आगरा के प्रवास में भी मैंने उनका यही रवैया देखा। कलकत्ता में उनके साथ एक ही मकान में रहता था। आगरा और गया में भी उनके साथ दो-दो महीने रहने का अवसर मिला था[1]। सर्वत्र के मित्रों से उनका एक ही तरह का व्यवहार था।

---

१. सन् १९१२ ई० में पंडितजी ने आरा से सचित्र हिन्दी-मासिक 'मनोरंजन' निकाला, जो पूरे दो साल तक यथेष्ट प्रसिद्धि प्राप्त कर बंद हो गया। फिर कुछ दिन वे पटना के अस्तंगत 'पाटलिपुत्र' पत्र के सहकारी सम्पादक रहे, जब कि शुरू-शुरू उसके प्रधान सम्पादक थे सुप्रसिद्ध विद्वान् बाबू काशीप्रसाद जायसवाल बार-एट-लॉ। उसके बाद गया की नामशेष मासिक पत्रिका 'लक्ष्मी' का सम्पादन-भार ग्रहण करके गया में एक-डेढ़ साल तक रहे। साथ

बर्मन प्रेस (कलकत्ता) में काम करते-करते फुर-से बाहर निकल गये। पहुंचे पंडित चन्द्रशेखर पाठक के घर। पाठकजी के घर की बनी पान की गिलौरियां और सुगंधित सुरती उन्हें बहुत पसन्द थी। लेकिन उनके पहुंचते ही पाठकजी समझ जायेंगे कि बाग-बाजार के रसगुल्लों के बिना इन्हें गिलौरियां फीकी लगेंगी। वहां से उठकर पंडित रामगोविन्द त्रिवेदी वेदान्तशास्त्री के भारती प्रेस में पहुंच जायेंगे और तुरत गुलाबी कुल्फी का प्रस्ताव पेश कर देंगे। इसी प्रकार किसी दिन 'मतवाला-मंडल' पर धावा बोलेंगे, किसी दिन श्रीमहादेवप्रसाद झुनझुनवाला के 'भारत-पुस्तक-भंडार' पर, जो बड़तल्ला मुहल्ले में उन दिनों साहित्यिकों का अड्डा-सा था। झुनझुनवालाजी को शर्माजी अपना सिनेमा-थिएटर-एजेंट कहा करते थे। जिस दिन भारत-पुस्तक-भंडार में भीमचन्द्र नाग की दूकान के मीठे 'संदेस' उड़ते, उस दिन सिनेमा-थिएटर का प्रोग्राम जरूर ही बनता—यह निश्चित-सा था।

ऑफिस-टाइम के बीच में ही प्रतिदिन एक-दो घंटे के लिए बाहर निकल पड़ते थे। नौकरी के बंधन की परवाह कभी की ही नहीं। कहा करते, 'रोज जेब में त्यागपत्र लेकर ऑफिस जाता हूं!' ऑफिस जाने पर झटपट अपना काम कर लेते और जाकर श्रीरामलाल वर्मा के पास गपशप करने लगते। उनके यहां थोड़ी देर हंस-बोलकर पंडित नरोत्तम व्यास के पास जा बैठते, फिर श्रीकार्त्तिकेयचरण मुखोपाध्याय से छेड़छाड़ करने पहुंच जाते। उनके आ जाने पर अगर आगे पड़ा काम छोड़ा न जाए, तो कलम छीनकर अलमारी के ऊपर रख देंगे और दवात मेज के नीचे! वर्माजी प्रायः कहते रहते—'तुम न खुद क म करते हो, न दूसरों को करने देते हो'—पर वे वर्मा की बात सुन-सुनकर केवल मुसकराया करते। वर्माजी भी विवश थे—समझ न पाते कि हर घड़ी हंसने-हंसाने में लगे रहने पर

ही-साथ वहां की 'श्रीविद्या' नामक मासिक-पत्रिका का भी सम्पादन करते थे। वहां से पुनः आरा में आकर घर बैठे पटना की साप्ताहिक 'शिक्षा' का सम्पादन करने लगे। आगरा के मासिक 'धर्माभ्युदय' के प्रथम अंक से ही पंडितजी ने सम्पादन आरंभ किया। लगभग दो-ढाई साल उसका सम्पादन करके कलकत्ता की हरिदास-कम्पनी में चले गये। वहां भी दो-ढाई साल से ज्यादा न रहे। अंत में कलकत्ता के ही बर्मन प्रेस में जा पहुंचे। उस प्रेस के अध्यक्ष बाबू रामलाल वर्मा के साथ ऐसी घनिष्ठता हो गयी कि अंत तक वहीं रहे, और उक्त वर्माजी ने जब साप्ताहिक 'हिन्दूपंच' निकाला, तो एक वर्ष तक उसका झंडा ऊंचा करके उसी की सेवा में रहते हुए २२ जुलाई १६२६ को कलकत्ता में ही अचानक चल बसे।

भी किस प्रकार ये अपना सारा काम निबटा लेते हैं।

काम तो कैसा भी हो, वे उसे उंगलियों पर नचा डालते थे। जब लिखने लगते, लेखनी में बिजली की तेजी रहती, शब्द और भाव मानो हाथ जोड़े खड़े रहते, एक शब्द भी काटते नहीं, अक्षर भी खूब सुडौल, मोती पिरोने में वैसा हस्तलाघव कभी देखा नहीं।

दिल्ली की कांग्रेस में अमर शहीद श्रीगणेशशंकरजी विद्यार्थी ने कहा—'तुम्हें आगरा से दिल्ली आने के लिए इसी कारण पत्र लिखा था कि पूरी-पूरी रिपोर्ट 'प्रताप' को मिल जायेगी।' वही हुआ भी। शर्माजी ने सभी नेताओं के भाषण लिख डाले। तारीफ यह कि बैठे थे हम लोगों के साथ प्रतिनिधियों के ब्लॉक में और अंग्रेजी के भाषणों का भी सारांश लिखते चले जाते थे।

सन् १९२६ ई० में श्रीबेनीपुरीजी ने कलकत्ता पहुंचकर उनसे अनुरोध किया कि 'मेरी कॉरेली' के लिखे 'थेल्मा' उपन्यास का अनुवाद कर दें। अंग्रेजी की किताब भी खरीदकर उन्हें दे आये। मगर टाल-टूल करते-करते शर्माजी ने हफ्तों बिता दिया। एक दिन मैंने तकाजा किया तो कहने लगे—'अभी मौज नहीं आती, देखा जायेगा।' जब मैं कई दिन बार-बार याद दिलाने लगा, तब अनायास झक में आकर बोल उठे—एक पखवारे में पूरी प्रेस-कॉपी जरूर दे दूंगा। सचमुच वैसा ही किया। पूरी पुस्तक का अनुवाद रातों-रात रगड़कर रख दिया[1]।

आगरा-प्रवास में भी मासिक 'धर्माभ्युदय' का सम्पादन और प्रकाशन हंसी-खेल में ही करते थे। कभी पंडित बदरीनाथ भट्ट[2] आ गये, तो सारा दिन साहित्यिक हास्य-विनोद में ही बीत गया। कभी श्रीमहेन्द्रजी (वर्तमान 'साहित्य-सन्देश'-संचालक) आदि मित्रों के साथ ताजमहल, आगरा-दुर्ग, सिकन्दरा, शिवपुरी, इतमादुद्दौला का मकबरा आदि की ओर निकल गये। सैर-सपाटे में, तरह-तरह की अच्छी चीजें खाने में, मेले-तमाशे में, मित्रों को अदबदाकर छेड़ते फिरने में उन्हें बड़ा सुख मिलता था। जब प्रेस के गुजराती मैनेजर श्रीप्राणशंकरजी 'धर्माभ्युदय' के मैटर के लिए तकाजा करने लगते थे, तब बस एक-दो दिन में ही

---

१. यह अनुवादित पुस्तक 'प्रेमिका' नाम से पुस्तक भंडार, पटना द्वारा प्रकाशित है। उनकी लिखी और सम्पादित तथा अनुवादित पुस्तकों की संख्या लगभग डेढ़ सौ है। इनके अतिरिक्त लगभग डेढ़-दो दर्जन पुस्तकें दूसरों के नाम से या दूसरों के लिए लिखी हैं। अखबारों और साहित्यिक पत्र-पत्रिकाओं में जो अनेक रचनाएं छपीं, वे अलग हैं।

२. प्राध्यापक, हिन्दी विभाग, लखनऊ विश्वविद्यालय—सं०

अथ से इति तक सारा मैटर तैयार कर देते थे। रचनाओं का संशोधन इतनी दक्षता से करते थे कि साधारण रचना भी रोचक बन जाती थी। प्रूफ के संशोधन में भी उतने ही पटु थे। मेज पर गड्ड-के-गड्ड प्रूफ पड़े रहेंगे, जहां लेखनी हाथ में ली कि मेज साफ !

कविताएं असंख्य कंठस्थ थीं। जी चाहे व्रजभाषा की सुन लीजिए, खड़ी बोली की, उर्दू की, बंगला की, संस्कृत की, चाहे जो फरमाइस कीजिए। 'प्रियप्रवास' और 'भारत-भारती', 'वीर-पंचरत्न' और 'त्रिशूल-तरंग', जयद्रथ-वध' और 'रंग में भंग'—ये काव्यग्रंथ जिन दिनों प्रकाशित हुए थे, शर्माजी इनके अनेक पद्य उठते-बैठते और चलते-फिरते भी गुनगुनाया करते थे। लाला भगवानदीनजी ने उनकी पीठ ठोकते हुए कहा था—'वीर-पंचरत्न' की रचना करते समय मुझे उतना आह्लाद नहीं हुआ था, जितना तुम्हारे मुख से उसे सुनकर हो रहा है। तुम अपनी ओजस्विनी पाठ-शैली से पद्यों में जान डाल देते हो।'

'प्रिय-प्रवास' और भारत-भारती' के भी कई सर्ग कंठाग्र थे। जिस रस की कविता सुनाते थे, अपनी भाव-भंगी और स्वर-लहरी से उस रस का रूप खड़ा कर देते थे। लौकिक व्यवहार का कोई ऐसा प्रसंग नहीं, जिसके अनुकूल संस्कृत के श्लोक और उर्दू के शेर उन्हें याद न हों। हर मौके पर फिट होने वाली सूक्तियां सुन लीजिए, क़िस्से और लटके-लतीफे सुन लीजिए।

उर्दू का 'अलिफ-बे' भी नहीं जानते थे, मगर उर्दू शब्दों का उच्चारण इतना चुस्त-दुरुस्त होता कि पूरे मौलाना जान पड़ते। आरा में उन्होंने 'मनोरंजन-नाटक-मंडली' स्थापित की थी। उसके द्वारा 'सत्य हरिश्चन्द्र,' 'मयूरध्वज' आदि कई नाटक अभिनीत हुए थे। 'सत्य हरिश्चन्द्र' में उन्होंने डोम का स्वांग धारण किया था और 'मयूरध्वज' में भगवान श्रीकृष्ण का। उनका अभिनय-कौशल जिसने देखा है, वही कह सकता है कि वे कैसे स्वाभाविक अभिनेता थे। एक बार 'नागरी-निरादर' नामक प्रहसन खेला गया, जिसमें वे मौलाना के वेश में रंगमंच पर उतरे थे। उनकी जबानदानी ने बड़े-बड़े मौलवियों को भी हैरत में डाल दिया। 'पारिजात' के संचालक पंडित रामदहिन मिश्रजी उनको मौलाना की भूमिका में देखकर हंसते-हंसते लोट गये थे। तारीफ यह कि नाटक के रिहर्सल (अभ्यास) में वे प्रायः अपना पार्ट अदा नहीं करते थे; किन्तु रंगशाला में ज़ब उनका जौहर खुलता था, दर्शक मुग्ध और स्तब्ध हो जाते थे। अभिनय का अभ्यास कराते समय वे स्त्री-पात्रियों को भी बड़े ठिकाने से भाव-भंगिमा सिखाते थे, गानों का तर्ज भी वही ठीक करते थे। वेशभूषा की सजावट खुद ही करके अभिनेताओं को रंगमंच पर भेजते थे।

नाटक खेलने और देखने के वे बड़े शौकीन थे। कलकत्ता में रोज नाटक देखते थे। स्टार-थिएटर में 'कृष्णार्जुन' और मनमोहन थिएटर में 'सीता' लगातार

साल-भर देखते रहे, कभी नागा न किया। ऑफिस से आने के बाद का वही बंधा प्रोग्राम था। निबट-नहाकर नाटक देखने चले, जेबों में मूंगफली और सूखे मेवे भर लिये। रास्ते में कहीं मीठे बिस्कुट पर मन चल गया, कहीं कचालू रसीला चखने लगे, कहीं ईख की गड़ेरियां चूसने लग गये, कहीं छिले कसेरू और सिंघाड़े जेब में भर लिये। जब नाटकाभिनय के बीच में अवकाश हुआ, नमकीन तिकोने समोसे की तलाश करने लगे, और ऊपर से पानी की जगह संतरे का शरबत तो चाहिए ही ! पैसे को ठीकरा कर देने में तनिक भी हिचक नहीं !

कलकत्ता-प्रवास में मैंने देखा, किसी-किसी महीने में पांच-सात सौ रुपये कमा लेते थे। कविराजों के सूची-पत्रों के हिन्दी-अनुवाद से काफी रकम आती थी। मगर अंटी में छदाम का नाम नहीं। न अभाव कभी दूर हुआ और न उन्हें कभी खला। भला अभाव अखरता ही क्यों, जब मित्रों और परिचितों के पैसे भी उनके अपने ही पैसे थे। मित्रों के साथ अपने-पराये पैसे का भेद नहीं रखते थे। ट्राम-टैक्सी के भाड़े में, सिनेमा-थिएटर के टिकट में, कभी मित्रों के आर्थिक सहयोग की प्रतीक्षा नहीं करते थे। घर से जेब भरकर निकलेंगे और लौटेंगे खाली हाथ ! आपस में लेन-देन का हिसाब-किताब रखते ही न थे। रुपये-पैसे, चाहे मित्र के हों या उनके अपने, खर्च में कुछ भी शील-संकोच नहीं। न अपना जुगाना जानते थे, न मित्र का झूंसना। जब तक पाकेट गरम है, गंगा की अखंड धारा बहती रहेगी।

लगभग १६१७ की बात है। पंडितजी आगरा में 'धर्माभ्युदय' के सम्पादक थे और मैं आरा के एक स्कूल में हिन्दी-शिक्षक था। मेरे मन में आगरा का 'ताजमहल' देखने की उत्कट लालसा थी। मगर अंटी में दाम नहीं था कि लालसा पूरी हो। मैंने पंडितजी को पत्र लिखा। उन्होंने स्नेहपूर्ण आश्वासन देते हुए वचन दिया कि तुम्हें बुलाने का प्रयत्न कर रहा हूं। ईश्वर की कृपा से 'धर्माभ्युदय' के अध्यक्ष सेठ लक्ष्मीचन्दजी की 'जैन-लाइब्रेरी' सुधारने के लिए उन्होंने राह-खर्च भेजकर मुझे साग्रह बुलाया। मैंने वहां जाकर लगभग एक महीने में उस अस्त-व्यस्त दशा में पड़ी हुई सर्वांग सुन्दर लाइब्रेरी को भली-भांति सुधार दिया—अक्षरानुक्रम और विषयानुक्रम से खूब बढ़िया संख्याबद्ध ग्रन्थ-सूची तैयार करके पुस्तकें सजा दीं। तब तक दिल्ली कांग्रेस का समय आ पहुंचा। उस तैंतीसवीं बैठक के सभापति माननीय मालवीयजी थे। फिर मैं, पंडितजी और उक्त सेठजी के सहृदय सुपुत्रों के साथ दिल्ली गया। वहां 'हिन्दी-समाचार' के कार्यालय में स्वर्गीय पंडित शिवनारायण द्विवेदी (सम्पादक) के यहां हम लोग ठहरे। वहीं 'पाटलिपुत्र' के प्रधान सम्पादक विनोद-मूर्ति श्री सोनासिंह चौधरी और उसके सहकारी सम्पादक पंडित रामानन्द द्विवेदी भी उतरे थे। दिल्ली से हम लोग उक्त चौधरीजी और द्विवेदीजी के साथ व्रजभूमि के दर्शन को चले।

पंडितजी और चौधरीजी का मेल ढोल-मंजीरे का मेल था। रास्ते-भर खूब विनोद-विलास रहा। दिल्ली से मथुरा तक 'रसखान' के 'सवैयों' की खूब छूट रही। मथुरा में पंडे के घर पहुंचने पर कपड़े उतारते-उतारते पंडितजी वहां भी 'प्रियप्रवास' का पारायण करने लग गये—

'मधुकर ! सुन तेरी श्यामता है न वैसी।
अति अनुपम जैसी श्याम के गात की है।।
पर जब नयनों से देख लेती तुझे हूं।
छवि उर खिच जाती श्यामली मूर्त्ति की है।।'

चौधरीजी की बात आज तक नहीं भूलती। पंडितजी के यह पद्य कहते ही वे कह उठे—'यार ईश्वरी ! तुम्हारे मुंह से ऐसे मीठे स्वर में कोई कविता सुनकर जी करता है कि तुम्हारा गला काट लूं। अगर मूंछ मुड़ाकर रासमंडल में शामिल हो जाओ, तो कितने ही कृष्णोपासक कंठी-माला तोड़कर तुम्हारे पीछे पड़ जायें।'

मगर पंडितजी कब चूकने वाले थे—एक नम्बर के हाजिरजवाब ! छूटते ही बोल उठे—'अगर आप 'कुब्जा' बनने को राजी हों, तो मैं 'कृष्ण' बन सकता हूं; क्योंकि आपका शरीर स्वभावतः वक्र है और मेरा गला स्वभावतः मुरली-मधुर !' इस पर बड़ी हंसी हुई। आह, कैसे थे वे दिन !

दूसरे दिन विश्राम-घाट पर जब पंडितजी ने अपने रसीले गले से 'साटी लिये उगिलावत माटी' वाला सवैया छेड़ा, तो यमुना के तीर पर खड़े-खड़े चौधरीजी झूमने लग गये। उनकी वह मुग्धा दृष्टि—उनकी वह रसानुभूतिमयी तन्मयता अचिन्त्य तृप्ति से भरी जान पड़ी। उस समय का एक-एक दृश्य अनूठा था !

फिर उसी दिन जब एक्के पर वृन्दावन की यात्रा हुई, तो रास्ते भर यही चर्चा होती गयी, कि 'माखनचोरजी' भी अव्वल दर्जे के दिल्लगीबाज थे—उनकी निष्कलंक छेड़खानियों में जो माधुर्य है, वह आजकल के भुस-भरे सूखे दिमागों में तब तक नहीं आ सकता, जब तक उतना ही काफी दूध-माखन खाने को न मिले। रास्ते में जो वृन्दावन के कुंज-झाड़ आदि मिलते जाते थे, उन पर भी तरह-तरह की एक-से-एक सरस उक्तियां जड़ी जाती थीं और सबमें भगवान् श्रीकृष्ण के उस आनन्दामृतमय बाल्यकाल की सुखद स्मृतियों की छाप लगी होती थी। पहले-पहल वहीं, पंडितजी के ही मुख से, मैंने यह श्लोक सुना था—

'अनेकजन्मार्जितपापचौरं चौराग्रगण्यं पुरुषं नमामि ।।'

यमुना की दिव्य रेत पर—'प्रेम-महाविद्यालय' के सामने—कुछ देर साहित्यिक बैठक हुई। उक्त चौधरीजी की इच्छा के अनुसार 'श्रीकृष्ण की वंशी'

पर कवित्त-सवैया-दोहे कहे जाने लगे। चौधरीजी भी एक नम्बर के कथक्कड़ ही थे—मौके-मौके की चीज उन्हें खूब याद थी। कुछ दोहे मेरी नोट-बुक में पंडितजी की कलम से ही लिखे मौजूद हैं—

'सुर-कुल-हिय कुल-कानि-तरु काटी वंसी-तान।
सिथिल अंग चंचल खसैं, बेधित मन्मथ बान॥
यातें सुरपति कोप करि तनिक न लायो वार।
व्रज-महि ऊपर सात दिन, बरसत मूसलधार॥
जब-जब तरनि-सुताप से, व्याकुल ब्रज चहुं ओर।
तब-तब बंसी-तान से, घिरि आवत घनघोर॥
बदन सुधाकर सर बिमल, लोचन कंज़ नवीन।
हरि मुख बंसी लसत जनु, हरित रंग के मीन॥
सुधा पान किय अमर-गन, तवहुं असुर दुख दीन।
जव बंसी-धुनि पान किय, सुर-दुर्लभ पद लीन॥
जैसे राखत जतन करि, घर सम्पति धन सूम।
तैसी बंसी को हरी, जुगवत हैं मुख चूम॥
तनु तमाल तरु फूल पर, बिम्बाफल गहि कीर।
तापर बंसी विहगवर, बोलत अमृत बीर॥'

पंडितजी के ही लेखानुसार ये दोहे 'दाउदनगर' (गया) निवासी बाबूलाल वैश्य-रचित 'वंशी-प्रताप-शतक' के हैं। इन दोहों का सस्वर पाठ करते समय पंडितजी की मुखश्री की जो छटा थी, वह अब तक मेरी स्मृति की आंखों में झलक रही है।

न जाने अवसर-अवसर पर कहने के लिए कितनी चीजें वे याद किये रहते थे। वृन्दावन के तट से दूर हटी हुई यमुना को देखकर कहने लगे—'आखिर यमुना ठहरी निठुर, यमराज की ही बहन तो; किस क्रूरता से वृन्दावन की शोभा की हत्या कर डाली है! इस काले हृदयवाली को अपनी श्रीहीनता की भी नहीं सूझी—दूर हटकर व्रजयात्रियों से वीचवाली रेत की खाक छनवाती है। अहा! कालिन्दी-कूल पर वृन्दावन की वह कैसी छवि रही होगी!' यह कहकर 'प्रिय-प्रवास' के छन्द की सधी लय से यह श्लोक कहने लगे—

'वृन्दारण्ये तपनतनया-तीर-वानीर-कुञ्जे
गुञ्जन्मञ्जु-भ्रमर-पटली-काकली-केलिभाजि।
आभीराणां मधुर-मुरली-नाद-संमोहितानां
मध्ये क्रीडन्नवतु नियतं नन्दगोपालबालः॥'

इसी प्रकार वृन्दावन में लखनऊ के शाहजी का संगमरमर-मन्दिर, रंगजी का किलानुमा विशाल मन्दिर, वंशीवट, केलिकुञ्ज आदि के दर्शन करते समय पंडितजी जिस सहृदयता और भावुकता से भगवान् कृष्ण-सम्बन्धी श्लोक और छन्द-कवितादि कहते जाते थे, वह उनकी पुलकावली-पूर्ण भावभंगी और श्रीकृष्णानुराग की मस्ती में झूमने की प्रकृति अविस्मरणीय है।

स्मरण आता है वह श्लोक जिसे पंडितजी ने वृन्दावन से प्रस्थान करते समय चौधरीजी को मधुर स्वर में सुनाया था और आगरा लौटकर मेरी नोट-बुक में खुद लिख दिया था। इसी श्लोक को एक बार पंडितजी ने कलकत्ता में 'सेनापति'-सम्पादक पं० रामगोविन्द त्रिवेदी वेदान्तशास्त्री को, उनके समाधिस्थ 'भारती'-प्रेस में सुनाया था, तो वे प्रशंसात्मक स्वर में कहने लगे कि 'भारतधर्म-महामण्डल' (काशी) के स्वामी दयानन्द बी० ए० के सिवा किसी के कण्ठ से आज तक ऐसे ललित स्वर में कोई श्लोक सुनने में नहीं आया—

'दोर्भ्यां दोर्भ्यां व्रजन्तं व्रजसदनजनाह्वानतः प्रोल्लसन्तं
मन्दं-मन्दं हसन्तं मृदुमधुरवचो मेति मेति ब्रुवन्तम्।
गोपालीपाणितालीतरलितवलयध्वानमुग्धान्तरालं
वन्दे तं देवमिन्दीवरविमलदलश्यामलं नन्दबालम्॥'

प्रथम काशी-प्रवास

सन् १९१३ में मैट्रिक पास करते ही मैं मुगलसराय चला गया था। वहां मेरी दूसरी शादी के बड़े साले रेलवे-गार्ड थे। उनके एक मित्र पंडित बदरी द्विवेदी राजघाट (काशी) स्टेशन पर टिकट-चेकर थे, जिनके बड़े भाई पंडित शिवप्रसाद द्विवेदी बनारस की दीवानी अदालत में मुनसरिम थे। इन्हीं मुनसरिम साहब की कोशिश-सिफारिश से मैं उस कचहरी में हिन्दी-नकलनवीस नियुक्त हुआ। उस समय कोई हिन्दी लिखने वाला क्लर्क नहीं था।

नियुक्ति से पहले मेरी योग्यता-परीक्षा हुई। बाबू गौरीशंकरप्रसाद वकील ने मेरी जांच की। मेरी लिखावट उनको शुद्ध और सुन्दर जंची। मैंने इण्ट्रेंस क्लास (सन् १९०९) तक उर्दू-फारसी पढ़ी थी। सन् १९१० में इण्ट्रेंस ही मैट्रिक हो गया। तब मैं एकाएक संस्कृत-हिन्दी पढ़ने लगा। इसलिए उर्दू भी फारसी लिपि में खुशखत ही लिखता था। खुशखत होने के कारण मैं उक्त वकील साहब का तो स्नेहभाजन हुआ ही, ऐडिशनल मुन्सिफ बाबू रघुवरदयाल का भी कृपापात्र हुआ। मुन्सिफ साहब आगरा-निवासी थे। उनके दफ्तर में एक सज्जन श्री राधाकृष्णजी थे। वह गोवर्धन सराय मुहल्ले के रहने वाले थे।

गोवर्धन सराय में ही प्रसादजी का घर है। वही सज्जन प्रेरक बने। हिन्दी का प्रेमी तो मैं था ही; स्कूल में पढ़ते समय से ही आरा की नागरी-प्रचारिणी-सभा में प्राय: जाया करता। अदालत की नौकरी से छुट्टी मिलने पर काशी-नागरी-प्रचारिणी सभा में भी जाने लगा। अखबार पढ़ने का शौक खूब था। वकील साहब भी 'सभा' के कोई पदाधिकारी थे। वह मुझे नागराक्षर में लिखने के लिए कुछ काम दिया करते थे। उसके लिए पैसे भी दिलवाते। दफ्तर में भी रोज की बाहरी आमदनी से कुछ हिस्सा मिलता ही था। उन दिनों कचहरी (अरदली-बाजार) से कम्पनी बाग (ना० प्र० सभा) तक या बेनिया-बाग (गोवर्धन सराय) तक की सवारी एक-डेढ़ आना एक्का-भाड़ा लगता था। मैं दोनों जगहों का चक्कर काटा करता। जान-पहचान तो किसी से थी नहीं। दूर से ही बाबू श्यामसुन्दरदास को 'सभा' में देख लेता और कभी 'प्रसादजी' को भी उनके घर जाकर। अपना परिचय मैं कैसे देता? संकोच के मारे साहस न होता था।

मैं रहता था खजूरी मुहल्ले में—कचहरी से थोड़ी ही दूर—उपर्युक्त मुनसरिम साहब के घर पर। मेरे बड़े साले ने व्यवस्था करा दी थी। वहां पंडित अम्बिकाप्रसाद वैद्य भी रहते थे। वह मिर्जापुर के निवासी थे। वह प्राय: भारतेन्दु-सखा प्रेमघनजी की चर्चा किया करते थे। वह साहित्यिक न होने पर भी साहित्यानुरागी होने के कारण प्रसादजी को भी जानते थे। मुनसरिम साहब विश्वविख्यात ज्योतिषाचार्य पंडित सुधाकर द्विवेदी के गोतिया दामाद थे। इसलिए वैद्यजी कभी-कभी ज्योतिषीजी के घर से हिन्दी-पत्र-पत्रिकाएं लाया करते थे। उन्हें मैं रातों-रात पढ़ डालता था। 'सभा' के वाचनालय में थोड़ी ही देर ठहरने का समय मिलता था; क्योंकि बासा बहुत दूर था, अत: पढ़ने की भूख नहीं मिटती थी।

मैं आरा की नागरी-प्रचारिणी-सभा में ही 'इन्दु' देख चुका था। सम्भवत: वह सन् १९१० में ही निकला था। उन दिनों उसकी बड़ी प्रसिद्धि थी। काशी में रहते समय 'इन्दु'-कार्यालय देखने की बड़ी उत्कण्ठा हुई। 'सभा' के वाचनालय में एक पाठक से परिचय हुआ। उनका नाम अब याद नहीं। वही पथ-प्रदर्शक बने। उस समय मन में विचित्र कुतूहल था। दर्शनोत्कण्ठा के सिवा कोई कामना न थी। पूर्वोक्त श्री राधाकृष्ण की प्रेरणा से 'प्रसादजी' का घर देख चुका था। किसी दिन 'सभा' की ओर न जाकर 'प्रसादजी' के घर की ही परिक्रमा कर आता था। उस समय पंडित रूपनारायण पाण्डेयजी भी 'प्रसादजी' के यहां रहते थे। वह भारत-धर्म-महामण्डल की मासिक पत्रिका 'निगमागम चन्द्रिका' का सम्पादन करते थे। उनको भी पहले-पहल वहीं देखा।

प० बदरीनाथ भट्ट

अपनी पहली साहित्यिक यात्रा में ही मुझे भट्टजी के दर्शन हुए थे। अखिल भारतीय हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन का पंचम अधिवेशन १९१४ में लखनऊ में होने जा रहा था। आरा-नागरी-प्रचारिणी सभा का प्रतिनिधि दल बड़े उत्साह से प्रस्थित हुआ। दल का संघटन बड़ा सुन्दर था। बाबू जयबहादुर बैंकर, सभा के जन्म-दाताओं में एक प्रमुख व्यक्ति, सभा के तात्कालिक सभापति; बाबू ब्रजनन्दन सहाय, 'सौन्दर्योपासक' और 'लालचीन' नामक उपन्यास के लेखक, महाकवि मैथिल-कोकिल विद्यापति को बंगला-साहित्य से हिन्दी-साहित्य में लाने वाले प्रथम व्यक्ति, सभा के मंत्री; प्रोफेसर बदरीनाथ वर्मा, बी० एन० कॉलेज (पटना) के अध्यापक, बिहार-विद्यापीठ के प्राण और बिहार में राष्ट्रीय आन्दोलन के निस्पृह सेवक; मनोरंजन-मूर्ति पंडित ईश्वरीप्रसाद शर्मा, मेरे पूज्य साहित्य-गुरु और भट्टजी के घनिष्ठ मित्र; बाबू अवधविहारी शरण, 'मेगस्थनीज का भारत-विवरण' नामक पुस्तक के लेखक; बाबू शुकदेव सिंह, सभा के पेटेण्ट पुस्तकालय अध्यक्ष और मंडली के संगठनकर्त्ता; बाबू कृष्णजी सहाय; बाबू शिवशंकरप्रसाद गुप्त, बाबू नित्यानन्द गुप्त, सभा के अन्यतम पदाधिकारी; और मैं—उस समय आरा के एक हाईस्कूल में हिन्दी-शिक्षक।

मंडली 'चली सुभग कविता-सरिता सों' और मार्ग में, काशी में, 'मिलेउ महानद सोन सुहावन' बाबू जयरामदास गुप्त, 'उपन्यास-बहार' के सम्पादक और शुद्ध बनारसी रंग के पक्के रंगसाज। बड़ा आनन्द रहा। रास्ते के स्टेशनों पर साहित्यानुरागियों के दल मिलते गये। 'यथा नदीनां बहवोऽम्बुवेगाः समुद्रमेवाभि-मुखा द्रवन्ति'—सभी ओर की नदियां उमड़कर आनन्द-सागर की ओर चली जा रही थीं। वास्तव में वह साहित्य-सम्मेलन आनन्द-सागर ही था।

उसके बाद और भी कई अधिवेशन देखने में आये; पर वह छटा न रही। उसके दूसरे ही साल सम्मेलन-केन्द्र प्रयाग में छठा अधिवेशन हुआ, जिसके सभापति वही बाबू श्यामसुन्दरदासजी थे, जो लखनऊवाले अधिवेशन के सफल कर्णधार थे; पर वह बात न रही—यद्यपि इस(छठे अधिवेशन)में भी पूज्य आचार्य द्विवेदीजी पधारे थे; भारतेन्दु-सखा कविवर 'प्रेमघन' जी भी उपस्थित थे जिनकी त्रिकुटी (भ्रूमध्य) पर लाल-हरे-पीले-नीले बिन्दुओं की अपूर्व शोभा थी; हास्यरसावतार पंडित जगन्नाथप्रसाद चतुर्वेदी ने 'अनुप्रासेर अट्टहास' के उत्तर में 'अनुप्रास का अन्वेषण' शीर्षक सरस निबन्ध सुनाकर सबको लोटन-कबूतर बना दिया था।

लखनऊ के पंचम सम्मेलन का आतिथ्य बहुतों को याद रह गया। स्वनाम-

धन्य बावू श्यामसुन्दरदासजी का प्रबन्ध-कौशल देखने ही योग्य था। कालीचरण हाई स्कूल के प्रशस्त आंगन में सुसज्जित पंडाल बना था। बावू साहब ही उन दिनों उसके हेडमास्टर थे, पंडाल के मंच पर लब्धकीर्ति साहित्यसेवीगण शोभायमान थे—कविवर पंडित श्रीधर पाठक (सभापति), 'पूर्ण' जी, टंडनजी, 'हरिऔध' जी, पंडित अमृतलाल चक्रवर्ती, स्वामी सत्यदेव, पंडित जगन्नाथप्रसाद चतुर्वेदी, श्री हरिश्चन्द्र वेदालंकार प्रभृति।

उस अधिवेशन में पं० सत्यनारायणजी कविरत्न भी पधारे थे, उनका देहाती बाना और कविता-पाठ की सुरीली शैली अब तक भूली नहीं है। भट्टजी ने उनसे एकान्त मित्रमंडली में विरहा गवाया था—अहीरों का अलग, धोबियों का अलग। धोबी और धोबिन का सवाल-जवाव अत्यन्त सरल साहित्यिक!

लखनऊ-सम्मेलन में 'पूर्ण' जी की चमत्कारपूर्ण कविताओं ने खूब रसरंग बरसाया। उस अवसर पर भट्टजी के प्रासंगिक विनोदों ने हंसाते-हंसाते लोट-पोट कर दिया। मंच के नीचे एक दूसरी ही दुनिया थी।

लखनऊ-सम्मेलन में प्रयाग के कविवर पं० माधव शुक्ल की नाटक-मंडली आयी थी। उसमें पं० बालकृष्ण भट्ट के ज्येष्ठ सुपुत्र पं० महादेव भट्ट ने 'सत्य हरिश्चन्द्र' नाटक में 'पाप' का अद्भुत अभिनय दिखाया था। उस समय भी भट्टजी ने अपने समयानुकूल विनोदों से दर्शकों को खूब हंसाया था।

लखनऊ से हमारी मंडली अयोध्या होती हुई आरा आयी। अयोध्या में सखी-सम्प्रदाय के आचार्य श्रीभगवानप्रसादजी के दर्शन और सत्संग का सौभाग्य प्राप्त हुआ। हनुमन्निवास में रूपकला-कुंज उनका निवास-स्थान था। भक्त-प्रवर की वह प्रेम-मधुर झांकी बड़ी प्रभावशालिनी थी।

भट्टजी से गुरुवर ईश्वरीप्रसादजी की बड़ी घनी मैत्री थी, इसीलिए मुझ पर भी भट्टजी का बड़ा स्नेह था। शर्माजी ने आरा से मासिक 'मनोरंजन' निकाला था, जिसमें भट्टजी प्रायः लिखा करते थे। 'मनोरंजन' के ग्राहकों को वार्षिक उपहार देने के लिए भट्टजी ने अपनी लिखी 'मनोरंजन' नामक पुस्तक की सैकड़ों प्रतियां मुफ्त ही भेज दी थीं। पंडित मन्नन द्विवेदी गजपुरी भी 'मनोरंजन' में बराबर लिखते थे। यह गुट गोलमालकारिणी सभा का समर्थक था।

पं० ईश्वरीप्रसाद शर्माजी जब आगरा में मासिक 'धर्माभ्युदय' के सम्पादक थे, मैं भी वहां एक-डेढ़ महीने तक रहा था। भट्टजी प्रायः प्रतिदिन गोकुलपुरा से बेलनगंज आते थे। प्रेस में घंटों बैठकबाजी होती थी। वर्तमान 'आगरा-पंच'-सम्पादक और आगरा-नागरी-प्रचारिणी सभा के मंत्री श्रीमहेन्द्रजी भी उस साहित्यिक बैठक में रहा करते थे। एक बार कविवर बाबू मैथिलीशरण गुप्त भी आगरा आये थे। ताजमहल के आंगन में शर्माजी, भट्टजी और गुप्तजी का एक

साथ फोटो लिया गया था। शर्माजी के मरने के बाद जब कभी भट्टजी से भेंट हुई, उस फोटो का हाल मुझसे पूछा करते थे।

उसी साल दिल्ली में इकतीसवीं या तैंतीसवीं कांग्रेस हुई थी, जिसमें पहले-पहल किसान-प्रतिनिधियों का निःशुल्क प्रवेश हुआ था, और जिसके सभापति थे महामना मालवीयजी महाराज। उन दिनों बिक्री के टिकट पर ही प्रतिनिधियों का प्रवेश होता था, चुनाव का झमेला न था। आगरा-दल के साथ मैं भी यू० पी० के ब्लॉक में बैठा था और महेन्द्रजी भी। भट्टजी का विनोद वहां भी अपना रंग बरसा रहा था। महामना मालवीयजी गोवध और हिन्दू-मुस्लिम एकता के प्रश्न की चर्चा करते हुए अपने अन्तिम भाषण में स्वयं रो पड़े। भट्टजी बोल उठे—'हमारे मालवीयजी महाराज ने अपने आंसुओं पर गजब का कब्जा कर रहा है; यदि इनका कण्ठ गद्‌गद और स्वर भरा न होता, तो लोग यही समझते कि इनके हाथ में जो रूमाल है, उसमें पिपरमिंट लगा है।' सब लोग हंसने लगे। ब्लॉक गूंज उठा।

मैं गया था आगरा-दल के साथ; पर ठहरा था 'पाटलिपुत्र' सम्पादक बाबू सोनासिंह चौधरी के साथ 'हिन्दी-प्रचारक' कार्यालय में, जिसके सम्पादक थे पं० शिवनारायण द्विवेदी। 'हिन्दी-प्रचारक' साप्ताहिक था; पर उस अवसर पर उसके दैनिक संस्करण भी निकल रहे थे। बाबू सोनासिंह चौधरी भी बड़े विनोदी थे। पं० ईश्वरीप्रसादजी के साथ भट्टजी और विद्यार्थीजी दो बार चौधरीजी के यहां आये; क्योंकि चौधरीजी को अपने रुग्ण शरीर के कारण कहीं आने-जाने में बड़ी कठिनाई होती थी। भट्टजी उनको 'स्थावर देवता' कहते थे।

दिल्ली से मैं अकेला चौधरीजी के साथ मथुरा-वृन्दावन चला गया, और जब आगरा लौटा, तब भट्टजी शायद बम्बई या कहीं बाहर चले गये थे। फिर उनसे लखनऊ में ही भेंट हुई, जहां वे विश्वविद्यालय में हिन्दी के प्रोफेसर थे, और मैं 'माधुरी' के सम्पादकीय विभाग में काम करता था। वे विश्वविद्यालय से लौटकर प्रतिदिन संध्या समय 'माधुरी' कार्यालय में पहुंच जाते थे। श्रीदुलारेलाल भार्गव के साथ बड़े मजे की चुहलबाजी होती थी, जिसका रस लेकर पं० कृष्णबिहारी मिश्र रईसी हंसी हंसा करते थे। भार्गवजी और भट्टजी में अन्तरंग मित्र की भांति बातें होती थीं, और उनकी सरसता तब और भी बढ़ जाती थी, जब लखनऊ विश्वविद्यालय के प्रसिद्ध अर्थशास्त्री प्रोफेसर दयाशंकर दुबे पहुंच जाते थे। दुबे जी भी प्रायः नित्य ही आते थे। कभी-कभी प्रोफेसर आद्यादत्त ठाकुर भी उस विनोद-गोष्ठी को सजीव बना जाते थे। किसी-किसी दिन पांडेयजी (पं० रूपनारायणजी, 'माधुरी-संपादक')के उपस्थित रहने पर अट्टहास का समा बंध जाता था।

जिस दिन हिन्दू-मुस्लिम-दंगा शुरू हुआ, उस दिन अमीनाबाद पार्क में शाम को भट्टजी भी हम लोगों के साथ ही बैठे थे। चिराग-बत्ती के बाद ही दंगे का हुल्लड़ मचा और उसके कुछ ही देर पहले पांडेयजी हम लोगों से विदा होकर घर की ओर बढ़े थे। शायद पार्क में प्रोफेसर दुबेजी बैठे ही थे। पं० शान्तिप्रिय द्विवेदी के साथ भट्टजी विनोद-भरी बातें कर ही रहे थे कि हो-हल्ला शुरू हुआ। अपनी साइकिल लेकर भट्टजी हंसते हुए ही भागे और शान्तिप्रियजी के साथ मैं जूते छोड़ भागा। दंगे के बाद भेंट होने पर खूब हंसी हुई, और बराबर ही यह चर्चा हंसाती रही। दंगे के सम्बन्ध में 'मतवाला'[1] में मेरा लेख पढ़कर भट्टजी लाटूश रोड के अपने मकान में इतना अधिक हंसे कि आंखों में आंसू आ गये।

कविवर माधव शुक्ल

कविवर पं० माधव शुक्ल से मेरा सर्वप्रथम परिचय लखनऊ में हुआ था। अखिल भारतवर्षीय हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन का पंचम अधिवेशन पं० श्रीधर पाठक के सभापतित्व में वहां के कालीचरण हाईस्कूल में हुआ था, यह १९१४ की घटना है। उस अवसर पर यहां प्रयाग की हिन्दी-नाट्य-परिषद् ने 'सत्य हरिश्चन्द्र' नाटक का अभिनय किया था। उसमें शुक्लजी ही राजा हरिश्चन्द्र थे। स्वनामधन्य पं० बालकृष्ण भट्ट के ज्येष्ठ सुपुत्र पं० महादेव भट्ट ने 'पाप' का स्वांग धारण किया था। यह प्रसंग उस नाटक में नया जोड़ा गया था। भट्टजी का अभिनय बड़ा ही स्वाभाविक, प्रभावशाली और विनोदपूर्ण हुआ था। डोम का स्वांग धारण किया था श्री मुद्रिकाप्रसाद ने, जो मेरे जिले (शाहाबाद) के निवासी थे; पर इलाहाबाद में बैंक की नौकरी करते थे।

नाटक बड़ी सफलता के साथ खेला गया। शुक्लजी ने अपने नाट्य-कौशल से दर्शकवृन्द को मुग्ध कर दिया। उस समय मेरे साहित्य-गुरु पं० ईश्वरीप्रसाद शर्मा भी वहां गये हुए थे। उन्होंने शुक्लजी के अभिनय से उत्साहित होकर अपने नगर (आरा) में लौटते ही 'मनोरंजन-नाटक-मण्डली' संगठित कर 'सत्य हरिश्चन्द्र' का अभिनय उसी शैली पर किया।

शुक्लजी ने वहां हम लोगों से कहा था कि हिन्दी प्रचार तथा साहित्यानुराग-वृद्धि के लिए नाटक ही अमोघ साधन है। वास्तव में जिसने वहां नाटक देखा, वह हिन्दी का लोहा मान गया। शुक्लजी का अभिनय इतना चित्ताकर्षक होता था कि दर्शक अपने हृदय पर अमिट छाप लेकर घर लौटते थे।

---

१. 'मतवाला', २० सितम्बर, १९२४—सं०

फिर उसके बाद दूसरे ही साल छठे साहित्य-सम्मेलन में, जो लाला रामप्रसाद के बाग में, प्रयाग में, बाबू श्यामसुन्दरदास के सभापतित्व में हुआ था, शुक्लजी के लिखे हुए 'महाभारत' (पूर्वार्द्ध) नाटक का अभिनय हुआ। उसके दर्शकों में भारतेन्दु-सखा पं० बदरीनारायण चौधरी 'प्रेमघन' और आचार्य द्विवेदी जी भी थे। शुक्लजी ने भीम की भूमिका में अपना ओजस्वी अभिनय दिखाया। दुर्योधन थे पं० रासबिहारी शुक्ल और कर्ण पं० वेणीप्रसाद शुक्ल और धृतराष्ट्र थे पं० महादेव भट्ट। इन तीनों का अभिनय ऐसा हुआ कि न भूतो न भविष्यति।

भीम के रूप में शुक्लजी को जिसने देखा है, वही उनके विशाल व्यक्तित्व और तेजस्वी स्वरूप की कल्पना आज भी कर सकता है। आज तक मैंने वैसा मर्मस्पर्शी दृश्य नहीं देखा था। हिन्दी-संसार में वैसा 'हरिश्चन्द्र' और वैसा 'भीम' आज तक कहीं भी किसी रंगमंच पर दृष्टिगत न हुआ। शुक्लजी का तगड़ा शरीर, प्रकाण्ड डीलडौल, मेघगम्भीर वाणी और उद्भट वीरत्व हिन्दी-संसार में आज भी दुर्लभ है।

शुक्लजी से मैं इतना प्रभावित हुआ कि लखनऊ और प्रयाग के परिचय के बाद उनसे प्राय: पत्र-व्यवहार करने लगा। असहयोग-आन्दोलन के आरम्भिक युग में आरा से 'मारवाड़ी-सुधार' नामक सचित्र मासिक पत्र निकला, जिसका मैं ही सम्पादक था। उसमें शुक्लजी की सचित्र जीवनी प्रकाशित हुई थी, जिसके लिए मुझे बहुत दौड़-धूप करनी पड़ी थी; क्योंकि शुक्लजी अपनी सचित्र जीवनी छपवाना पसन्द नहीं करते थे। यह पत्र कलकत्ता के बालकृष्ण प्रेस में छपता था, जहां से १९२३ में 'मतवाला' निकला था। वह प्रेस बालकृष्ण भट्ट के नाम पर या उनकी स्मृति-रक्षा के विचार से स्थापित हुआ था। इसलिए शुक्लजी कभी-कभी उस प्रेस में जाते थे; क्योंकि भट्टजी में उनकी बड़ी श्रद्धा-भक्ति थी। इसके सिवा प्रेस के मालिक बाबू महादेवप्रसाद सेठ और उनके अभिन्न मित्र मुंशी नवजादिकलाल श्रीवास्तव से शुक्लजी की बड़ी घनिष्ठता थी। मैं भी उसी प्रेस में रहता था। हम लोग भी प्राय: शुक्लजी के पास मिलने-जुलने जाया करते थे। वे कॉटन-स्ट्रीट में रहते थे—शायद मकान नं० ९३ में।

बड़ी-बड़ी कठिनाइयों के बाद उन्होंने अपनी जीवनी की सामग्री दी और चित्र भी बड़े संकोच से ही दिया। जीवनी छपने पर जब उन्हें वह अंक मैंने दिया, तो वे बहुत सकुचाये और नम्रता के साथ ग्लानि प्रकट करने लगे। ऐसे वे निरभिमान और विनयी थे। अहंकार तो उनमें लेशमात्र भी न था। बात-बात में मुसकान की माधुरी। जैसी मीठी मुसकान, वैसा ही प्रचंड अट्टहास। उनके चेहरे पर विषाद की रेखा कभी देखने में न आयी; जब देखिए चिरप्रसन्न !

कलकत्ता में उनके द्वारा स्थापित 'हिन्दी-नाट्य-परिषद्' के कई अभिनयों और

उत्सवों तथा प्रीतिभोजों में सम्मिलित होने का सौभाग्य मुझे प्राप्त हुआ था; क्योंकि वे तो इतनी कृपा रखते थे कि कभी-कभी 'रिहर्सल' देखने के लिए भी सप्रेम बुला लेते थे। जब किसी नाटक का अभ्यास-क्रम चलने लगता था तो कह देते थे कि अमुक दिन अवश्य देख जाइए। कलकत्ता के रंगमंचों पर उनके अनेक अभिनय देखने के सुअवसर मिले थे।

कलकत्ता से जब मैं काशी चला आया, तब एक बार शुक्लजी वहां आये और उन्होंने पहले ही सूचना दे दी कि मिलकर जो पूछना हो सो पूछिए, लिखकर भेजना पार नहीं लगेगा। बात यह थी कि मैं 'माधुरी' में हिन्दी की नाटक-मण्डलियों पर एक लेखमाला[1] लिख रहा था, जिसके लिए प्रयाग और कलकत्ता की नाट्य- परिषदों का विवरणात्मक इतिहास शुक्लजी से मांगा था। काशी में मिलने पर उन्होंने लेखमाला को बहुत पसंद किया और दोनों परिषदों का इतिहास लिखने के लिए आवश्यक बातें भी नोट करा दीं। 'माधुरी' में वह लेख उसी समय छपा भी था। हिन्दी की साहित्यिक नाटक-मण्डलियों पर वह लेखमाला पढ़कर उन्होंने मुझे बहुत उत्साहित किया था।

सन् १९२० ई० में अखिल भारतीय हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन का एकादश अधिवेशन (कलकत्ता), डॉक्टर भगवानदास के सभापतित्व में हुआ था। मैं उन दिनों वहीं था। शुक्लजी ने सम्मेलन में हिन्दी की महिमा का गान करते हुए जो मंगलाचरण किया था, उसकी स्मृति आज भी शरीर को रोमांचित कर देती है। जिस सम्मेलन में वे उपस्थित रहते थे, उसमें मंगलाचरण उनके सिवा दूसरा नहीं कर सकता था। सारे पंडाल को गुंजानेवाला वज्र-गम्भीर नाद किसके कण्ठ में था कि उनका स्थान ग्रहण करता? कलकत्ता में जब पंजाब-केसरी लाला लाजपत राय की अध्यक्षता में हिन्दू-महासभा का अधिवेशन (१९२४ में) हुआ था, तब शुक्लजी का मंगल-गान सुनकर व्याख्यानवाचस्पति पं० दीनदयालु शर्मा ने उनकी पीठ सहलाते हुए उसी समय मंच पर कहा था—'सचमुच तुम राष्ट्रभाषा-कानन-केसरी हो!' शुक्लजी जिस सभा के मंच से दहाड़ते थे, बड़े-से-बड़े पंडाल में सन्नाटा छा जाता था।

अखिल भारतीय हिन्दी-साहित्य सम्मेलन का बीसवां अधिवेशन भी कलकत्ता में ही हुआ था। रत्नाकरजी उसके सभापति थे। यह १९३० की बात है। उस समय मैं सुलतानगंज (भागलपुर) से निकलने वाली 'गंगा' मासिक पत्रिका का सम्पादक था और वहीं से कलकत्ता गया था। उसी अवसर पर हिन्दी रंगमंच की स्थापना के लिए एक योजना बनी थी। उसमें शुक्लजी, श्री ललितकुमार सिंह

---

१. शिवपूजन-रचनावली,' खण्ड-३ में संकलित—सं०

'नटवर'[1] आदि का सहयोग प्राप्त हुआ था। किन्तु योजना कार्यान्वित न हो सकी। डेढ़-दो साल बाद जब काशी में शुक्लजी के दर्शन हुए, तो उक्त योजना के सम्बन्ध में उन्होंने हंसकर कहा—'ऐसी योजना केवल कागजी घोड़े दौड़ाने से सफल नहीं हो सकती, इसके लिए पर्याप्त कोष चाहिए और व्यापारिक दृष्टि से हिन्दी-रंगमंच को संचालित करने वाला कोई उदार धनी भी चाहिए, जो शुद्ध साहित्य के प्रचार का महत्त्व समझता हो।'

शुक्लजी वीर रसात्मक अभिनय की कला में अद्वितीय थे। वे केवल स्वांग भरने वाले अभिनेता न थे। उनका सिद्धांत भी वैसा ही आदर्शपूर्ण था, जैसा उनका अभिनय। जिस समय उनका एकमात्र जामाता छत से गिरकर मर गया था, वे राष्ट्रीय आन्दोलन के कारण जेल में थे। उनके शोक-संतप्त परिवार की कारुणिक दशा देखकर जब उनसे यह प्रस्ताव किया गया कि क्षमा-याचना करके शोक-विह्वल परिवार को सांत्वना देने चलिए, तब उन्होंने स्पष्ट स्वर में कहा था—'मैं हरिश्चन्द्र और महाराणा प्रताप का अभिनय करने वाला व्यक्ति हूं; ऐसे भीषण आघात से विचलित होकर क्षमा-प्रार्थना करना असम्भव है।' इसी एक वाक्य में शुक्लजी का उज्ज्वल चरित्र और आदर्श जीवन चमक रहा है। वे सच्चे वीर पुरुष थे। मैंने पौरुष को साकार और सजीव उसी पुरुषसिंह में देखा।

हास्यरसावतार पं० जगन्नाथप्रसाद चतुर्वेदी

चतुर्वेदीजी के प्रथम दर्शन का सौभाग्य भी मुझे लखनऊ में ही प्राप्त हुआ था, अखिल भारतीय हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन के पांचवें महाधिवेशन में। चतुर्वेदीजी सम्मेलन के प्रत्येक वार्षिक अधिवेशन में अवश्य जाते थे। प्रत्येक अधिवेशन में सभापति-निर्वाचन का प्रस्ताव सर्वप्रथम वे ही उपस्थित करते थे। सभापति के नाम का अर्थ विश्लेषण करने में उनका साहित्यिक विनोद सुनने के लिए सभी प्रतिनिधि ऐसे उत्कण्ठित रहते थे कि मंच पर उनके जाते ही करतल-ध्वनि होने लगती थी। वे बाबू श्यामसुन्दरदासजी के अतिथि थे, जो उन दिनों वहां कालीचरण

---

१. मूलतः मुजफ्फरपुर-निवासी मुसलमान हिन्दी साहित्य-सेवी लतीफ हुसेन जो शुद्धि के पश्चात हिन्दू—ठाकुर ललित कुमार सिंह 'नटवर'—हुए थे। (सं०) 'पं० अमृतलाल चक्रवर्त्ती के सभापतित्व में अ० भा० हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन के अवसर पर कवि सम्मेलन में आपकी कृष्णभक्तिमयी कविता सुनकर पं० किशोरीलालजी गोस्वामी ने जब आपको 'रहीम' कहकर वाह-वाही दी, तो पं० जगन्नाथप्रसाद चतुर्वेदी ने छूटते ही कहा था कि मैं तो इन्हें पहले ही 'रसखान' की पदवी दे चुका हूं।'

हाईस्कूल के प्रधानाध्यापक थे और उसी स्कूल के प्रांगण में सम्मेलन हुआ था। पर वे बिहार के प्रतिनिधि-निवास में सभापति पाठकजी, श्यामसुन्दरदासजी, कविवर राय देवीप्रसाद 'पूर्ण' और मिश्रबन्धुओं को साथ लेकर आये, तथा बिहारी प्रतिनिधियों का उन्होंने सबसे परिचय कराया। बिहार पर भी उनका अगाध स्नेह था।

उस सम्मेलन के पहले ही दिन लखनऊ के उर्दू-प्रेमियों ने एक सभा करके हिन्दी की खिल्ली उड़ाई थी। चौबेजी, व्रजवल्लभजी और पंडित बदरीनाथ भट्ट के उद्योग से दूसरे ही दिन अधिवेशन के वाद रात में सम्मेलन की एक विशेष बैठक हुई, जिनमें कविवर 'पूर्णजी' ने उर्दू-भाषा की प्रत्येक बात का मुंहतोड़ जवाब अपनी तत्क्षण रचित कविताओं में दिया। उनके आशुकवित्व का विलक्षण चमत्कार देख सभी प्रतिनिधि विस्मयानन्द से पुलकित हो उठे। लखनऊ-सम्मेलन के कार्य-विवरण में वह प्रसंग सविस्तार प्रकाशित है।

उसी पांचवें सम्मेलन में महात्मा मुंशीरामजी के सुपुत्र श्री हरिश्चन्द्रजी ने छठे सम्मेलन के लिए लाहौर का निमन्त्रण दिया था। किन्तु अखबारी सूचनाओं के अनुसार वे राजा महेन्द्रप्रतापसिंह के निजी सचिव होकर विदेश चले गये, इसलिए छठा सम्मेलन लाहौर में न होकर सम्मेलन के प्रधान केन्द्र प्रयाग में ही हुआ। मैं उसमें भी गया था। आचार्य श्यामसुन्दरदासजी उसके अध्यक्ष थे। लाला रामप्रसाद के बाग में बड़ा शानदार उत्सव हुआ। भारतेन्दु-सखा पंडित बदरीनारायण चौधरी 'प्रेमघन' उसमें पधारे थे। वह भारतेन्दुजी की साक्षात् प्रतिमूर्ति ही थे। वेशभूषा भी हरिश्चन्द्री थी। बुढ़ापे में भी उनकी दमकती मुखश्री और उनके रईसी ठाठ-बाट पर प्रतिनिधियों की टकटकी बंध गयी। सम्पादकाचार्य पं० महावीरप्रसाद द्विवेदी भी प्रथम दिन आये थे। वह जीवन-भर कभी किसी अन्य सम्मेलन में नहीं गये। सम्मेलन के सभापतित्व को वे बराबर ठुकराते ही रहे। उनके शुभागमन से प्रसन्न होकर सब लोग यही कह रहे थे कि श्यामसुन्दरदासजी के सभापति होने से ही द्विवेदीजी इस अधिवेशन में सम्मिलित हुए हैं। दोनों आचार्यों की साहित्यिक स्पर्धा उस युग में बहुत प्रसिद्ध थी और ऊंचे स्तर के साहित्यिक मंडल में वह चर्चा का विषय भी बनी रहती थी। किन्तु द्विवेदीजी जहां सुदृढ़ स्वाभिमानी थे, वहीं वह सच्चे हिन्दी सेवक के प्रति सम्मान प्रदर्शन करने के अपने सिद्धान्त में भी अटल थे। उन्होंने सभापति को उन्मुक्त हृदय से जो आशीर्वाद दिया उसमें श्यामसुन्दरदासजी की हिन्दी-सेवा पर अजस्र पुष्पवृष्टि कर डाली। उस समय सभापति के सजल नयनों को देखकर प्रतिनिधि भी भाव-विभोर हो उठे थे।

हिन्दी-संसार को मालूम है कि कानपुर में जब राजर्षि पुरुषोत्तमदास टण्डन

के सभापतित्व में महासम्मेलन का अधिवेशन हुआ था तब पहले द्विवेदीजी से ही सभापति होने के लिए आग्रह किया गया था; किन्तु जूही (कानपुर) में बहुत दिनों तक रह चुकने के कारण उन्होंने यह कहकर अनिच्छा प्रकट कर दी कि मैं आज तक सभापति नहीं हुआ तो अब अपने ही घर में सभापति बन बैठना मेरे लिए सम्भव नहीं हो सकता। फिर जब चारों ओर से आग्रह का अत्यधिक दबाव पड़ा तब स्वागताध्यक्ष होने को तैयार हो गये। उनका वह स्वागत-भाषण पढ़ने ही योग्य है। केवल टण्डनजी की अध्यक्षता के कारण ही वह स्वागताध्यक्ष भी हुए; क्योंकि टंडनजी की निस्पृह सेवा के लिए उनके हृदय में काफी आदरभाव था, नहीं तो सम्मेलन से वे सदैव उदासीन और तटस्थ ही बने रहे।

उसी छठे सम्मेलन में चतुर्वेदीजी ने बंगभाषा के 'अनुप्रासेर अट्टहास' नामक सनसनीदार लेख की गर्वोक्तियों के जवाब में 'अनुप्रास अन्वेषण' नामक निबन्ध पढ़ा था। चमकता हुआ फीतेदार काला जूता, चुस्त पाजामा, रेशमी अंगरखा, वसन्ती साफा, सामने की जेब में चेनदार घड़ी, चिरप्रसन्न मुखड़े पर मन्द-मन्द हास्य-रेखा लिये जब चौबेजी मंच की ओर चले तब तालियों की गड़गड़ाहट से पंडाल गूंज गया। निबन्ध-पाठ के बीच-बीच भी हर्षध्वनि होती रही। अधिवेशन भर तो उल्लासपूर्ण वातावरण बना ही रहा, प्रतिनिधि लोग रास्ते में भी उसी की चर्चा करके आनन्द उठाते रहे। अखबारों में भी उसकी चर्चा खूब ही हुई। अतः चौबेजी के पास उसकी मांग भी आने लगी। वह सम्मेलन की लेखमाला में तो छपा ही, चौबेजी ने भी उसको पुस्तकाकार में स्वयं प्रकाशित कर दिया। उसकी ललित-मधुर शब्द-योजना और व्यंग्य-विनोदपूर्ण छटा देखने ही योग्य है।

उनकी शायद ही कोई रचना ऐसी हो जो पढ़ते समय निर्विकार हास्य न उत्पन्न करती हो। आप 'भारत की वर्तमान दशा' और 'स्वदेशी आन्दोलन' नामक उनकी पुस्तकें पढ़िए। उनमें भी हास्य के पुट मिलेंगे। व्यंग्य-विनोद उनके सहज-स्वभाव का मुख्य अंग था। बोलचाल में भी वे पते की बात कह जाते थे। भाषा-विवाद में भी वह बहुत सोच-समझकर पड़ते थे। अपने पक्ष की प्रौढ़ता के लिए पहले से ही पुष्टिकर प्रमाण संगृहीत कर रखते थे। उनकी युक्तियां तर्कसंगत होती थीं। मजाक-पसन्द होने पर भी वे हमेशा इस बात का खयाल रखते थे कि उसमें कटुता का लेशमात्र भी प्रवेश न हो। नामार्थ-विश्लेषण में भी वे साहित्यिक सौन्दर्य ही प्रदर्शित करते थे; जैसे महामना मालवीयजी के शुभ नाम का अक्षरार्थ इस तरह किया था—'मद न मोह न' और लाला भगवानदीन का 'लाला भगवा न दीन'! उनके इस प्रकार के अर्थ-विवेचन पर वे लोग भी हंसे बिना न रहते थे, जिनके नाम के टुकड़े से मनोरंजक अर्थ निकाले जाते थे। इसीलिए उनकी चमत्कारपूर्ण उक्तियां साहित्य-रस के चिर-स्पर्श से हृदयग्राहिणी प्रतीत

होती थीं।

दिन-रात के अपने साथी सकलनारायणजी को भी 'समस्तनारायणजी' कहकर उन्हें हंसा देते थे। लोगों को हंसाने में ही उनको सुख मिलता था। किन्तु उनके द्वारा उत्पादित हास्य सर्वदा साहित्यिक सूझ और रागद्वेषरहित आनन्द से ही संवलित होता था।

कलकत्ता-स्थित उनके निजी मकान (सीताराम धोष स्ट्रीट) में महा-महोपाध्याय पं० सकलनारायण शर्मा उनके साथ ही रहते थे। वे कलकत्ता विश्वविद्यालय में संस्कृत के व्याख्याता और सिद्ध वैयाकरण थे। दोनों विद्वान जब साथ मिल बैठते तब प्राय: भाषा और साहित्य के विषय में ही वार्तालाप करते थे। यह नित्य का प्रसंग था। दोनों की मैत्री आदर्श थी। दोनों ही बड़ी सूक्ष्मदर्शिता से भाषा के प्रचलित रूप का परिष्कार किया करते थे। 'मतवाला' मंडल में रहते समय मैं प्राय: उन लोगों के दर्शनार्थ जाता था।

चतुर्वेदीजी कलकत्ता में रहकर चमड़े की दलाली करते थे। अपनी घोड़ागाड़ी (बग्घी) पर शेयर-मार्केट जाते थे। उस समय चूड़ीदार पाजामा, अचकन और गोल फैल्ट कैप उनका पहनावा था। असहयोग-आन्दोलन छिड़ा तो स्वदेशी वेशभूषा अपना ली। गांधी-टोपी पर उनकी एक हास्य-रसात्मक कविता साप्ताहिक 'मौजी' (कलकत्ता) में छपी थी, जिसमें अन्यान्य टोपियों से उसकी श्रेष्ठता और पवित्रता दरसायी गयी थी। मारवाड़ी-समाज में भी उनकी बड़ी प्रतिष्ठा थी। वह बड़े धड़ल्ले से मारवाड़ी भाषा भी बोलते थे। बंगला बोलने का अभ्यास भी मंज गया था। उन भाषाओं में भी वे शुद्धाशुद्ध का विचार किया करते थे। जो लोग उनके इस विचार से पूर्व-परिचित होते थे, वे लोग उनके साथ बातचीत करते समय सावधान रहते थे। अब कौन ऐसा है जो भाषा के स्वरूप को निखारते रहने में प्रतिक्षण सजग होकर अनुरक्त रहेगा!

उनका मंझोले कद का गौरवर्ण शरीर सब तरह की पोशाकों में खूब फबता था। उनके सौम्य रूप में उनके मन:प्रसाद से और भी भव्यता झलकती थी। ललाट का चन्दन-तिलक, स्वच्छ सघन दन्तावलि, श्वेत यज्ञोपवीत, मनहर वाणी, सुपुष्ट शरीर आदि उनके स्वस्थ जीवन के दर्पण थे। कलकत्ता-स्थित एक नाटक-मंडली के रंगमंच पर वे हास्य-रुदन का अभिनय करने लगे तो विविध प्रकार की हंसी और रुलाई के प्रदर्शन से दर्शकों को लोट-पोट कर दिया। अभिनेता के रूप में भी उनका रूप-सौन्दर्य दर्शनीय ही था।

चतुर्वेदीजी अखिल भारतीय हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन के सभापति हुए थे। सम्भवत: वह बारहवां अधिवेशन था और लाहौर में हुआ था। उन्होंने अपने भाषण में भी भाषा की प्रचलित अशुद्धियों पर हिन्दी-संसार का ध्यान आकृष्ट

किया था। जैसे—'संपादक, सरस्वती' लिखना अशुद्ध और 'सरस्वती-संपादक' लिखना ही शुद्ध बतलाया था। और भी कितने ही उदाहरण उस भाषण में द्रष्टव्य हैं।

उस समय मैं आरा में रहता था। जिस गाड़ी से वे लाहौर जा रहे थे, आधी रात में वह आरा स्टेशन पर पहुंची। आरा की नागरी-प्रचारिणी सभा के पुस्तकालय प्रवन्धक श्री शुकदेवसिंह और मैंने पुष्पमालाएं पहेनाईं। उन्होंने हंसते हुए कहा, 'तुम लोग जाड़े की रात में आए हो और इसी कड़ी सर्दी में घर भी लौटोगे, इसलिए जाड़े की सौगात लेते जाओ।' यह कहकर उन्होंने मुश्क-अम्बर (कस्तूरी का इत्र) के दो फाहे दिये और अपने भाषण की दो छपी प्रतियां भी दीं। हिन्दी-प्रेमियों और हिन्दी-हितैषियों से वे प्रायः यही पूछा करते थे, 'हिन्दी में चिट्ठी और चिट्ठी का पता लिखते हो? किस हिन्दी-पत्रिका के ग्राहक हो? कौन हिन्दी-पत्र खरीदकर पढ़ते हो? साल-भर में कितने रुपये की हिन्दी-पुस्तकें खरीदते हो? अब तक कौन-कौन-सी पुस्तकें पढ़ चुके हो?' सचमुच हिन्दी पर उनकी अथाह ममता थी।

पं० अमृतलाल चक्रवर्त्ती

चक्रवर्त्तीजी के प्रथम दर्शन का सौभाग्य भी लखनऊ में ही प्राप्त हुआ था, अखिल भारतीय हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन के पांचवें अधिवेशन में। चक्रवर्त्तीजी ने एक किसी प्रस्ताव पर भाषण करते हुए स्त्री-शिक्षा की वर्तमान पद्धति का विरोध किया था। जब स्त्रियों में सम्मेलन-परीक्षा के प्रचार के लिए, उत्तीर्ण महिलाओं को पदक-पुरस्कार आदि देकर उत्साहित करने का प्रसंग आया, तब परम विनोदी पंडित बदरीनाथ भट्ट ने एक पुर्जे पर यह लिखकर चुपके से मंच की ओर बढ़ा दिया कि प्रथम श्रेणी में उत्तीर्ण होनेवाली देवी को चक्रवर्त्तीजी एक रजत-पदक देंगे। टंडनजी ने मुसकराते हुए पुर्जा पढ़कर ज्योंही घोषणा की, चक्रवर्त्तीजी तमतमाकर उठ पड़े और बड़े ओजस्वी शब्दों में बोले—'सचमुच जो देवी अपने ही घर में अपने ही भाई या पति से साहित्य की शिक्षा पाकर परीक्षोत्तीर्ण होगी, उसे मैं रजत-पदक ही नहीं, दरिद्र ब्राह्मण होते हुए भी, रत्न-खचित स्वर्णपदक दूंगा।' इस पर खूब हंसी हुई, सारा पंडाल गूंज गया।

जब मैं 'मतवाला' मंडल (कलकत्ता) में था, वे हिन्दी-पुस्तक-एजेन्सी के स्वामी श्रीबैजनाथजी केडिया के वणिक् प्रेस में रहते और वहीं से प्रकाशित साप्ताहिक 'सनातनधर्म' का सम्पादन करते थे। उसी प्रेस में काम करने वाले मेरे एक मित्र श्रीरमेशचन्द्र त्रिपाठी थे, जो कुछ दिनों बाद मेरे साथ 'उपन्यास-

तरंग' के सम्पादक हुए और यह सचित्र मासिक पत्र भी वहीं से निकला था। इन्हीं त्रिपाठीजी के द्वारा उनसे परिचय हुआ। फिर तो वे ऐसे सरल और सहृदय निकले कि आत्मीयता का आलोक फैलाकर शीघ्र ही मेरे मन से संकोच का अंधकार दूर कर दिया। उनके सत्संग से लाभ उठाने का अच्छा अवसर मिला।

वे कितनी सादगी से रहते थे—देखकर श्रद्धा तो होती थी; पर करुण पीड़ा भी कुछ कम नहीं। वृन्दावन के सोलहवें साहित्य-सम्मेलन के सभापति तो चुन लिये गये; पर पास पैसे नहीं कि वहां जाने योग्य कपड़े वनवाएं! जमीन में त्रिछी हुई एक पुरानी दरी पर फटी सीतलपाटी सोने-बैठने के लिए और न जाने कब का पुराना एक कम्बल ओढ़ने के लिए! ओढ़न-डासन का यह हाल; छाता-जूते का इससे भी गया-बीता हाल! सिर्फ दो ही कुर्ते और दो धोतियां, जिन्होंने साबुन के सिवा धोबी का मुंह कभी न देखा! मैंने 'मतवाला' सम्पादक श्रीमहादेवप्रसादजी सेठ से सारा हाल कहा, मुंशी नवजादिक लालजी श्रीवास्तव से भी। दोनों सज्जन स्वयं उनके पास पहुंचे; बहुत आग्रह किया कि वृन्दावन जाने के योग्य कपड़े सिलवाये और खरीदे जायें। पर वे तो रोने लग गये। वे तो ईश्वर से भी अपनी गरीबी पर दया की भीख मांगने वाले जीव नहीं थे, फिर मनुष्य की सहानुभूति उन्हें क्यों न विकल करती। रोते-ही-रोते कहने लगे—'मैं बिना कोई काम किये किसी प्रकार की आर्थिक सहायता किसी से भी नहीं ले सकता। बस इसी दशा में किसी तरह वृन्दावन चला जाऊंगा।' आखिर वृन्दावन से लौटने के बाद कोई साहित्यिक काम करा लेने का आश्वासन देने पर मार्गव्यय और वस्त्रादि का मूल्य लेने को तैयार हो गये। मैंने एक प्रश्नावली तैयार कर उनकी जीवनी लिखने के लिए उनसे सामग्री भी प्राप्त कर ली। वह जीवनी 'सरस्वती' में छपी, जब श्रीबख्शीजी उसके सम्पादक थे।

बंगाल के 'नावरा' गांव (जिला चौवीस परगना) में, संवत् १९२० में, उनका जन्म हुआ था। 'श्रीमद्भगवद्गीता' और 'गीतगोविन्द' उनके सबसे प्रिय ग्रंथ थे। दोनों ही करीव-करीब कंठस्थ थे। हिन्दी-गद्य में दोनों ही की टीका भी लिखी है। प्राय: बातचीत के प्रत्येक प्रसंग पर बड़ी ओजस्विता से गीता के श्लोक कहा करते। गीतगोविन्द के ललित पदों का पारायण भी बड़े प्रेम से किया करते। बड़े विनोद-रसिक भी थे। मेरे मित्र रमेशचन्द्रजी शृंगार-रस से विरक्त रहा करते थे, अत: एक दिन उनसे कहने लगे—'देखो त्रिपाठी, जयदेव की इन पंक्तियों में कैसा मनोरम चित्र अंकित है—'चन्दनचर्चितनीलकलेवरपीतवसनवनमाली, केलिचलन्मणिकुण्डलमण्डितगण्डयुगस्मितशाली'—अर्थ समझते हो?' फिर, रमेशजी को सकुचाते देख हंसकर बोले—'तुम कैसे युवक हो, जी?' रमेशजी ने

बात का रुख पलटते हुए पूछा—'अच्छा, यह तो कहिए, अपनी लिखी पुस्तकों में आपको सबसे ज्यादा कौन पसन्द है?' कहने लगे—'मुझे तो 'सती सुखदेई' उपन्यास और 'देश की बात' के सिवा अपनी कोई पुस्तक पसन्द नहीं है। पसन्द अगर सचमुच पूछते हो तो अपने लिखे कुछ सम्पादकीय अग्रलेख ही हैं, मगर अब उन्हें पुस्तक-रूप में छापेगा कौन?'

आचार्य श्यामसुन्दरदास

आचार्य श्यामसुन्दरदासजी के प्रथम दर्शन का सौभाग्य भी मुझे लखनऊ के पंचम अधिवेशन में ही प्राप्त हुआ था। उस सम्मेलन में पंडित अमृतलाल चक्रवर्ती, पंडित विनावकराय साठे, राय देवीप्रसाद 'पूर्ण', स्वामी सत्यदेव परिव्राजक, पंडित सुखराम चौबे 'गुणाकर' श्री हरिश्चन्द्र वेदालंकार आदि के भाषण बड़े मनोरंजक हुए थे। चक्रवर्त्तीजी ने स्त्री-शिक्षा पर बोलते हुए खूब हंसाया था। वयोवृद्ध साठेजी ने भी अपने लिए 'सट्ठा तब पट्ठा' कहकर बहुत हंसाया था। कविवर 'पूर्ण' जी ने उर्दू के गढ़ में रहनेवाले हिन्दी के विरोधियों को अपनी तत्काल रची हुई मनोहर कविताएं सुनाकर मुंहतोड़ जवाब दिया था। उनका आशुकवित्व देखकर लोग चकित रह गये थे। स्वामी सत्यदेवजी का भाषण अत्यन्त ओजस्वी था। 'गुणाकर' जी ने अपने भाषण के एक प्रसंग में कहा था—'मैं 'सागर' का निवासी हूं; पर वह सागर नहीं, जिसमें सीपी होती है, बल्कि वह 'सागर', जो 'सी० पी०' (मध्यप्रदेश) में है।'

जिन दिनों 'मतवाला' निकल रहा था, सौभाग्यवश उन्हीं दिनों बाबू श्यामसुन्दरदासजी अपने पुत्र के विवाह के निमित्त कलकत्ता पधारे थे। चोरबगान के एक मकान में बारात ठहरी थी। 'मतवाला'-संपादक बाबू महादेवप्रसाद सेठ भी श्यामसुन्दरदासजी के सजातीय (खत्री) थे। इसलिए 'मतवाला'-मंडल के सभी सदस्य बाबूसाहब के स्वागतार्थ बारात के जनवासे में गये थे। पंडित ईश्वरीप्रसादजी भी थे। मुंशी नवजादिकलाल श्रीवास्तव ने यह बात छेड़ दी कि लखनऊ-सम्मेलन में आप ही के मुख से 'पैरोडी' शब्द सुनकर ईश्वरीप्रसादजी 'मतवाला' में प्रायः उस तर्ज की कविता दिया करते हैं। इस पर बाबूसाहब बहुत हंसे और शर्माजी की पीठ ठोककर कहने लगे—'एकाध चटपटी चीज सुनाओ, भाई!' यही उनके शब्द हैं। शर्माजी ने तुलसीदास के वर्षा-वर्णन की विडम्बना सुनाई। फिर तो बाबूसाहब ने उनसे और भी कई अन्य हास्य-रसात्मक पद्य सुने—लेखक-प्रकाशक-संवाद, सम्पादकजी, लेख की मांग आदि रचनाएं सुनकर खूब खुलकर हंसे और 'मतवाला' की भी बहुत तारीफ की।

बाबूसाहब बहुत गंभीर प्रकृति के पुरुष थे, तब भी साहित्यिक मनोविनोद से उन्हें कोई घृणा न थी। एक बार मैं, जब काशी में साहित्यिक पाक्षिक 'जागरण' का सम्पादक था, लेख और सम्मति के लिए बाबूसाहब की सेवा में पहुंचा। आचार्य रामचन्द्र शुक्लजी और पंडित केदारनाथ पाठक वहां बैठे थे। शुक्लजी वैसे गंभीर विचार के होते हुए भी बड़े विनोदप्रिय व्यक्ति थे। पाठकजी को लोग 'चलता-फिरता पुस्तकालय' और 'साहित्यिक संस्मरणों के भंडारी' कहा करते थे। वे काशी-नागरी-प्रचारिणी सभा के पुस्तकालय के अध्यक्ष थे। मैंने देखा कि आचार्य द्विवेदीजी के विषय में पाठकजी विनोद-भरी बातें सुना रहे हैं और दोनों आचार्य हंस-हंसकर आनन्द ले रहे हैं।

वह छठा सम्मेलन प्रयाग में, राय रामप्रसाद साहब के बाग में हुआ था। श्यामसुन्दरदासजी ही सभापति थे। एकदम काला कोट-पैंट, गोल काली फैल्ट कैप, तितलीनुमा बूटेदार नेकटाई, तगड़ा शरीर, भव्य डीलडौल के कारण प्रभावशाली व्यक्तित्व—सब तरह से बाबूसाहब का रूप आकर्षक था। भारतेन्दु-सखा पंडित बदरीनारायण चौधरी 'प्रेमघन' उस सम्मेलन में पधारे थे और आचार्य द्विवेदीजी भी। प्रेमघनजी की भौंहों के बीच में पंचरंगी बिन्दी सबका ध्यान बरबस खींच रही थी। उनका हरिश्चन्द्री ठाट देखकर अनुमान होता था कि स्वयं भारतेन्दुजी ही सम्मेलन में आ गये हैं। उनकी आकृति-प्रकृति से वस्तुतः भारतेन्दु का ही आभास मिलता था। आचार्य द्विवेदीजी की घनी मूंछों और घनी भौंहों के ऊपर प्रशस्त ललाट तेजस्विता से चमक रहा था। चमरौधा जूते और बगलबन्दी पर पंडिताऊ गोल टोपी में भारतीय संस्कृति की झलक थी। दूसरे दिन बन्द गले के कोट और ऊनी लैसवाली किश्तीनुमा टोपी में आधुनिकता के भी दर्शन हुए।

श्रीद्विवेदी-अभिनन्दन-ग्रंथ के प्रकाशन के समय लगभग डेढ़-दो साल तक मुझे पुराकृत पुण्यवश बाबूसाहब के निकट संपर्क का सौभाग्य प्राप्त हुआ था। काशी के यशोधन कलाविद् श्रीमान् रायसाहब (रायकृष्णदासजी) और बाबूसाहब के सतत संलग्न रहने से ही वह अद्वितीय ग्रंथ तैयार हो सका था। मैं ग्रंथ की पूरी प्रेस-कॉपी लेकर बाबूसाहब की चिट्ठी के साथ जब इंडियन प्रेस में गया, तब कहीं जान पड़ा कि इंडियन प्रेसवाले उनकी बात की कितनी कद्र करते हैं। मैं वहां प्रेस के ही अन्दर अतिथिशाला में (१९३३ में) महीनों रहा और यह देखकर बहुत प्रभावित हुआ कि बाबूसाहब की एक-एक बात पर ध्यान देने में प्रेस के सभी लोग आशातीत तत्परता दिखा रहे हैं। एक बार थोड़ी देर और मामूली भूल हो जाने पर उन्होंने ऐसी कड़ी चेतावनी दी कि फिर कभी वैसा प्रसंग ही न आया।

उनका अनुशासन बहुत ही कठोर था। काम में साधारण-सी चूक या अनावश्यक विलम्ब होने पर बिलकुल बेलौस होकर ऐसी डांट बताते थे कि उनका

रुख देखकर मन में भय-विस्मय होने लगता था। ग्रंथ-संपादन के संबंध में दिये हुए उनके आरंभिक आदेश और सुझाव बड़े महत्त्व के थे। प्रयाग से मुझे प्रति सप्ताह काशी आकर उन्हें दिखाना पड़ता था कि सप्ताह-भर में कितना काम हुआ है। उनकी आज्ञा से ही मेरे लिए साप्ताहिक रेलवे 'पास' लिया गया था। वे लेखों और संस्मरणों को बड़ी कड़ाई से जांचते और खरी सलाह देते थे। इस विषय में मुरौवत-मुलाहजा छूकर भी नहीं। समय के इतने पाबन्द थे कि एक बार संयोगवश सात के बदले साढ़े सात बजे मेरे पहुंचने पर वे दूसरे काम में लग गये, निराश लौटना पड़ा।

'सभा' की स्वर्ण जयन्ती के समय उनके अन्तिम दर्शन का सौभाग्य प्राप्त हुआ था। उस समय उनका जरा-जर्जर शरीर देखकर बहुत दुःख हुआ। सिर कांप रहा था। चेहरे पर झुर्रियां पड़ गयी थीं। मैं हाथ जोड़े सामने खड़ा था। उन्होंने घूरकर पहचाना—कंधे पर स्नेह-वरद हाथ रखकर कहा, 'अच्छी तरह हो न? मैं तो बुढ़ापे से लाचार हो गया, अब चन्द रोज़ का मेहमान हूं।' उनके करुण-कातर शब्द सुनकर बड़ी पीड़ा हुई। दो आदमियों ने बाजू में हाथ लगाकर उन्हें कुर्सी पर बैठाया। उस पुरुषसिंह की यह दशा देखकर बहुत दुःख हुआ। उन्होंने हिन्दी की सेवा में अपने-आपको खपा डाला। पारिवारिक विपत्तियों से भी उनका स्वास्थ्य बहुत लच गया था।

उनकी आर्थिक अवस्था भी बहुत अच्छी न थी। एक बार उन्होंने स्पष्ट कहा था कि रायबहादुरी गले में ढोल आ पड़ी है—ढलती उम्र में यह बला आ गयी! उस समय इंडियन प्रेस ने उनके लिए एक मोटर भेज दी थी। उन्हीं दिनों द्विवेदी-अभिनन्दन-ग्रंथ की तैयारी हो रही थी। एक बार उस 'कार' में बैठते-बैठते कहने लगे, 'न जाने यह 'कोढ़ में खाज' कहां से आ गई। हमारे लिए यह मोटर आफत ही है, जब इसे आना चाहिए था, तब तो आयी ही नहीं।' किन्तु यह विरक्ति केवल बाह्याडम्बर के प्रति थी। उनके मन में कभी धन की हाय न समा सकी।

आरा सेवा समिति

मैं सन् १९१८ ई० में आरा नगर के एक हाई-स्कूल में हिन्दी-शिक्षक था। उसी टाउन-स्कूल के छात्रों की सेवा-समिति बनी थी। सन् १९१६ ई० में गंगा में जो भयंकर बाढ़ आयी थी, उसमें छात्र-स्वयंसेवकों ने बड़े परिश्रम और उत्साह से बाढ़-पीड़ित जनता की सेवा की थी। उस समय के साप्ताहिक 'पाटलिपुत्र' में उस सेवा-कार्य का (मेरा लिखा) पूरा विवरण छपा था। उसे देखकर बिहार-प्रान्तीय-सेवा-समिति की ओर से सोनपुर (हरिहर क्षेत्र) के मेले में आरा-सेवा-समिति की बुलाहट हुई। वह सेवा-समिति ब्रह्मपुर (शाहाबाद) के शिवरात्रि के

मेले में हर साल जाती थी। उसके सभापति बाबू हरिनारायणसिंह (शाहपुर पट्टी-निवासी) अत्यन्त उत्साही संगठनकर्त्ता व्यक्ति थे। उन्होंने सन् १९१७ में सोनपुर नहीं जाने दिया। उनका विचार था कि वहां जाने के लिए पूरी तैयारी करनी होगी, क्योंकि समस्त प्रान्त की प्रमुख सेवा-समितियां वहां एकत्रित होंगी। अतः साल-भर उन्होंने स्वयंसेवकों को सेवा-प्रणाली की शिक्षा दी। वे उन दिनों डुमरांव-राज्य (शाहाबाद) के असिस्टेंट मैनेजर थे। अतः राज्य की ओर से सहायता लेकर उन्होंने स्वयंसेवकों के लिए नयी वर्दियां बनवा दीं। सन् १९१८ ई० में आरा-सेवा-समिति सोनपुर के मेले में गई। मैं उस समिति का मंत्री था। अतः स्वयं-सेवक-दल के साथ मैं ही वहां भेजा गया।

सोनपुर के मेले में बिहार-सेवा-समिति का जो कैम्प था उसमें पहुंचने पर मुजफ्फरपुर की सेवा-समिति के कप्तान श्री ललितकुमार सिंह 'नटवर', श्री मथुराप्रसाद दीक्षित और श्रीरामधारीप्रसाद 'विशारद'[1] से भेंट हुई। वे लोग सेवा समिति-कार्यालय में व्यवस्था-संबंधी कार्यों का संचालन कर रहे थे और मेरे पूर्व-परिचित भी थे। मुझे और मेरे विद्यार्थियों को यह जानकर बड़ी प्रसन्नता हुई कि आरा-सेवा-समिति को महेन्द्र बाबू के नायकत्व में श्रीहरिहरनाथ के मंदिर में सेवाकार्य करना होगा। उपर्युक्त ब्रह्मपुर के विशाल शिवमंदिर में कई साल बड़ी सफलता के साथ जन-सेवा करने के जो अवसर मिल चुके थे, उनका स्मरण करके स्वयंसेवक बड़े उल्लास से कर्तव्य-पालन के लिए उद्यत हो गये। जब स्वयं-सेवक-दल चला और आगे-आगे महेन्द्र बाबू कच्छा कसकर लाठी लिये चलने लगे तो सारा नवयुवक-दल उनकी स्फूर्ति और उमंग देखकर दंग रह गया। अधिकांश स्वयंसेवक उन्हें ठीक पहचानते न थे। उनकी तेजस्विता से प्रभावित होकर वे लोग आपस में कानाफूसी करने लगे। उस समय तक चम्पारन में महात्मा गांधी के विजय-शंख के बज उठने से बिहार में राष्ट्रीय जागरण का सुप्रभात हो चला था और नवयुवकों में गांधीजी के दाहिने हाथ पूज्य राजेन्द्र बाबू का शुभ नाम भली भांति उजागर था। जब स्वयंसेवकों को मालूम हो गया कि अपने बुढ़ापे से उठती जवानी को भी मात करनेवाले महेन्द्र बाबू हम लोगों के आदर्श नेता राजेन्द्र बाबू के बड़े भाई हैं, तब वे सब-के-सब अधिकाधिक श्रद्धा के साथ उनके आज्ञाकारी बन गये।

श्रीहरिहरनाथजी के मंदिर में जैसी भीड़ होती है, वैसी इस देश के बहुत कम

---

१. बिहार-प्रादेशिक-हिन्दी-साहित्य सम्मेलन के जन्मदाताओं में प्रमुख, स्व० रामधारीप्रसाद हिन्दी के अनन्य भक्त एवं कांग्रेस के जाने-माने नेता थे।—सं०

मंदिरों में होती होगी। ब्रह्मपुर के उक्त मंदिर के अभ्यास की यहां अग्निपरीक्षा होने लगी। पर जब महेन्द्र बाबू दोनों मुट्ठियों में लाठी पकड़कर गंभीर हुंकार के साथ अपार भीड़ को छतियाने लगे तब तो स्वयंसेवकों में अदम्य उत्साह की लहर दौड़ गई। वे केवल आज्ञा देकर सेवा करानेवाले नायक न थे। वे सेवा का छोटा-से-छोटा काम सबसे पहले स्वयं करने लगते थे और तब अपने साथ के स्वयंसेवकों को सहयोग के लिए उत्साहित करते थे। स्त्रियों और बूढ़ों की रक्षा तथा सहायता पर उनका विशेष ध्यान था। उनके मुख से 'माताजी' और 'बाबूजी' तथा 'भैयाजी' का संबोधन सुनकर दर्शनार्थी भी धन्य-धन्य करते थे, स्वयंसेवक तो चकित थे ही—वे लोग तो उनसे लोक-सेवा का पाठ ही पढ़ रहे थे। कुछ लोग उस भीड़ में उनको पहचानने वाले भी आ जाते थे। वे लोग भी कुछ क्षण एक ओर ठिठककर विस्मय-विस्फारित नेत्रों से उन्हें देखते और चुपचाप अलग से ही हाथ जोड़कर प्रणाम करते थे। सेवाकार्य में उनकी तन्मयता विलक्षण थी। वे सेवा करते समय सचमुच अपना आपा खो बैठते थे। तन-मन-प्राण की सुधि बिसारकर सेवा में जुट जाते थे। थकावट कभी उनके पास फटकने नहीं पाती थी। सेवा की अपनी सच्ची लगन से वे दूसरे लोगों के हृदय में भी सेवा-भावना जगा देते थे। उनके समान वयोवृद्ध का साहस देखकर नवयुवक भी संकुचित और लज्जित हो जाते थे।

बिहार के गया-निवासी श्रीजानकीशरण से हिन्दी-प्रेमी परिचित होंगे। वे प्रयाग-सेवा-समिति की मुख पत्रिका 'सेवा' के सम्पादक तो थे ही, उस सेवा-समिति के एक नायक भी थे। भारत की सेवा-समितियों में प्रयाग की सेवा-समिति प्राय: सर्वश्रेष्ठ मानी जाती रही है। उसके प्रधान नायक पंडित श्रीराम वाजपेयी को भी मैं त्रिवेणी संगम पर माघ मेले में काम करते-कराते देख चुका हूं। वाजपेयीजी भारत-प्रसिद्ध स्वयंसेवक-नायक थे। श्रीजानकीशरणजी भी लाखों की भीड़ का नियंत्रण करने की व्यवस्था में अत्यन्त कुशल थे। दोनों ही सेवा-कार्य की सुव्यवस्था और उसके निरीक्षण तथा नियंत्रण का सुप्रबन्ध करने में दर्शनीय कौशल का परिचय देते थे। उनके साधन भी पर्याप्त थे। प्रयाग-सेवा-समिति के सभापति पूज्य महामना मालवीयजी का वरद हस्त उनके सिर पर था। पर महेन्द्रबाबू के पास उनका अपना जीवट ही एकमात्र साधन था। वे नायक बनाये जाने पर भी कप्तानी नहीं, संचालन या निर्देशन भी नहीं, केवल सेवाकर्म में स्वयंमेव तत्पर होकर ही अपनी निष्ठा की पराकाष्ठा दिखा देते थे। सेवावृत्ति में जो तल्लीनता थी वही स्वयंसेवकों को प्रेरणा और आशा देती थी। उनकी वाणी तो केवल उत्साहवर्द्धक हुंकार के रूप में उनकी उद्दीप्त ओजस्विता ही व्यक्त करती थी, वास्तव में उनका क्रियाशील आचरण ही उनके अनुगत स्वयंसेवकों को सेवा-मार्ग पर अडिग डटे रहने की उत्तेजना देता था। महात्माओं के कथनानुसार

जो अपने आचरण से दूसरों को आकृष्ट करके कर्तव्यारूढ़ बनाता है वही वास्तविक महापुरुष है। अतः महेन्द्रबाबू निस्संदेह आदर्श महापुरुष थे।

दो दिन मंदिर में सेवाकार्य करने के बाद सेवा का क्षेत्र बदल गया। अब विराट और सघन मेले के विभिन्न भागों में काम होने लगा। इस काम में लगातार तीन दिनों तक लगे रहने के बाद महेन्द्रबाबू छपरा चले गये। भीड़ भी धीरे-धीरे छंटने लगी। मनुष्यों के मेले से अधिक पशुओं के मेले में काम करना कठिन था। वहां हिम्मत-बहादुर और निर्भय व्यक्ति ही धैर्य से काम कर सकता था। रात में वहां काम करना और भी खतरनाक था। मगर महेन्द्रबाबू अपनी निर्भीकता से स्वयंसेवकों में अपूर्व उत्साह पैदा कर देते थे। भूले-भटकों और घायलों को सेवा-समिति के शिविर और अस्पताल में भेजने में तथा कैम्प में लौटने पर उन सबकी खोज-खबर लेने में उनकी खास दिलचस्पी थी। पुलिस-कैम्प के सभी अफसर उनके परिचित-से जान पड़ते थे। पशुओं के मेले में भी उनके परिचित जमींदार और धनी-मानी व्यक्ति मिल जाते थे तथा उन्हें कुछ देर रोकना चाहते थे, पर वे सबकी अनसुनी करके सेवापथ पर ही अग्रसर होते जाते थे। मनुष्यों की भीड़ में भी उनके सुपरिचित लोग मिलते थे, पर वे अपने मुख्य कार्य से रंचमात्र भी असावधान नहीं होते थे। अनेक परिचितों और इष्टमित्रों को अनदेखी करके अपने लक्ष्य की ओर ही बढ़ते जाना उनकी सेवा-भावना की तीव्रता प्रकट करता था।

मन्दिर से अपराह्न में लौटते समय साधुओं की जमात के पास एक हलवाई की दूकान में अचानक आग लगी दीख पड़ी। महेन्द्रबाबू ने स्वयंसेवकों को तुरत तगड़ी ललकार दी। पुलिस भी पहुंची और उसके अफसर उन्हें कष्ट न करने के लिए कहते ही रह गये, पर वे तो उछल-उछलकर लाठी से आग पीटने की धुन में थे, और सच कहा जाय तो उन्हीं की तत्परता से आग फैलने न पायी। स्वयंसेवकों ने उन्हीं के साहस से अनुप्राणित होकर पुलिस-सिपाहियों को भी अपने जत्थे की बहादुरी से लजा दिया। वहां पानी की कमी थी, पर धूल की कमी न थी। उनकी सूझ तो देखिए कि सबसे पहले वे आग पर धूल ही उछालने लगे और उनकी देखादेखी स्वयंसेवक-समूह भी उसी काम में पिल पड़ा। उनकी लाठी टूट गयी तो एक मकान की छाजन से बांस खींचकर आग का फैलाव रोकने लगे। स्वदेश के धन-जन की रक्षा के लिए आत्मोत्सर्ग की भावना-लहरों में डूब जाना उन्हीं का काम था। सेवा की राह पर पग धरते ही वे सुध-बुध भूल जाते थे। सेवा के नाम पर कोई साधारणतर काम करने में भी उन्हें हिचक न थी।

सेवाकार्य की निश्चित अवधि पूरी होने पर जब कैम्प में आते थे तब भी विश्राम नहीं करते थे। स्वयंसेवकों के खाने-पीने और सोने की जगहों में घूम-

घूमकर देखते चलते थे कि कहां कैसी व्यवस्था है। भोजन बनानेवालों के काम में सम्मिलित होकर सहायता देना, स्वयंसेवकों की पंक्ति में भोजन परोसना, किसी का बिस्तर इधर-उधर बिखरा पड़ा हो तो उसे समेटकर यथास्थान रखना, यहां तक कि जूठी पत्तलें भी उठाकर फेंक देना, फिर झट कार्यालय की कुर्सी पर बैठकर प्रबन्ध-सम्बन्धी सुझाव देना, इतने पर भी कभी थकावट का अनुभव न करना—वह तितली-जैसी फुर्ती देखकर अनुमान करना भी कठिन था कि उनके शरीर में शक्ति की बिजली कितनी है, फिर लोकसेवा की उनकी अगाध श्रद्धा की थाह पाना तो और भी कठिन था।

पांच दिनों तक उनके नायकत्व में सेवाकार्य करने के बाद स्वयंसेवक जब आरा लौटने लगे तब तमाम रास्ते में महेन्द्रबाबू की ही चर्चा करते आये। अब उन लोगों के दिमाग में यह बात घर कर गयी कि सेवा के नाते कोई काम न छोटा है और न घृणित। वे लोग सबसे अधिक प्रभावित हुए महेन्द्रबाबू के स्वभाव और व्यवहार की मिठास तथा स्वयंसेवकों के प्रति उनकी आत्मीयता से। स्वयं-सेवकों की सुख-सुविधा का ध्यान रखने में वे ऐसा घरेलू स्नेह का प्रदर्शन करते थे कि स्वयंसेवक अनायास उनके वशंवद बन जाते थे। अगर कहीं सफाई का काम करने का अवसर आता था तो वे स्वयंसेवकों को आदेश देने से पहले स्वयं ही वह काम चटपट करने लगते थे। उनके जीवन में मौखिक शिक्षा से क्रियात्मक शिक्षा का विशेष महत्त्व था। वस्तुतः वे सच्चे सेवाव्रती थे।

कुमार देवेन्द्रप्रसाद जैन

हिन्दी-संसार में ऐसा कोई प्रेमी मनुष्य नहीं होगा, जो आरा-निवासी कुमार देवेन्द्रप्रसाद जैन की हिन्दी सेवा से सुपरिचित न हो। उनके पिता और पितामह आरा नगर के प्रतिष्ठित धनाढ्य महाजन थे। उनकी अवस्था जब तीन मास की थी, तभी उनके प्रखर प्रतिभाशाली पिता पटना में गंगा-गर्भ में जल-समाधि-मग्न हो गये थे। पितृहीन शिशु को लेकर दुःखिनी माता मायके चली आयीं। उनके मामा बाबू नन्दूलाल आरा के बड़े भारी जमींदार और रईस थे।

आरा-जिला-स्कूल से इंट्रेंस पास करके वे १९१० में सेंट्रल-हिन्दू-कॉलेज (बनारस) में दाखिल हुए। कुमार के बाल्य-सहचर तथा मेरे श्रद्धास्पद गुरुवर पं० ईश्वरीप्रसाद शर्मा भी काशी में कुमार के कॉलेज-सहपाठी रहे। उसी समय देवेन्द्रप्रसाद ने विश्व-प्रेम संघ स्थापित करके अनेक कॉलेज छात्रों को उसका सदस्य बनाया था। कॉलेज के प्रसिद्ध प्रिंसिपल जॉर्ज सिडनी अरण्डेल साहब कुमार को बहुत मानते और प्यार करते थे। उनकी लिखी हुई 'द वे ऑफ

सर्विस' नामक पुस्तिका का 'सेवाधर्म' (१९२१) नाम से मेरे द्वारा किया हुआ हिन्दी-अनुवाद प्रकाशित करके कुमार ने उन्हीं के चरणों में सर्मपित कर अपनी अगाध गुरुभक्ति का परिचय दिया।

कुमार देवेन्द्रप्रसाद ने 'सेंट्रल-जैन-पब्लिशिंग-हाउस' स्थापित किया था। इस संस्था की ओर से उन्होंने 'जैन-धर्म-ग्रंथमाला' (अंगरेजी में) प्रकाशित की जिसके ग्रंथों की अनुपम छपाई और सुघराई देखने ही योग्य थी। जैनधर्म-सम्बन्धी ग्रंथों में हरदोई (उत्तर प्रदेश) के बैरिस्टर श्री चम्पतराय जैन का लिखा हुआ 'द की ऑफ नॉलेज' नामक ग्रंथ सबसे बड़ा और दस रुपये मूल्य का था।

देवेन्द्रप्रसाद ने १९१०-११ में ही हिन्दी की तीन पुस्तकें प्रकाशित की थीं—स्वरचित 'ऐतिहासिक स्त्रियां' और 'अध्यापिका जानकीबाई की जीवनी' तथा अग्रवाल-कुल-कमलिनी साध्वीश्री पंडिता चंदाबाई (जैन महिलारत्न) द्वारा लिखित 'उपदेशरत्नमाला'। ये तीनों पुस्तकें उन्होंने हिन्दी-माता के चरणों में पहले-पहल बड़ी श्रद्धा के साथ अर्पित की थीं। फिर १९१५ में 'प्रेममंदिर' की स्थापना हुई, जिसके द्वारा 'प्रेमकली', 'प्रेमपुष्पांजलि', 'त्रिवेणी' (तीनों मेरे ही द्वारा संपादित) आदि अनूठी पुस्तकें प्रकाशित हुईं। 'प्रेमोपहार पुस्तकमाला', 'त्रिलोक-मोहिनी-माला' और 'कन्या विद्यावलम्बिनी-पुस्तकमाला', 'शांतिधर्म', 'मैत्री-धर्म', 'सौभाग्य-रत्नमाला', 'उपदेशरत्नमाला', 'रसाल-वन' आदि परम नेत्ररंजक पुस्तकें 'प्रेममंदिर' से निकलीं।

कुमार देवेन्द्रप्रसाद का रूप जितना रमणीय था, उनके वचन उतने ही मन-मोहक थे। सुन्दर-सुन्दर चित्रों, पुस्तकों, प्राचीन पदार्थों और महात्मा-वाक्यों का संग्रह करने में बड़े शौकीन और सुजान थे। उन्हें बड़ी-बड़ी अच्छी लाइब्रेरियों, हरी-भरी फुलवारियों और खुले मैदानों में जाने पर हार्दिक प्रसन्नता होती थी। इंडियन प्रेस (प्रयाग) में (जहां उनकी पुस्तकें छपती थीं) पहुंचते ही वे प्रफुल्लित हो जाते थे। संध्या समय एकान्त में बैठकर साहित्यिक चर्चा करके वे सन्तोष अनुभव करते थे। उन्हें फलाहार से बड़ा प्रेम था। देहरादून से सेब और प्रयाग से अमरूद का पार्सल प्रति सप्ताह उनके पास पहुंचता ही रहता था। अन्न तो बहुत कम खाते थे, किन्तु खा चुकने के बाद ताजे फल की टोकरी की खूब खबर लेते थे। एक बार एक साल तक उन्होंने मिष्ठान्न खाना बिलकुल त्याज्य कर दिया था। पूछने पर उन्होंने कहा था कि एक अभीष्ट कार्य की सिद्धि के लिए ऐसा व्रत लिया है। सचमुच संकल्प पूर्ण होने पर ही उन्होंने मधुर पदार्थ का रसास्वादन किया और उसी समय चिट्ठी के बहुत-से कागज (लेटर-पेपर) छपवाये, जिन पर उठे हुए अक्षरों में लिखवाया—'संकल्पमात्रेण मदीयसिद्धिः'।

चिट्ठी लिखने का उन्हें असाध्य रोग हो गया था। सैकड़ों तरह के सुन्दर-सुन्दर लेटर-पेपर और लिफाफे अपने पास रखते थे। स्वास्तिक आदि चिह्न

बनवाकर विलायत से लेटरपेपर-लिफाफे मंगवाते थे। सोने और चांदी के एक-से-एक सुन्दर 'सेफ्टी पिन' उनके पास सदा मौजूद रहते थे। उन्हें 'वाटरमैन' या 'स्वान' के सिवा कलम-दवात से लिखना कभी रुचता ही न था। मैं तो उनके आरा रहने पर बराबर प्रेममंदिर में जाया करता था। किन्तु जब कभी जाता था, तब उन्हें पुस्तकों और पत्रों से घिरा हुआ और कुछ लिखने या पढ़ने में नितान्त निमग्न पाता था।

वे कभी शहर में घूमने नहीं निकलते थे। निकलते भी थे तो मनोरंजन-कार्यालय में, जैन-सिद्धान्त-भवन में, डाकखाने में, या मेरे गरीबखाने तक जाते थे। उन्हें जब तक डाक नहीं मिलती थी, तब तक अधीर रहते थे। जब चिट्ठरसां को देखते थे, तब प्रफुल्लित हो उठते थे। चिट्ठियों का उत्तर देने में कभी विलम्ब नहीं करते थे। रात को दो-तीन बजे तक जाग-जागकर चिट्ठियों का जवाब लिखते रहते थे। उनकी चिट्ठी की भाषा बड़ी ओजस्विनी, संक्षिप्त, किन्तु भावपूर्ण और सरस होती थी। वे धारा बांधकर अंगरेजी लिखते और बोलते थे। उनकी प्रकाशित हिन्दी और अंगरेजी की कुल पुस्तकों की संख्या पचास के लगभग है। रोज उन्हें अपनी प्रकाशित पुस्तकों के पचासों पार्सल तैयार करने पड़ते थे। वे स्वयं पार्सल बांधते थे, लेबिल लिखते थे और साटते थे, वी० पी० का फार्म भरते और रजिस्टर पर चढ़ाते थे। काम पूरा करने की धुन में वे खाना-पीना तक भूल जाते थे।

वे अपनी सभी वस्तुएं अच्छी तरह सजाकर रखते थे। यहां तक कि अंधेरे में भी वे जिस वस्तु को लेना चाहते थे, उसी पर उनका हाथ पड़ता था। जब मैं उनके साथ प्रयाग के क्रिश्चियन कॉलिज के फिलाडेल्फिया-होस्टल में रहता था, तब उन्होंने एक अजीब काम कर दिखाया। मैं तो चकित हो गया। रात को दो बजे वे उठे और दियासलाई ढूंढ़ने लगे। मैंने याद दिलायी कि सलाई चौके से लौटकर नहीं आयी। पर वे अंधेरे में ही उठ बैठे और टेबल-कुर्सी से जा लगे। बीस-पचीस चिट्ठियां अंधेरे में ही रगड़कर रख दीं, कार्ड-लिफाफों पर पता भी लिख मारा। फिर कुछ किताबों का पैकेट भी बांधा। सब पर टिकट लगाकर एक ओर सजा दिया। मैं कहता जाता था कि अंधेरे में सब परिश्रम निष्फल जायेगा। किन्तु प्रातःकाल होते ही मैं दुरुस्तगी देखकर दंग रह गया।

उनकी दूसरी शादी १९२१ में प्रेमलता देवी से हुई थी। (प्रथम पत्नी का देहान्त चार वर्ष पूर्व ही हो चुका था।) द्वितीय पत्नी के नाम से ही 'प्रेममंदिर' का प्रकाशन-कार्य करना उनको अभीष्ट था। किन्तु कौन जानता था कि प्रेम-मंदिर का गगनचुम्बी कलश एकाएक अनभ्र वज्रपात से चूर्ण हो जायेगा ?

'योऽर्थोऽसंभावनीयस्तमपि घटयते क्रूरधर्मा विधाता !'

शादी के कुछ ही दिन वाद, होली से एक सप्ताह पूर्व (मार्च, १९२१) वे कलकत्ता में शीतला रोग से पीड़ित होकर काल-कवलित हो गये। संयोग और मित्रता का सार कुछ ऐसा था कि मैं भी उससे कुछ ही पहले कलकत्ता आ गया था। वे कलकत्ता जाने के समय मुझसे स्वयं मिले थे। किन्तु मुझ गरीब को क्या मालूम कि यही अंतिम भेंट है। मैं पूज्यवाद पं० ईश्वरीप्रसादजी के साथ उनसे मिलने गया तो देखा कि वे शीतला-रोग की वेदना से मूर्च्छित हुए जाते हैं। जीवन में वैसा रोमांचकारी, हृदयद्रावक और भयंकर दृश्य मैंने कभी नहीं देखा था। मृत्यु-शय्या पर वे तड़प रहे थे। कुमार के कमनीय कलेवर को मृत्यु-राक्षसी बड़ी भयंकरता और निर्दयता से लीलती जाती थी। उधर कलकत्ता के बड़तल्ला मुहल्ले में हजारों बिजली-वत्तियों का दीपक बल उठा और इधर हिन्दी-संसार तथा जैन-समाज का एक देदीप्यमान दीपक बुझ गया!

आचार्य चन्द्रशेखर शास्त्री

विहार प्रदेश के शाहाबाद जिले में 'ब्रह्मपुर' वहुत प्रसिद्ध स्थान है। वहां फाल्गुनी और वैशाखी शिवरात्रि के अवसर पर वहुत वड़ा मेला होता है। शिवजी का वैसा विशाल और प्रशस्त मन्दिर विहार में शायद ही कहीं हो। कहते हैं कि महाकवि तुलसीदास वहां आये थे। वहां से एक-डेढ़ कोस दक्षिण जो 'रघुनाथपुर' नामक गांव है, उसका नामकरण गोस्वामी तुलसीदास ने ही किया था। यह रघुनाथपुर पूर्वी रेलवे का एक स्टेशन है।

उपर्युक्त ब्रह्मपुर से लगभग एक कोस उत्तर 'निमेज' नाम का एक बड़ा गांव है। शास्त्रीजी उसी गांव के निवासी थे। पर उन्हीं के कथनानुसार वह अपने बालपन में ही जो घर से निकले तो फिर गांव में कभी बसेरा न लिया। संयोग-वश यदा-कदा गांव आते-जाते थे, किन्तु रहे जीवन-भर वाहर ही। कहा करते थे, 'बचपन में मुझे घुड़सवारी का बड़ा शौक था। गधा और खसी पर चढ़कर अभ्यास करता था। खेतों में चरते हुए 'लद्दू टट्टुओं पर चढ़कर घूमता चलता था। तव धूप और वर्षा की भी कुछ परवाह न थी। बचपन का यह अभ्यास सयाना होने पर घुड़सवारी में बड़ा काम आया।'

एक बार पंडित सकलनारायण शर्मा (महामहोपाध्याय) से बातचीत करते समय शास्त्रीजी ने उपर्युक्त बातें वतलायी थीं। शर्माजी ने भी अपने बचपन का किस्सा सुनाते हुए कहा था, 'मैं तो उठती जवानी तक सैलानी रहा, बचपन में नम्बरी नटखट और रेख-उठान तक हुड़दंगी।'

किन्तु बचपन के ये दोनों घुमक्कड़ आगे के जीवन में संस्कृत के उद्भट विद्वान् हुए। हिन्दी-जगत् में भी दोनों का यश अमर है।

शास्त्रीजी जब बालक थे, तभी उनके मन में विद्यानुराग जाग उठा। वह डुमरांव (शाहाबाद) जाकर वहां के राजा की संस्कृत-पाठशाला में पढ़ने लगे। ऐसे प्रतिभाशाली निकले कि दूसरे विद्यार्थी उनसे बड़ी ईर्ष्या करने लगे। पर सहनशीलता उनके स्वभाव की मुख्य विशेषता थी। धैर्य के साथ उन्होंने काशी जाने की योग्यता अर्जित कर ली।

काशी में उन्होंने क्वीन्स कॉलेज में नाम लिखाया। कॉलेज के प्रिंसिपल वेनिस साहब ने उनकी लगन और श्रद्धा से सन्तुष्ट होकर कई अंग्रेज और जर्मन छात्रों को संस्कृत सिखाने का काम सौंप दिया। शास्त्रीजी कहा करते थे कि वेनिस साहब तो संस्कृत के अनन्य अनुरागी थे ही, संस्कृत सीखने वाले अंग्रेज और फ्रेंच तथा जर्मन छात्रों में जो तत्परता थी वह भारतीय छात्रों में भी नहीं थी। यूरोपवालों के संस्कृत-प्रेम की प्रशंसा वह प्रायः किया करते थे। जिन विदेशी छात्रों को वह संस्कृत पढ़ाते थे उन लोगों ने वेनिस साहब से शास्त्रीजी की अद्भुत मेधाशक्ति की बड़ी प्रशंसा की। वेनिस साहब भी उन्हें प्रत्येक कक्षा में सर्वोच्च स्थान पाते देखकर बहुत प्रभावित हुए थे। उनसे शास्त्रीजी को प्रोत्साहन तो मिलता था, पर वह कभी उनसे अपने अभावों की चर्चा नहीं करते थे। उन्हें जो छात्रवृत्ति और संस्कृत पढ़ाने का पारिश्रमिक मिलता था उसी से अपना निर्वाह कर लेते थे। डुमरांव अथवा काशी में पढ़ते समय कभी घर से कोई सहायता न मांगी। स्वावलम्बन ही उनका आजीवन व्रत रहा। जब वह अपने अभावों और कष्टों की कहानी सुनाने लगते थे, तब उनकी विद्वता और तपस्या देखकर उनके प्रति अनायास ही श्रद्धा उत्पन्न होती थी।

छात्रावस्था में उन्हें कई बार भूखों रह जाना पड़ा। जाड़े में भी धोती की जगह अंगोछा-मात्र लपेटे, नंगे बदन, कम्बल ओढ़े रह जाते। पर किसी दशा में उन्होंने कभी किसी के आगे हाथ नहीं पसारा। एक बार तो पैसा न रहने पर अपने गांव से पैदल ही काशी की ओर चल पड़े थे। अभावों और कठिनाइयों को वह ईश्वर की देन कहा करते थे। हर हालत में सदैव प्रसन्न रहना उनका सहज स्वभाव था। दरिद्रता को वह अपनी जीवनसंगिनी कहते थे, जिसका वरण उन्होंने स्वेच्छापूर्वक किया था।

जहां तक मुझे याद है, लगभग बावन वर्ष की उम्र में भूकम्प के साल उनका देहान्त हुआ, तो हिन्दी-संसार के प्रतिष्ठित विद्वानों और पत्र-पत्रिकाओं ने मुक्तकंठ से उनका गुणगान किया था। उनके विषय में लोकमत का उतना ऊंचा धरातल देखकर ही समझ में आया कि वह देश की कितनी बड़ी विभूति थे। परन्तु यह संसार कभी युगपुरुष को जीते-जी नहीं पहचानता।

शास्त्रीजी के काशी के सहपाठियों में स्वनामधन्य पंडित रामावतार शर्मा (महामहोपाध्याय) भी थे। महामहोपाध्याय गंगाधर शास्त्री के दोनों ही पट्टशिष्य

थे। दोनों ही अपने युग की गौरववृद्धि कर गए। शर्माजी को भी, उनके निधन के बाद ही, बड़े-से-बड़े विद्वानों ने कपिल-कणाद के तुल्य कहा। यही इस संसार की रीति चली आ रही है। शर्माजी और शास्त्रीजी ने बिहार की धरती पर जन्म लेकर उसे धन्य बनाया, पर उसने दोनों अनमोल लालों को ठीक-ठीक नहीं पहचाना। मृत्यु के उपरान्त ही पिंड़दान की तरह कीर्तिगान करने की भी परम्परागत प्रथा है। शास्त्रीजी सच्चे त्यागी-तपस्वी थे, यह बात अगर दुनिया निगोड़ी उनके उठ जाने से पहले समझ पाती, तो शायद उसकी असलियत की पोल खुल जाती।

शास्त्रीजी के सर्वप्रथम दर्शन का सौभाग्य मुझे प्रयाग में प्राप्त हुआ था। 'विद्यार्थी' के सम्पादक पंडित रामजीलाल शर्मा के घर पर बैठे वह कुछ लिख रहे थे। उस समय वह 'शारदा' नामक संस्कृत-मासिक पत्रिका के सम्पादक थे। 'समाज' नाम का एक हिन्दी-मासिक पत्र भी निकालते थे। मेरे साथ मेरे मित्र कुमार देवेन्द्रप्रसाद जैन भी थे। जैनजी ने अपने प्रेम-मन्दिर (आरा) से 'प्रेमकली' 'प्रेम-पुष्पांजलि', 'त्रिवेणी', 'सेवाधर्म' आदि सुन्दर पुस्तकें प्रकाशित की थीं। वे पुस्तकें वहां के इंडियन प्रेस में बड़े आकर्षक ढंग से छपी थीं, उन पर शास्त्रीजी की सम्मति की आवश्यकता थी। शास्त्रीजी उन पुस्तकों को देखकर हंसते-हंसते कहने लगे, 'आज बीसवीं शताब्दी के उषःकाल में चारों ओर प्रेम-पुष्पों की सुगन्ध बड़े वेग से फैल रही है—जान पड़ता है कि मध्याह्न होते-होते यह मादक गन्ध नयी पीढ़ी को मदान्ध बना देगी—आपको साहित्य-सेवा करने का अनुराग ईश्वर ने दिया है, तो रामायण-महाभारत आदि को हिन्दी-प्रेमियों तक पहुंचाने का प्रयत्न कीजिए।'

जैनजी उनका मुंह ताकने लगे। वह (शास्त्रीजी) दो टूक बात कहने में बड़े निर्भीक थे। स्पष्टवादिता भी उनकी एक विशेषता थी। वह जैनजी को हतोत्साह देखकर भी कहते ही रहे, 'मनुष्य को प्रेम सिखाने की आवश्यकता नहीं है, वह सांसारिक प्रेम में अत्यन्त निपुण है, उसे परमार्थ और परमात्मा के प्रेम की ओर प्रेरित करने की आवश्यकता है।'

जैनजी ने मन्द स्वर में निवेदन किया कि यही सम्मति लिखकर देने की कृपा कीजिए। पर उन्होंने फिर कहा, 'अनुचित प्रोत्साहन देने के लिए सम्मति प्रदान करना मेरी प्रकृति के विरुद्ध है। मेरा मत है कि सबसे पहले अपने देश के प्राचीन साहित्य का उद्धार और प्रचार होना चाहिए तथा उसी के आधार पर नये साहित्य की सृष्टि करनी चाहिए, फिर कूपमंडूकता के दोषारोपण से बचने के लिए अन्यत्र के साहित्य को अपनाना चाहिए। प्रेम और सेवा पर जो साहित्य आपने (जैनजी ने) प्रकाशित किया है, उसमें अधिकांश विदेशी सामग्री है। क्या आपको पता है कि भारतीय साहित्य में प्रेम और सेवा पर जो सामग्री मिल सकती है, वह

अन्यत्र कहीं नहीं ?'

जैनजी मौन हो रहे। तब शास्त्रीजी ने मेरा परिचय पूछा। वह यह जानकर बड़े प्रसन्न हुए कि मैं भी उन्हीं के जिले (शाहाबाद) का निवासी हूं। उन्होंने यह उपदेश दिया कि हिन्दी-लेखक बनना चाहते हो, तो संस्कृत खूब पढ़ो। मैंने जब कहा कि संस्कृत की प्रथमा परीक्षा पास कर चुका हूं, तब बड़े जोर से हंसकर मेरी पीठ ठोकते हुए बोले कि तुम बड़े भोले जान पड़ते हो। अरे, मैं तो साहित्याचार्य होने पर भी यही समझता हूं कि अभी संस्कृत-महासागर को दूर से ही तरंगित देख रहा हूं, उसमें प्रवेश करना तो दूर, उसके तट तक भी नहीं पहुंचा हूं।'

उनकी यह बात सुनकर मेरा चेहरा उतर गया। मैंने कहा कि मैं संस्कृत पढ़ना चाहता हूं। बोले, 'तुम्हारे ठाट-बाट से संस्कृत पढ़ने के लक्षण नहीं प्रकट होते। तुम बाल संवारे और पान खाये हुए हो, तुम्हारे जूते चमकते हैं, सुनहली कमानी का चश्मा है—ये सब लक्षण संस्कृत सीखने के नहीं हैं। अंग्रेजी-फारसी की तरह संस्कृत नहीं सीखी जा सकती, उसके लिए कठोर साधना की आवश्यकता है—संस्कृत के विद्यार्थी को ब्रह्मचारी और संयमी होना चाहिए, वह ऋषियों और त्यागी-तपस्वियों की भाषा है। विलासियों से देववाणी की पटरी नहीं बैठती।'

उनके वे मार्मिक शब्द आज भी मेरे कानों में गूंज रहे हैं। मैं हतप्रभ हो गया। पहाड़ के पास पहुंचकर ऊंट अपनी ऊंचाई भूल गया।

पंडित रामजीलाल शर्मा आर्यसमाजी थे। वह पहले इंडियन प्रेस में 'सरस्वती' विभाग का काम करते थे। फिर स्वतन्त्र रूप से प्रेस खोलकर 'विद्यार्थी' निकालने लगे और स्वावलम्बी बनकर अपने अध्यवसाय के बल से बहुत उन्नति कर गए। अपने देश के विद्यार्थियों के लिए उन्होंने प्रचुर सत्साहित्य प्रकाशित किया। शास्त्रीजी के बाद वह भी हम दोनों को सीख देने लगे। उन्होंने दयानन्द सरस्वती के आदर्श जीवन से शिक्षा ग्रहण करने की सलाह दी। शास्त्रीजी सनातनधर्मी थे। उनकी स्वाभाविक विनोदप्रियता हुलसी। बोले, 'तुम लोग मेरे मित्र शर्माजी की बात मानकर स्वामीजी के आदर्श से अवश्य पाठ सीखो, क्योंकि इन्होंने भी स्वामी के सिद्धान्तों के अनुसार कोट-पतलून धारण किया है और एक यवनी युवती की शुद्धि करके उससे विवाह किया है तथा एक अक्षतयोनि विधवा का पुनर्विवाह कराने के लिए अपने परिवार के एक युवक को प्रेरणा देकर उत्साहित कर रहे हैं। तुम लोगों की वेशभूषा से इनको पता लग गया कि तुम लोग विवाहित हो, नहीं तो ये अपना रसायन सिद्ध करने के लिए ठोक-पीटकर वैद्यराज बना लेते। आजकल इन्होंने यही धन्धा उठाया है कि मनचले नवयुवकों को देखकर विधवा-विवाह के लिए उन पर डोरा डालते रहते हैं।'

वे दोनों मित्र हंसने लगे और हम दोनों मित्र वहां से चल पड़े। जैनजी उस समय यमुना के पुल के पास वाले ईसाई-मिशनरी कॉलेज में पढ़ रहे थे। उन दिनों

उस अमेरिकन मिशन कॉलेज में विद्यार्थियों को इतनी स्वतन्त्रता प्राप्त थी कि जैनजी फिलाडेल्फिया-होस्टेल में पुस्तक-प्रकाशन-सम्बन्धी सारा कार्य स्वच्छन्दता-पूर्वक करते रहते थे। वह अपनी धुन के बड़े पक्के थे। उन्होंने इंडियन प्रेस के बूढ़े मालिक बाबू चिन्तामणि घोष के ज्येष्ठ सुपुत्र पोदी बाबू द्वारा पंडित रामजीलाल शर्मा को पत्र लिखवाया कि शास्त्रीजी की सम्मति प्राप्त कराने में सहायक हों। और भी अनेक सूत्रों का सहारा लिया। किन्तु शास्त्रीजी पर उनके ऐसे धुनी की भी कोई कला न लही।

शास्त्रीजी की सेवा में दूसरी बार उपस्थित होने की घटना पटना में हुई। घटना इसलिए कि इस बार भी अपने एक साहित्यिक मित्र के आग्रह से उनके पास गया। मित्र महाशय ने अखिल भारतीय हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन के मंगलाप्रसाद-पारितोषिक की प्रतियोगिता में अपनी एक पुस्तक भेजी थी, जो जांचने के लिए शास्त्रीजी के पास आयी थी। उन दिनों रेलवे लाइन के पास शास्त्रीजी अपने ओझाबन्धु आश्रम में रहते थे। सादगी और सफाई से सचमुच वह आश्रमतुल्य ही था।

मेरे मित्र को देखते ही वह ताड़ गए। उनकी प्रशंसा का पुल बांधने लगे। वह भी शास्त्रीजी का भाव भांप गए। दोनों को आपस में भले निपटते देख मैं मन-ही-मन हंसकर चुप रहा। शास्त्रीजी उनकी ओर इशारा करके मुझसे कहने लगे, 'इनके साथ तुम्हारे आने की कोई आवश्यकता न थी। इनको मैं खूब पहचानता हूं। इन्होंने पहले कभी मेरी कुटिया को कृतार्थ नहीं किया था, आज मेरी झोंपड़ी पवित्र हुई—भगवान् ही इनका मनोरथ सफल करेंगे।'

इसके बाद शास्त्रीजी ने मुझे अलग ले जाकर चेतावनी दी कि फिर कभी ऐसी मूर्खता न करना—मैं कभी किसी की सिफारिश नहीं सुनता। मंगलाप्रसाद-पारितोषिक की मर्यादा तुम नहीं समझते। चाटुकार को उसी के अनुरूप पुरस्कार मिलता है। तुम अपने मित्र को समझा दो कि अपने भाग्य पर भरोसा करें, अपनी योग्यता पर नहीं।

मेरे मित्र ने रास्ते में एकान्त की बात पूछी और मैंने कह भी दी। वह विद्वान् तो थे ही, शास्त्रीजी के कथन का औचित्य समझ पश्चाताप करने लगे।

तीसरी बार शास्त्रीजी 'मतवाला'-मंडल (कलकत्ता) में स्वयं पधारे। नंगे बदन, कम्बल ओढ़े प्रातःकाल पहुंचे। अपनी लिखी हुई पुस्तक 'दरिद्रकथा' की पांडुलिपि भी साथ ले गए थे। उसे स्वयं छपवाना चाहते थे। एक कलकतिया प्रकाशक ने उसे प्रकाशित करने का उन्हें वचन दिया था, पर उसने विवशता प्रकट कर दी। शास्त्रीजी कहने लगे, 'आज भोर होते ही एक कृपण का मुंह देखा था, इसलिए जहां आशा पूरी होनेवाली थी, वहां मैं नकार का शिकार हो गया और वहीं पर मैंने उस नकारने वाले तथा शिकार होनेवाले अपने आपको नमस्कार

किया, क्योंकि मुझ जैसे निरीह को नकार सुनानेवाला तो नमन के योग्य है ही, उसके समान नगण्य के नकार का शिकार होनेवाला मैं भी नमस्य ही हूं, इसी कारण मैंने वहां 'शिवपंचाशर-स्तोत्र' के दो श्लोक उसके सामने ही सुनाकर अपनी ग्लानि व्यक्त कर दी—

नागेन्द्रहाराय त्रिलोचनाय
भस्मांगरागाय महेश्वराय।
नित्याय शुद्धाय दिगम्बराय
तस्मै **नकाराय** नमः शिवाय॥

शिवाय गौरीवदनाब्जवृन्दसूर्य्याय दक्षाध्वरनाशकाय।
श्रीनीलकण्ठाय वृषध्वजाय तस्मै **शिकाराय** नमः शिवाय॥

अब इस 'दरिद्र-कथा' को 'चन्द्रशेखराय' संकल्प करके स्वयं ही प्रकाशित करने का दृढ़ निश्चय किया है। चाहता हूं कि इस छोटी-सी पुस्तक को एक ही सप्ताह में छपवाकर उस धन-मदान्ध प्रकाशक के पास पठवा दूं—वह भी एक दरिद्र ब्राह्मण का साहस देख ले।'

सचमुच उन्होंने पुस्तक की पांच प्रतियां उस प्रकाशक के पास यह लिखकर भिजवाई, 'आपके नकार को दूर से ही नमस्कार।'

जब मैं काशी में रहता था, तब शास्त्रीजी भी वहीं थे। वाल्मीकीय रामायण का हिन्दी-अनुवाद कर रहे थे। वहां के एक प्रकाशक ने उसे सात खण्डों में निकाला था। उन्होंने श्रीमद्भागवत और महाभारत का भी हिन्दी-अनुवाद किया था, परन्तु पूरा न कर सके। रामायण की तरह महाभारत में भी मूल के साथ अनुवाद छपा था। महाभारत को मासिक खंडों के रूप में स्वयं प्रकाशित करते थे। मैं भी उसका ग्राहक था। उनके निधन के बाद उनके ज्येष्ठ सुपुत्र पंडित प्रफुल्लचन्द्र ओझा 'मुक्त' जी भी महाभारत को उसी रूप में फिर कुछ दिनों तक निकालते रहे। वह काफी पूंजीवाला काम था। शास्त्रीजी ने अपने गृहस्थी को साधन-सम्पन्न बनाने के उद्देश्य से कभी द्रव्य-संग्रह पर ध्यान ही नहीं दिया। त्यागी तो उनके सदृश हिन्दी-जगत् में कम हीं हुए। त्याग और तप ही उनका असली वाना था।

एक बार उन्हें रोग-शैया पर देखने के लिए स्वामी सत्यदेव परिव्राजक आये और चुपके से कुछ गिन्नियां उनके सिरहाने तकिये के नीचे रख गए। शास्त्रीजी को पता चला तो तुरन्त स्वामीजी के पास सधन्यवाद लौटा दीं। अपने अभावों की पूर्ति के लिए उन्होंने कभी किसी मित्र की भी आर्थिक सहायता न चाही और न ली। ऐसी बात वह सोचते तक न थे। प्रयाग में जब अखिल भारतीय हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन के साहित्य-मंत्री थे, तब अपने दूरस्थ आवासगृह से सम्मेलन-

कार्यालय तक आने-जाने के लिए कभी इक्का-भाड़ा नहीं लेते थे। राजर्षि टंडनजी उनको भाई मानते-कहते थे, पर टंडनजी के आग्रह से भी वह अपने सिद्धान्त को लचने नहीं देते थे। वह अपनी स्थिति को प्रभु की देन समझ सदा उससे सन्तुष्ट ही रहे। आजीवन परिस्थितियों से सहर्ष संघर्ष करते रह गए। कठिनाइयों से जूझते समय भी उनके चेहरे पर कभी विषाद की रेखा नहीं दीख पड़ी। काशी में चौखम्भा के पास मोतीकटरा में उनके निवास-स्थान पर एक रात मैं मिलने गया तो वह किरासन तेल की ढिबरी जलाकर बटलोई मांज रहे थे। मुझे देखकर हंसते-हंसते पूछने लगे, 'तुमने कभी यह सुकर्म किया है या नहीं ? सद्‌गृहस्थ को पारिवारिक सेवा में संकोच न होना चाहिए, गुरुचरणों के समीप रहकर संस्कृत पढ़े बिना यह सेवा-प्रणाली अभ्यस्त नहीं हो सकती। तुम्हारे हिन्दी वाले आज-कल स्त्रियों की बड़ी दुर्दशा कर रहे हैं—पत्र-पत्रिकाओं में भांति-भांति की भावभंगी से भरे चित्र छप रहे हैं, कोई खड़ी है, कोई बैठी है, कोई सोयी है, कोई हंसती है, कोई प्रतीक्षा करती है, कोई वीणा बजाती है, कोई अभिसार करती है—क्या यह चित्रों का रीतिकाल है या भगवद्‌गीता के मिथ्या-प्रचार का मूर्तरूप है ?'

शास्त्रीजी के सरस विनोद बड़े आनन्ददायक होते थे। बातें करते समय दूसरों को 'मालिक' और अपने को 'भगवान्' शब्द से अभिहित करते थे, 'कहिए मालिक, आज 'भगवान्' का एक काम कर दीजिएगा !'

पंडित सकलनारायण शर्मा और पंडित ईश्वरीप्रसाद शर्मा के बाद शास्त्रीजी ही खंगविलास प्रेस (पटना) की साप्ताहिक पत्रिका 'शिक्षा' के सम्पादक हुए थे। उनकी 'भरतचरित' नामक पुस्तक उसी प्रेस से प्रकाशित हुई थी। उस प्रेस के स्वामी और 'शिक्षा' के संचालक रायबहादुर रामरणविजय सिंह (बबुआजी) उनका बड़ा सम्मान करते थे। उनकी निस्पृहता और चिरप्रसन्नता सबसे बरबस उनका आदर कराती थी। वह सच्चे अर्थ में एक मस्तमौला फकीर थे। नितान्त निरभिमान होते हुए भी सदा स्वाभिमान एवं सन्तोष के साथ दुर्दिन को झेलते रहना उनका जन्मजात गुण था। उनकी निर्भीकता और स्पष्टवादिता किसी के खिंचे रहने की परवाह नहीं करती थी। अभावों के दरेरे उनके धैर्य को कभी डिगा न सके। एक बार महाशक्ति प्रेस (काशी) में प्रसिद्ध कथाकार कौशिकजी से बातें करते समय उन्होंने हंसकर कहा था कि कठिनाइयां-कामिनियां अपने पादमंजीर की रुनझुन मुझे सुनाती रहती हैं, तो कौशिकजी मौन होकर उनका उल्लसित मुखड़ा घूरने लगे और चले जाने पर इस वाक्य को दुहराते हुए झूमने लगे।

जब मैं प्रयाग के इंडियन प्रेस की अतिथिशाला में रहकर काशी नागरी प्रचारिणी सभा की ओर से द्विवेदी अभिनन्दन-ग्रन्थ छपवाता था, शास्त्रीजी से

उस ग्रन्थ के लिए एक लेख मांगने गया। उन्होंने पूज्य आचार्य (द्विवेदीजी) की साहित्य-सेवा और संस्कृतज्ञता तथा उनकी पुस्तक 'कालिदास' की निरंकुशता पर अपने प्रशंसात्मक और समीक्षात्मक विचार व्यक्त करते हुए एक संस्मरणात्मक लेख लिखने का वचन दिया। मैंने लेख लेने के लिए फिर आने का समय पूछा तो हंसकर बोले कि अपनी श्रद्धांजलि लेकर मैं ही स्वयं आऊंगा और सचमुच दूसरे ही दिन आये भी। लेख उनका छोटा ही था—'द्विवेदीजी की एकनिष्ठ साधना'—पर उसे देखकर 'सरस्वती'-सम्पादक पंडित देवीदत्त शुक्ल कहने लगे कि भंग में जैसे केसर की भीनी-भीनी सुगंध बोलती है, वैसे ही शास्त्रीजी के लेख के शीर्षक में उनकी 'एकनिष्ठ' साधना बोल रही है। अब जान पड़ता है वैसी साधना का युग लद गया!

श्री गणेशशंकर विद्यार्थी

सन् १९१८ ई० में दिल्ली की तैंतीसवीं कांग्रेस हुई थी। लोकमान्य तिलक सभापति चुने गये थे। किन्तु उनके विलायत चले जाने से महामना मालवीयजी सभापति हुए। स्वागताध्यक्ष थे हकीम अजमल खां। मैं उन दिनों 'आरा' (बिहार) के टाउन-स्कूल में हिन्दी-शिक्षक था। पूज्य पं० ईश्वरीप्रसादजी शर्मा आगरा से निकलनेवाले सचित्र मासिक पत्र 'धर्माभ्युदय' के सम्पादक थे। उन्हीं की सलाह से मैं 'आरा'- नागरी-प्रचारिणी सभा के पुस्तकालय को दुरुस्त कर रहा था। उनका बड़ा आग्रह था कि एक बार इधर आकर 'ताजमहल' जरूर देख जाओ। मैं सुअवसर की ताक में था। दशहरे की छुट्टी से पहले ही उनका कृपा-पत्र आया कि जल्दी-से-जल्दी आगरा आओ, 'धर्माभ्युदय' के मालिक सेठ लक्ष्मीचन्द-जी की सरस्वती-लाइब्रेरी को ठीक करना है। मैं तो ऐसे सुयोग की ताक में था ही, पत्र पाने के कुछ ही दिनों बाद आगरा चला गया।

एक रोज विद्यार्थीजी का पत्र शर्माजी के पास आया कि दिल्ली की कांग्रेस में जरूर चलिए, भेंट होने पर बातें होंगी।

पत्र पाते ही शर्माजी ने मुझे वहीं रोक रखा। मैं भी कांग्रेस में दिल्ली गया। आगरा के बेलनगंज मुहल्ले के नवयुवकों की एक खासी टोली थी। सेठजी के एक लड़के फूलचन्दजी भी थे। किन्तु हम लोग बाबू सोनासिंह चौधरी (अस्तंगत 'पाटलिपुत्र' के सम्पादक) के यहां जाकर ठहरे। चौधरीजी के साथ उनके सहकारी पं० रामानन्द द्विवेदी भी थे। वहां साहित्यिक मण्डली भी जुटती थी।

पंडित शिवनारायण द्विवेदी उन दिनों दिल्ली से निकलनेवाले साप्ताहिक 'हिन्दी-समाचार' के सम्पादक थे। काले कश्मीरे का कोट-पैण्ट डाटे प्रायः पहुंचा करते, क्योंकि चौधरीजी उन्हीं के अतिथि थे। 'समाचार'-कार्यालय के पास ही

एक मकान में डेरा-डण्डा था। द्विवेदीजी बड़े सहृदय और एक अच्छे कहानी-लेखक होने के कारण बड़े भावुक भी थे। चौधरीजी एक नम्बर के मसखरा थे। शर्माजी भी लटके-लतीफे छोड़ने में बड़े उस्ताद थे।

जिस समय झालरा पाटन के पं० गिरिधर शर्मा 'नवरत्न' रुईदार पाजामा और लम्बी रुईदार अचकन पहने हुए चौधरीजी के पास पहुंचे, खास साहित्य-सम्मेलन हो गया। 'नवरत्न' जी का डीलडौल और भड़कीला पहनावा थोड़ी देर के लिए मनोरंजन का साधन बन गया। उन्होंने ही कहा कि विद्यार्थीजी भी मिले थे। बस शर्माजी निकल पड़े विद्यार्थीजी की तलाश में। 'जिन ढूंढ़ा तिन पाइयां।' किले के मैदान में कांग्रेस का पण्डाल था। हम लोग लपके चले जा रहे थे। पीछे से शर्माजी के कन्धे पर किसी ने हाथ रखा—'कहां दौड़े जा रहे हो जी ?'

शर्माजी ने पीछे मुड़कर देखा। दोनों गले मिले। मैंने देखा, मोटे दल के शीशे वाले चश्मे में से दो तेजस्विनी आंखें झांक रही हैं। पतले-पतले होंठ, चमकीले दांत, गोल सफेद फैल्ट कैप, लम्बा ओवरकोट। बात-बात में मस्ती-भरी ठहाके की हंसी। तेज जबान, चुस्त भाषा, शब्द-शब्द पर जोर ! कभी ललाट में सोचावट की सिकुड़न, कभी जोश से तमतमाया हुआ चेहरा। मुंह से निकले हुए प्रत्येक शब्द पर हृदय के बल की गहरी छाप। राजनीतिक चर्चा का सिलसिला चलने पर कभी झुंझलाहट, कभी तीव्रता, कभी गंभीरता, कभी दांतों से होंठ चांपकर मुष्टिवद्ध भुजा को हथेली पर पटक-पटककर अपनी निश्चयात्मिका बुद्धि का प्रदर्शन ! मैं मुग्ध हो-होकर देखता जाता था। कैसा प्रभावशाली था वह प्रथम दर्शन !

दूसरी बार। शायद १९२१ या २२ ई० की बात है। मैं 'आरा' से निकलने वाले सचित्र मासिक पत्र 'मारवाड़ी-सुधार' का सम्पादक था। उसकी सहायता के निमित्त मैं कानपुर में धनी-धोरी मारवाड़ियों से मिलने गया। 'प्रताप'-कार्यालय में उतरा। फीलखाना मुहल्ले में फीलखाने के समान ही मकान ! अन्दर जाने पर नये रंगरूट सम्पादक को किसी ने पहचाना नहीं; पर थोड़ी देर बाद भिषग्रत्न पं० शिवनारायण मिश्रजी पहुंचे, तो मैंने अपनी पूर्व-सूचना का हवाला देकर परिचय दिया। बड़े तपाक से मिले। सुहृद की तरह पेश आये। सुबह का वक्त था। नहाने-धोने के लिए सम्पादकीय कमरे से बाहर पिछवाड़े की छत पर आया, तो यह देखकर बड़ा आश्चर्य हुआ कि ऐसे खंडहर में से 'प्रताप'-जैसा प्रभावशाली पत्र किस तरह निकलता है ! एक टूटे-फूटे मकान के अन्दर रहकर देश की इतनी बड़ी सेवा करना महापुरुष का ही काम हो सकता है।

मैं काशी, प्रयाग, बम्बई और कलकत्ता में अखबारों के सजीले ऑफिसों को देख चुका था, जहां बिजली की रोशनी, पंखे और टेलीफोन की माया फैली हुई थी।

किन्तु 'प्रताप'-कार्यालय किसी गरीब किसान की झोंपड़ी-सा प्रतीत हुआ। न कहीं कोई सजावट, न कहीं कुछ भड़कीलापन। जान पड़ा—जनता की सेवा करने की धुन में किसी को बाहरी आडम्बर की चिन्ता ही नहीं है। पत्र को सर्वांगसुन्दर और सर्वोपयोगी बनाने की इतनी सच्ची लगन; और जिस मकान से पत्र निकलता है उसकी भग्नावस्था पर कुछ ध्यान ही नहीं! इस परमहंसी ठाट में कितनी ऊंची महापुरुषता झलकती थी, मैं समझ ही न सका।

थोड़ी ही देर बाद खद्दर की गांधी-टोपी और खद्दर का कोट पहने तथा कन्धे से खद्दर का थैला लटकाये एक सज्जन ने कमरे में प्रवेश किया। मिश्रजी बोले, 'आपही पालीवालजी[1] हैं—'प्रताप' के वर्तमान सम्पादक।' मैंने उठकर अभिवादन किया। बड़ी सहृदयता से मिले। कई नामी-गरामी सम्पादकों के पास पहुंचकर मैं ठोकर खा चुका था। कितने ही सम्पादक तो जरा बोलते भी न थे; स्वागत-सत्कार की क्या कथा! किन्तु पालीवालजी का बन्धुत्व, उनकी उदारता और सरलता देखकर मैंने बहुत बड़ा सबक सीखा। 'प्रताप'-कार्यालय जन्मभूमि की भांति सुखकर प्रतीत हुआ। बिलकुल घर का-सा बर्ताव, जरा भी तकल्लुफ नहीं।

पालीवालजी ने बड़े स्नेह के साथ मुझे अपने पास बिठाकर उन मारवाड़ी नवयुवकों और हिन्दी-प्रेमी सेठों के नाम लिखवाये, जिनसे मिलकर मैं सफलता पा सकता था। मुझे ठीक याद है, पहला नाम था बाबू नवलकिशोर भरतिया का, जिनसे मिलकर सचमुच मैं बड़ा संतुष्ट हुआ।

कुछ देर बाद 'नवीन' जी और 'कौशिक' जी एक साथ ही कार्यालय में दाखिल हुए। परिचय हुआ। कहकहा मच गया। 'नवीन' जी कुर्सी पर झूम-झूमकर गाने लगे[2]। कविता बड़ी हृदयग्राहिणी थी। स्वर में बड़ा ओज था। भाव-भंगी उसे सजीव बना रही थी। और वह दिन कौन-सा था? ठीक उसी दिन श्रद्धेय विद्यार्थीजी लखनऊ-जेल से शायद नैनी-जेल में जाने के लिए करीब ३-४ बजे शाम की गाड़ी से कानपुर होकर गुजरनेवाले थे। हंसते-खेलते सब लोग स्टेशन पहुंचे। थोड़ी देर में गाड़ी आयी। एक डिब्बे की खिड़की से दिव्य झांकी मिली। चश्मा वही था; लेकिन फैल्ट-कैप की जगह गांधी-टोपी और ओवरकोट की जगह खद्दर

---

१. पं० श्रीकृष्णदत्त पालीवाल।

२. 'हमने आपका सर्वप्रथम दर्शन सन् १९२१ ई० में, कानपुर के 'प्रताप'-कार्यालय में किया था। उसके बाद जब-जब आप मिले, आपकी सहृदयता से स्नेह-तन्तु दृढ़ होता गया। आप में सदा उमड़ती रहने वाली एक अजीब मस्ती थी।'

के कुर्त्ते ने ले ली थी। दाढ़ी एक नयी विशेषता थी। चेहरे पर वैसी ही हंसी, बोल-चाल में वही बेफिक्री, मिलने-जुलने में वही बन्धुत्व। सबसे हंस-हंसकर मिले। इस दुबारे दर्शन का स्मारक-चिह्न वह प्लेटफार्म-टिकट आज भी मेरे संग्रहालय में सुरक्षित है।

तीसरी बार लखनऊ में दर्शन हुए। मैं 'माधुरी' के सम्पादकीय विभाग में काम करता था। उस समय श्रीदुलारेलालजी भार्गव के गंगा-पुस्तकमाला-कार्यालय (अमीनाबाद-पार्क) में ही उसका ऑफिस था। उस ऑफिस के पास ही कांग्रेस-कमेटी का दफ्तर था। मैं पं० शान्तिप्रिय द्विवेदी के साथ ऑफिस से निकलकर पार्क के इर्द-गिर्द सड़कों पर टहल रहा था। इतने में तांगे पर जाते हुए विद्यार्थीजी के दर्शन का अचानक सौभाग्य प्राप्त हुआ। हम लोगों के अभि-वादन करते ही वे हंसते हुए तांगे से उतर पड़े। हम दोनों के कंधों पर अपनी भुजाएं रखकर बीच में हो लिये और हाल-चाल पूछते हुए आगे बढ़े। जब आगे-पीछे से कोई गाड़ी या मोटर की आवाज आती, तब हम लोगों को बाहुपाश में समेटकर किनारे कर लेते। चहल-कदमी करते हुए शरबत की एक दूकान पर पहुंचे। आखिर शरबत पीने के बाद जब मैं जेब से पैसे निकालकर अपनी बेवकूफी और तंगदिली का इजहार करने लगा, तब बड़े जोर का ठहाका लगाकर बोले—'वाह शिवपूजनजी ! आप झूठ-मूठ अपने को ईश्वरीजी का शिष्य बताते हैं—उनमें तो इतना तकल्लुफ नहीं है। आपको 'माधुरी' वाले कितना देते हैं ? आप कितना बचाकर घर भेजते हैं ?' यह कहते हुए उन्होंने अपनी जेब से रुपया निकालकर शरबतवाले की ओर फेंक दिया। इसके बाद बोले—'मैं आज रहूंगा, कल फिर मुलाकात और बातचीत होगी; एक जरूरी काम से जा रहा हूं।' हम-लोगों ने नतमस्तक होकर करबद्ध प्रणाम किया। उन्होंने हम लोगों की पीठ थपथपाते हुए कहा—'खूब जी लगाकर साहित्य-सेवा करते जाइए, पुरस्कार या प्रशंसा की आशा कभी न कीजिएगा। हां, कभी आयेगा समय···।' कहते हुए ही तांगे पर सवार हुए और चल दिये।

दूसरे दिन मैं अकेला ही जा मिला। तांगे पर साथ-साथ स्टेशन ले गये। बातों के सिलसिले में कहने लगे—'आप 'टॉड—राजस्थान' की घटनाओं के आधार पर बालकों और नवयुवकों के लिए रोचक कहानियां लिखिए। प्रकाश-पुस्तकालय (कानपुर) से मैं प्रकाशित करा दूंगा। आपकी भाषा मुझे पसन्द है। जन्माष्टमी करीब है। 'प्रताप' का एक सुन्दर अंक निकालने का इरादा है। एक सप्ताह में कुछ लिख भेजिए।' मैंने नम्रतापूर्वक आदेश को शिरोधार्य किया। तांगा स्टेशन पहुंचा। गाड़ी आयी। वे मेरा कंधा पकड़कर झकझोरते हुए बोले—'मैं ईश्वरीजी को उलाहना भेजूंगा कि शिवपूजनजी को ऐसा संकोची और निरीह क्यों बना रखा है।'

चौथी बार कलकत्ता में दर्शन हुए। मैं 'मतवाला' मण्डल में दूसरी बार लखनऊ से लौटकर आया था। ६/३ बलराम-डे स्ट्रीट में पूज्य पं० ईश्वरीप्रसाद-जी शर्मा के साथ सपरिवार रहता था। शर्माजी के यहां उन दिनों 'दैनिक प्रताप' बराबर आता था। एक दिन कलकत्ता के पत्रों में श्रद्धास्पद विद्यार्थीजी के शुभा-गमन की सूचना देखने में आयी। शर्माजी ने शाम को उनसे मिलने का प्रोग्राम बनाया। मगर बीच ही में घर बैठे विद्यार्थीजी आ मिले! शर्माजी से कहने लगे— 'प्रताप की सहायता के लिए अर्थ-संग्रह करने आया हूं, भाई! दैनिक में बड़ा खर्च है। इतने दिनों से कलकत्ता में गोटी जमाये बैठे हो, कुछ दिलवाओ। लेकिन देने-लेने की बात तो पीछे होगी, पहले रसगुल्ले खिलाओ। देखता हूं, 'दैनिक प्रताप' की पूरी फाइल तुम्हारे पास है। सब जुगाकर रखते जा रहे हो क्या?'

शर्माजी ने झट रुपया निकालकर मुझे दिया कि ट्राम से जाकर बागबाजार के रसगुल्ले ले आओ। विद्यार्थीजी ने मेरी हथेली पर से रुपया उठाकर अपनी जेब में डालते हुए कहा—'इनको क्यों हैरान करोगे, मैं रास्ते में उधर खा लूंगा।' अट्टहास से कमरा गूंज उठा। फिर मेरे विषय में पूछने लगे—'माधुरी' को क्यों छोड़ आये भाई? 'मतवाला' में कौन-कौन हैं? उसे हिन्दी का विलायती 'पंच' बनाओ। कभी-कभी वह बेतरह ढाल लेता है। गन्दे और टुच्चे मजाक से जनता की रुचि भ्रष्ट होती है, शुद्ध विनोद से साहित्य परिपुष्ट होता है। निर्दोष व्यंग्य-विनोद से भी तो मतवालापन निबह सकता है? कभी-कभी वह सनककर कीचड़ उछाल देता है। हंसी तो जरूर आती है; मगर साथ ही घृणा भी पैदा होती है।' मैंने हाथ जोड़कर कहा—'एक बार पधारकर 'मतवाला' मंडल को भी कृतार्थ कीजिए। आज या कल, किसी समय जब अवकाश हो।' खेद प्रकट करते हुए बोले—'माफ करो भाई, फिर कभी आना पड़ा, तो कोशिश करूंगा; इस बार तो बिलकुल समय नहीं है। और मुझे वहां ले जाकर क्या करोगे? मैं कोई साहित्यिक थोड़े हूं, मैं तो एक मामूली किसान हूं, बस। किसान को दिल्लगी से क्या निस्बत, वह तो रोटी के लिए परेशान रहता है। मरभुक्खों को दिल्लगी नहीं सूझती, वह तो बाबुओं के दिल-बहलाव की चीज है। मैं बाबू नहीं हूं, खेतिहर हूं—खेतिहर—ठेठ किसान! क्यों शर्माजी?'

३

'मतवाला'-मंडल

कलकत्ता : १९२१—

•

असहयोग आंदोलन १९२० में प्रारम्भ हुआ था जिसमें आरा टाउन-स्कूल की सरकारी नौकरी से इस्तीफा देकर शिवपूजनसहाय वहीं राष्ट्रीय विद्यालय में अध्यापक हुए। अपने साहित्यप्रेमी छात्र हरद्वार प्रसाद जालान एवं उनके कुछ स्वजातीय मित्रों द्वारा स्थापित 'मारवाड़ी-सुधार-समित' के मुखपत्र 'मारवाड़ी-सुधार' के प्रकाशन-संपादन के लिए मार्च; १९२१ में अध्यापन-कार्य छोड़कर कलकत्ता चले गये। अपने शिक्षक एवं साहित्यिक गुरु पं० ईश्वरीप्रसाद शर्मा के परामर्श से 'मारवाड़ी-सुधार' का मुद्रण महादेवप्रसाद सेठ के बालकृष्ण प्रेस में कराने लगे। कुछ दिनों बाद सेठजी एवं उनके अभिन्न मित्र मुंशी नवजादिकलाल श्रीवास्तव के विशेष आग्रह पर उन लोगों के साथ ही प्रेस में रहने लगे। वहीं ऊपर के तल्ले में रामकृष्ण मिशन के संन्यासियों के साथ निरालाजी भी रहते थे। विवेकानंद सोसाइटी (कलकत्ता) के विद्वान संन्यासी स्वामी माधवानंदजी सोसाइटी के मासिक मुखपत्र 'समन्वय' के संपादन के लिए आचार्य महावीरप्रसाद द्विवेदी के विशेष अभिस्ताव पर निरालाजी को समादरपूर्वक कलकत्ता ले आये थे। इस प्रकार महादेवप्रसाद सेठ, नवजादिकलाल, शिवपूजनसहाय और निराला के एक जगह जुट जाने से वह विलक्षण साहित्यिक संयोग घटित हुआ जिससे 'मतवाला' मंडल का सूत्रपात हुआ। २६ अगस्त, १९२३ को 'मतवाला' का प्रथम अंक प्रकाशित हुआ और इस प्रकार २३, शंकरघोष लेन-स्थित बालकृष्ण प्रेस 'मतवाला' मंडल का मुख्यालय एवं कलकत्ता का साहित्यिक केन्द्र बन गया। लगभग आठ महीनों तक

'मतवाला' का संपादन करने के पश्चात् कई कारणों से उसे छोड़ शिवजी अप्रैल, १९२४ में अपने गांव होते हुए लखनऊ चले गये, जहां दुलारेलाल भार्गव के गंगा-पुस्तकमाला-कार्यालय में पुस्तकों के संशोधन-संपादन करने के साथ-साथ 'माधुरी' के संपादन में भी पं० रूपनारायण पांडेय एवं पं० कृष्णबिहारी मिश्र के सहयोगी रहे। वहां से सितंबर, १९२४ में सांम्प्रदायिक दंगे में भागकर काशी होते हुए गांव आये तथा कुछ दिनों तक वहां तथा आरा में रहने के बाद जनवरी, १९२५ में पुनः 'मतवाला' मंडल में कलकत्ता वापस आ गये। इस बार फिर लगभग एक वर्ष कलकत्ता रहे जिस अवधि में 'मौजी', 'गोलमाल', 'उपन्यास तरंग', 'समन्वय' आदि पत्रों का संपादन किया तथा १९२६ के प्रारम्भ में 'पुस्तक भंडार' (लहेरियासराय, दरभंगा) की साहित्यिक पुस्तकों एवं उसके 'बालक' नामक मासिक पत्र को ज्ञानमंडल प्रेस में छपवाने के लिए काशी चले गये। इस परिच्छेद में मुख्यतः पांच वर्षों के इस कलकत्ता-प्रवास के संस्मरण ही प्रस्तुत हैं।

•

'मारवाड़ी सुधार'

यूरोप का पहला महायुद्ध समाप्त होने के दो-ढाई साल बाद ही असहयोग की आंधी आयी। आतंक के थप्पड़ का जवाब उत्साह घूंसे से देने लगा। सन् '२० की हलचल हरेक हृदय को झकझोरने लगी। देश की उमंग देख दबंग भी दंग था!

मैं आरा के टाउन-स्कूल में हिन्दी-शिक्षक था। विशेषतः मैट्रिक के छात्रों में बड़ी खलबली थी। हर घड़ी, हर तरफ से सुन पड़नेवाले नारे और भी सनसनी पैदा करते थे। विद्यार्थियों की निर्भयता और पुलिस की बौखलाहट देखने ही योग्य थी—आश्चर्य तो होता ही था, हंसी भी आती थी।

मैं हाईस्कूल से असहयोग करके नेशनल स्कूल में चला गया। वहां जब तक राष्ट्रीय पाठ्य-पुस्तकें न मिलीं, कॉलेज की तरह सिर्फ लेक्चर ही होते रहे। छात्रों में भी लेक्चरबाजी की लत पैदा हो गई। प्रति रविवार को गांवों में जाने पर वह बड़े जोशीले व्याख्यान दिया करते।

स्कूल के मेरे होनहार छात्रों में एक हरद्वारप्रसाद जालान भी थे। आगे चलकर वह हिन्दी के बड़े उत्साही लेखक हुए। यदि वह जीते रहते तो नाटक और उपन्यास के क्षेत्र में उनकी कीर्तिलता लहलहाती रहती। उनका पहला

हास्यरसात्मक नाटक 'धरकट सूम' और पहला उपन्यास 'दिल्ली एक्सप्रेस' उन्हीं दिनों छप चुका था। उनको पढ़ाने के लिए जब मैं उनके घर जाता था तब स्कूल की पाठ्य-पुस्तकें अलग रखकर वह केवल साहित्यिक पुस्तकें ही पढ़ा करते थे। साथ ही, अपने मारवाड़ी-समाज को सुधारने की चिन्ता और चर्चा भी प्राय: किया करते थे। उनके दो स्वजातीय बन्धु और भी थे—श्री नवरंगलाल तुलस्यान और श्री दुर्गाप्रसाद पोद्दार। इन्हीं तीन साथियों ने आरा नगर में 'मारवाड़ी-सुधार-समिति' नामक संस्था कायम की। इसी संस्था का मासिक मुखपत्र हुआ 'मारवाड़ी-सुधार' और मैं बना उसका सम्पादक—नया रंगरूट।

लेखक तो मैं सन् १६१० से ही बन गया था, पर सन् १६२१ से सम्पादक भी बन गया। नेशनल स्कूल को आखिरी सलाम कर मैं कलकत्ता पहुंचा। उपर्युक्त श्री दुर्गाप्रसाद पोद्दार वहां किसी व्यवसाय सम्बन्ध से हरिसन रोड के एक मकान में रहते थे। मैं उन्हीं के साथ रहने लगा। पंडित ईश्वरीप्रसाद शर्मा ने पत्र के छपने के लिए एक प्रेस ठीक किया। शर्माजी मेरे साहित्यिक गुरु थे। तात्कालिक कलकत्ता के सर्वश्रेष्ठ हिन्दी प्रकाशक श्री रामलाल वर्मा के बर्मन प्रेस में काम करते थे। किन्तु 'मारवाड़ी-सुधार' की छपाई के लिए उन्होंने 'बालकृष्ण प्रेस' से सब कुछ पहले ही तय कर लिया था। उस प्रेस के मालिक बाबू महादेवप्रसाद सेठ से उन्हीं की मार्फत जान-पहचान हुई। सेठजी के साथी मुंशी नवजादिकलाल श्रीवास्तव से भी वहीं परिचय हो गया। प्रेस का मकान (२३, शंकर घोष लेन) विद्यासागर कॉलेज के पिछवाड़े खुली जगह में था। नीचे के हिस्से में प्रेस था और ऊपर के तल्ले में रामकृष्ण मिशन के कुछ कर्मयोगियों का निवास। उन्हीं संन्यासियों के साथ कविवर 'निराला' जी रहा करते थे। मैं प्रेस में रोज ही जाता था, पर सेठजी और मुंशीजी के सिवा 'निराला' जी से परिचित न हुआ।

जिस दिन मैं पत्र की पाठ्य-सामग्री का सम्पादन करके पहले-पहल प्रेस में ले गया, उस दिन सेठजी और मुंशीजी ने बड़े उत्साहवर्धक वाक्य कहे। पहले तो उन लोगों को सहसा विश्वास ही न हुआ कि छपनेवाली रचनाओं का संशोधन-सम्पादन स्वयं मैंने ही किया है। मुंशीजी तो बार-बार उपर्युक्त शर्माजी का नाम लेते रहे। शर्माजी का तो मैं चेला ही था। उन्होंने अपने परम प्रिय मासिक 'मनोरंजन' के प्रकाशन-काल (१६१०-१२) में भी मेरी साध-भरी सेवाओं को असीसा था। मेरे अक्षर भी उनके अक्षरों से मिलते-जुलते थे। सन्देह के कारणों में एक यह भी था। सेठजी ने प्रेस में ही रहने के लिए अनुरोध किया। मुंशीजी ने कुछ लाभ-लोभ भी दिखाया। पर मित्रवर पोद्दारजी के आग्रह के आगे मेरी एक न चली। किन्तु सेठजी और मुंशीजी ने उन्हें राज़ी कर लिया। तब भी हरिसन रोड से प्रेस चले आने में लगभग तीन-चार महीने लग गए। प्रेस में रहने लगने पर दोनों सज्जनों का बन्धुत्व दिन-दिन बढ़ने लगा। इसी बीच एक दिन श्री

निरालाजी के दर्शन का सौभाग्य प्राप्त हुआ।

मुंशीजी की विनोदप्रियता का रस सेठजी खूब लेते थे। केदार महाराज रसोइया प्रायः दोनों जून सेठजी के लिए भंग का गोला तैयार कर देते थे। रसोई में उनका हाथ बड़ा साफ था। मिर्जापुरी तो थे ही, भंग बनाने में भी बहुत सधा हाथ था। जब गोला जमाकर सेठजी कुर्सी पर बैठ तम्बाकू के कश खींचने लगते तब उनकी गम्भीर मुद्रा दर्शनीय होती। बोलते बहुत कम, और हंसी की बात पर भी मुसकराकर ही रह जाते। लेकिन जिस दिन भंग के रंग में बोलने और हंसने लग जाते, उस दिन सचमुच तरंग चांद चूमती।

निरालाजी ऊपर के तल्ले से प्रायः कम ही नीचे उतरते। अगर बाहर निकलते भी, तो चुपचाप अपनी राह चले जाते, दाएं-बाएं देखते तक नहीं। नंगे पैर, तलहथी पर सुरती मसलते हुए, ट्राम की सड़क (कार्नवालिस स्ट्रीट) तक निकल जाते। कभी-कभी उसी दशा में ठनठनिया और मछुआ बाजार तक बढ़ जाते, मानो चिन्तनशीलता की धारा में स्वतः बहे जा रहे हों। मौनावलम्बन से शान्त मुखाकृति कभी-कभी मन्द स्मित से विकसित हो उठती, क्षणभर मुखड़ा प्रसन्न दीखता, फिर गम्भीर-धीर-प्रशान्त !

जब मैं प्रेस में नहीं रहता था तब भी निरालाजी पर निगाह पड़ी थी, मगर अड़ी नहीं थी। मेरी अनाड़ी आंखें अनुमान करती थीं, कोई टोले-मुहल्ले का आदमी होगा। प्रायः प्रेस में आते-जाते रहने पर भी उनसे कभी साक्षात्कार का सौभाग्य प्राप्त नहीं हुआ। एक तो वह अनावश्यक किसी के पास बैठकर गपशप में समय बिताते नहीं थे, दूसरे मैं भी थोड़ी ही देर के लिए प्रेस में जाता था—वह भी ऐसे समय, जब मस्तमौला सेठजी ही अकेले रहते थे, मुंशीजी अपने काम पर चले जाते थे—भूतनाथ-कार्यालय की मैनेजरी करने। यह कारखाना मछुआ-बाजार में तेल-साबुन-सेंट का था। इसके मालिक थे पटना-सिटी के सेठ किशोरीलाल चौधरी। इनके कारखाने और परिवार में मुंशीजी की बड़ी साख और धाक थी। इनके भतीजे बाबू कनकाप्रसाद चौधरी बड़े उदाराशय हिन्दी-प्रेमी थे। कनका बाबू का जिक्र आगे आएगा।

जब मैं प्रेस में रहने लगा, सेठजी और मुंशीजी से निरालाजी का हाल मालूम हुआ। मुझे ऐसा भान हुआ कि अभी ये दोनों सज्जन भी उनसे भली-भांति परिचित नहीं हैं। कलकत्ता में वह कुछ ही दिन पहले आये थे। रामकृष्ण-मिशन के एक विद्वान् संन्यासी स्वामी माधवानन्दजी एक ऐसे हिन्दी-लेखक की खोज में निकले थे, जो बंगला से हिन्दी में अच्छा अनुवाद कर सकता हो, संस्कृत और अंग्रेजी का अच्छा जानकार हो और दार्शनिक मनोवृत्ति का भी हो। आचार्य द्विवेदीजी से उन्हें निरालाजी का पता मिला। माधवानन्दजी स्वयं कहा करते थे —'द्विवेदीजी की कृपा से यह अमूल्य रत्न हमारे हाथ लग गया, सर्वश्रेष्ठ आचार्य

का परखा हुआ हीरा है।'

स्वामीजी बड़े आदर से निरालाजी को साथ रखते थे। मिशन के सभी संन्यासी उनकी सेवा के लिए तत्पर रहते थे। उनकी स्वतन्त्रता में किसी प्रकार की कोई बाधा नहीं थी। वास्तव में बंगाली विद्वान् ही साहित्यकार और कलाकार का उचित सम्मान करना जानते हैं। मिशन के संन्यासी सदा 'पंडितजी' कहकर उनकी प्रतिष्ठा करते और उनका रुख देखते रहते। स्वामी वीरेश्वरानन्दजी तो उन्हें 'हिन्दी का रवीन्द्र' कहते नहीं हिचकते थे। वीतराग संन्यासी होने पर भी, एक बंगाली विद्वान् के मुख से ऐसी बात सुन लेना आसान नहीं था। उन्हें चिन्तक और दार्शनिक तो सभी कहते थे। उन लोगों की दृष्टि में उस समय हिन्दी-संसार में उनकी उम्र का दूसरा कोई बहुश्रुत विद्वान् नहीं था। उन्हें पाकर वे लोग गर्व करते थे।

सेठजी और मुंशीजी भी उन गुणग्राही संन्यासियों से निरालाजी की प्रशंसा सुनकर ही उनकी ओर आकृष्ट हुए थे। जिस दिन दुतल्ले से उतरकर बाहर जाते हुए निरालाजी को अपने कमरे में बुलाकर मुंशीजी ने मुझसे परिचय कराया, उस दिन सेठजी ने जो भविष्यवाणी की थी वह हिन्दी-संसार में सत्य सिद्ध हो चुकी है, उसे दुहराने की जरूरत नहीं है। सेठजी कुछ कम गुणग्राही न थे। प्रतिभा का वैसा अनन्य पुजारी मैंने फिर कहीं नहीं देखा। जिसकी कला परख लेते, उसके अंधभक्त बन जाते। आगे चलकर इसके प्रमाण मिलेंगे।

मुंशीजी तो मजाकपसन्द आदमी थे। बात-बात में उन्हें तफरीह सूझती थी। निरालाजी के सम्बन्ध में उनकी कितनी ही निराली उक्तियां बड़े मार्के की होती थीं। प्रथम परिचय के दिन वह कहने लगे—'एक तो महाकवि बिहारीलाल की नायिका भौंहों में हंसती थीं, दूसरे हमारे निरालाजी भौंहों में हंसा करते हैं; बल्कि यह तो बिहारी की नायिका के भी कान कतर चुके हैं—इनकी पलकें हंसती हैं, बरौनियां हंसती हैं, आंखों के कोए हंसते हैं। अजी, इनकी नसें हंसती हैं।'

अब मुंशीजी और सेठजी प्रायः निरालाजी के सत्संग का आनन्द लेने लगे। धीरे-धीरे उनका मौन भंग होने लगा। चर्चा केवल साहित्यिक ही होती थी। सेठजी छेड़कर रसानुभव करने लगते, मुंशीजी की सरस उक्तियां उत्तेजना भरती चलतीं। उस बातचीत में निरालाजी के क्रान्तिकारी विचारों का परिचय मिलने लगा।

सेठजी का बालकृष्ण-प्रेस भारतेन्दु-युग के साहित्य-महारथी पं० बालकृष्ण भट्ट की स्मृति में स्थापित हुआ था। उसमें अधिकतर भूतनाथ-कार्यालय का ही काम हुआ करता था। मुंशीजी की मित्रता सेठजी के लिए कल्पलता थी। सेठजी उनको अपना बड़ा भाई मानते थे—उनकी बहुतेरी बातें चुपचाप बर्दाश्त कर लिया करते थे। किन्तु ईश्वर की ऐसी इच्छा कि वह भाईचारा अन्त तक निभ

न सका।

बालकृष्ण प्रेस में सेठजी और मुंशीजी के पास कुछ साहित्यिक सज्जन बराबर आया करते थे, जिनमें मुख्य थे—पंडित ईश्वरीप्रसाद शर्मा, पंडित चन्द्रशेखर पाठक[1], पंडित रामगोविन्द त्रिवेदी वेदान्तशास्त्री[2], बाबू बलदेवप्रसाद खरे[3] और बाबू कनकाप्रसाद चौधरी[4]। चौधरीजी साहित्यसेवी नहीं थे, पर साहित्यानुरागी और सत्संगी बड़े पक्के थे। इनका कहना था कि बंगला और हिन्दी का कोई ऐसा पुराना या नया उपन्यास अथवा कहानी-संग्रह नहीं है जिसको इन्होंने न पढ़ा हो। इनकी कहानियों का एक संग्रह मुंशीजी ने प्रकाशित कराया था, जिसकी पाण्डुलिपि मुंशीजी ने शोधी थी। बंगला और हिन्दी के कथा-साहित्य को इनसे हजारों रुपये मिले होंगे। ऐसे धनी आज भी कुछ होंगे ही।

शर्माजी बाबू रामलाल वर्मा के यहां पूरी स्वतन्त्रता के साथ नौकरी करते थे। उनको वर्माजी नौकर नहीं, साहित्यिक मित्र समझते थे, अपने सगे छोटे भाई मुकुन्दलालजी से भी अधिक प्यार करते थे। वैसा बन्धुत्व व्यावसायिक सम्बन्ध में कहीं न देखा। शर्माजी परम स्वच्छन्द और स्वाभिमानी व्यक्ति थे। उनका झुंझलाना-तिनकना और वर्माजी का बड़ी मिठास से उनको मनाना मैंने देखा था।

---

१. पाठकजी बिहारशरीफ (बिहार) के निवासी थे। कलकत्ता में 'पाठक-कम्पनी उनकी प्रकाशन-संस्था थी। उन्होंने अंग्रेजी में प्रसिद्ध उन्यास 'वैनिटीफेयर' का हिन्दी-अनुवाद 'मायापुरी' नाम से किया था। उनकी सचित्र जीवनी मैंने 'मारवाड़ी-सुधार' में छापी थी। ये भी 'मतवाला'-मण्डल के सदस्यों में थे।

२. शास्त्रीजी के प्रेस में, मेरी कहानियों का संग्रह 'महिला-महत्त्व' नाम से, पहले-पहल छपा था, जो आगे 'विभूति' नाम से निकला। मेरा 'देहाती दुनिया' उपन्यास भी पहले-पहल वहीं छपा; परन्तु प्रकाशित हुआ बरसों बाद पुस्तक-भण्डार (लहेरियासराय) से। शास्त्रीजी 'कूसी' (दिलदारनगर, गाजीपुर) के निवासी थे। 'वैदिक साहित्य' आपकी प्रसिद्ध पुस्तक है। ऋग्वेदसंहिता का और विष्णुपुराण का हिन्दी-अनुवाद तथा 'दर्शन-परिचय' भी आपकी उत्तम पुस्तकें हैं। 'गंगा' (सुलतानगंज, भागलपुर) के सम्पादकीय विभाग में आपके साथ मैं भी एक वर्ष तक था। सम्पादन-कला के अच्छे मर्मज्ञ थे।

३. खरेजी हास्य-रस के अच्छे अभिनेता थे। उनके कई नाटक उसी समय प्रकाशित हुए थे।

४. 'भूतनाथ'-कार्यालय (तेल-साबुन-सेंट कारखाना) के अधिष्ठाता पटना सिटी-निवासी सेठ किशोरीलाल चौधरी के भतीजे।

वर्माजी बड़े हंसमुख, मिलनसार और मिठबोलिया थे। साहित्यिकों की बड़ी कद्र करते थे। जैसा उनका रूप सुन्दर था वैसा ही हृदय भी। उस समय के कलकतिया पुस्तक-प्रकाशकों में उनके समान साहसी और उदारचेता दूसरा न था। उनके यहां शर्माजी के सिवा पंडित कार्तिकेयचरण मुखोपाध्याय और पंडित नरोत्तम व्यास[1] भी साहित्य-रचना करते थे। उपर्युक्त त्रिवेदीजी और मुंशीजी भी उनके लिए पुस्तकें लिखा करते थे, जिन्हें वे बड़ी सज-धज से प्रकाशित करते थे। पुस्तकों की शुद्ध छपाई और बाहरी-भीतरी सजावट का उन्हें बड़ा शौक था। पुस्तकों के अलंकार-शृंगार में वह काफी पैसे खर्च करते थे। साहित्यिकों को पुरस्कार से अधिक अपनी मृदु-मञ्जु-मधुर वाणी से ही तृप्त किया करते थे। पैसे के लिए साहित्यिक को असंतुष्ट होने देना उन्हें पसन्द न था। चिरौरी करके कुछ कम भले ही दें, पर तिरस्कार किसी का कभी न किया। त्रिवेदीजी से उन्होंने 'विष्णुपुराण' का गद्यानुवाद कराया। उनके पारिश्रमिक, मुद्रण, चित्रालंकरणादि में लगभग दस हजार रुपये उस समय खर्च हुए थे। ग्रंथ पूरा छपकर तैयार हो गया था। त्रिवेदीजी ने बहुत दिनों तक घोर परिश्रम किया था। किन्तु वह ग्रंथ अप्रकाशित ही रह गया। त्रिवेदीजी के अनवरत अनुशीलन और वर्माजी की द्रव्य-राशि से हिन्दी-साहित्य को जो लाभ पहुंचता उससे वह वंचित रह गया। वह हजार पन्ने की पोथी नियति-चक्र में पिस गयी!

शर्माजी की आदत थी कि प्रेस में पहुंचते ही मुंशीजी और सेठजी से पान और रसगुल्ले की फरमाइश कर देते थे। उनके आ जाने पर कोई काम नहीं किया जा सकता था, काम करने ही न देते थे। ठहरते तो थे कुछ ही देर, मगर उतने ही समय में कागज-कलम-दवात-किताब इधर-उधर रख देते थे। बस, गप-शप और हंसी-ठहाके के लिए ही वह आ जाते थे। उनकी सूरत देखते ही सेठजी हंसकर कहते, 'बस, अब काम हो चुका!' मुंशीजी से वह बराबर सुगन्धित तेल और साबुन मुफ्त वसूल किया करते। मगर सुप्रसिद्ध 'भूतनाथ तेल' की शीशियां खाली हो जाने पर लौटा देते थे। एक बार मुंशीजी ने उनसे कहा कि हमारे कारखाने में शीशियों की कमी नहीं है, इन्हें बेचकर पैसे क्यों नहीं उठा लेते? इस पर उन्होंने छूटते ही कहा, 'मैं तेलिया ब्राह्मण नहीं हूं!'

सेठजी इतिहास के बड़े प्रेमी थे। इतिहास का जो नया ग्रंथ निगाह में आ जाता, झट खरीद लेते। अंग्रेजी बुकसेलरों के यहां उनका स्थायी आर्डर पड़ा

---

१. व्यासजी श्रीरामलाल बर्मन के प्रकाशन-विभाग में काम करते थे। हिन्दी में उनकी कई पुस्तकें निकली थीं। नाट्यकला विषयक एक मासिक पत्र भी निकाला था। बाद में बम्बई की किसी चलचित्र-संस्था में चले गए थे।

रहता था; नया ग्रंथ बाजार में आते ही उन्हें सूचना मिल जाती थी। उनका इतिहास सम्बन्धी ज्ञान भी बहुत गम्भीर था। उन्होंने एक इतिहास-ग्रंथ लिखना शुरू किया था, परन्तु दो-चार ही परिच्छेद छेड़कर रह गए। प्रेस के काम में खटते खूब थे, मगर लिखने में आलसी थे। स्वाध्याय मात्र उनका व्यसन था। इतिहास पर बातें करने लगते थे तो बड़ा आनन्द आता था। उनके लिखे अध्यायों को मैंने देखा था। स्वामी भवानीदयाल संन्यासी ने दक्षिण अफ्रीका से अपनी लिखी एक ऐतिहासिक पुस्तक मेरे देखने के लिए भेजी थी। वह सन् सत्तावन के ग़दर पर थी। उसे अनेक प्रामाणिक ग्रंथों के आधार पर उन्होंने लिखा था। उसमें बड़े मार्के के उद्धरण भी थे। सेठजी ने उसको देखकर कहा कि इसमें बहुत-सी असंगतियां और असम्बद्ध बातें हैं। कई स्थलों की त्रुटियों का उन्होंने सुधार करा दिया। स्वामीजी जब एक शिष्ट-मण्डल में भारत आये तब उन्होंने कलकत्ता पहुंच सेठजी के सत्परामर्श के लिए बड़ा आभार और उपकार माना[1]।

शर्माजी और पाठकजी प्रायः सेठजी से अंग्रेजी के इतिहास-ग्रंथ पढ़ने के लिए ले जाते थे। पाठकजी से चौगुनी अधिक पुस्तकें शर्माजी पढ़ जाते थे। जैसे वह लिखने में तेज थे, वैसे पढ़ने में भी। न जाने कैसे कोई किताब देखते-देखते पढ़कर समाप्त कर देते थे। उनके एक मारवाड़ी मित्र बाबू महादेवप्रसाद झुनझुनवाला[2] थे। इनकी पुस्तकों की एक दूकान बड़तल्ला मुहल्ले में थी—'भारत पुस्तक भण्डार'। शर्माजी की बैठकबाजी यहां भी हुआ करती थी। कलकत्ता में इनके कई साहित्यिक अड्डे थे। उक्त दूकान से भी वह पढ़ने के लिए नयी-नयी पुस्तकें ले जाते थे। मुंशीजी मजाक में उन्हें 'दीमकदास' कहते थे; क्योंकि वह चाहें तो रातभर में बड़ी-से-बड़ी

---

१. 'सन् १९२५ ई० के दिसम्बर में कलकत्ता पहुंचकर, आप लोगों ने लार्ड रीडिंग से भेंट करके अपना वक्तव्य पेश किया। उस समय मैं 'मतवाला'-मंडल में था। आपका शिष्टमंडल ग्रैंड होटल में ठहरा था, इसलिए बराबर भेंट होती रही।'

२. उनका 'भारत-पुस्तक-भण्डार' साहित्यसेवियों का स्वागत-सत्कार करने के लिए प्रसिद्ध था। उनके मस्तिष्क को पंडित ईश्वरीप्रसाद 'प्रकाशन-योजनाओं का विशाल कारखाना' कहा करते थे। कलकत्ता के धनाढ्य मारवाड़ी समाज में उनकी अच्छी साख और धाक थी। यदि उनकी असामयिक मृत्यु न होती, तो हिन्दी में कई आकर-ग्रंथ निकल गए होते। संसार भर के पुस्तकालयों और हिन्दी-पत्र-पत्रिकाओं का बृहदाकार इतिहास तैयार करने की योजना के लिए उन्होंने बहुत-से साधनों का संग्रह किया था।

पुस्तक के भी आर-पार हो जाएं। उनका दिमाग बिलकुल पलीता था बारूद का, और लेखनी भी उन्होंने गणेशजी की पायी थी। मगर उनकी पढ़ाई और पाठकजी की पढ़ाई में अन्तर था। यह सिर्फ पढ़क्कू ही थे, पाठकजी बड़े संग्रही थे। वह खास-खास अवतरणों को नोट करते जाते थे। इनकी एक नोटबुक मुंशीजी के पास मैंने देखी थी, जिसमें उपन्यास लिखने योग्य ऐतिहासिक घटनाओं के सुन्दर संकलन थे।

शर्माजी तो आरा-निवासी थे, पर पाठकजी बिहारशरीफ (जिला पटना) के मराठा ब्राह्मण थे। यह लाल रोली का टीका लगाते थे और कपड़े-लत्ते के बड़े शौकीन थे। वाराणसी घोष स्ट्रीट में इनका अपना प्रकाशन-मन्दिर था। मेरी लिखी 'भीष्म' और 'अर्जुन' की जीवनियां इन्होंने प्रकाशित की थीं। पंडित मदनमोहन भट्ट और पंडित केशवराम भट्ट के परिवार की बहुत-सी बातें कहानियों की तरह सुनाया करते थे। इनकी सचित्र जीवनी मैंने 'मारवाड़ी-सुधार' में प्रकाशित की थी। बाद में पछतावा होता रहा कि इनसे 'बिहारबन्धु' के भट्ट-परिवार का कुछ वृत्तान्त संग्रह न कर सका। कलकत्ता के पुराने पत्रकारों के सम्बन्ध में भी अनेक रोचक प्रसंग सुनाते थे। इत्रों की परख में भी बड़े दक्ष थे। देशी इत्रों का ही व्यवहार किया करते थे। उस्ताद गंधी भी इनकी खरी पहचान से चकित हो जाते थे। शर्माजी को सिर्फ खाने का शौक था, इनको खाने और खिलाने दोनों का। मुंशीजी इनको 'भोजन-विलासी' पदवी दिये हुए थे। इनके घर में खाने-पीने की निहायत नफीस चीजें बनती थीं। पत्थर की छोटी-बड़ी रंग-बिरंगी सुन्दर प्यालियां इनके यहां कितनी थीं, इसका कोई अन्दाज नहीं मिलता था। थाली में सभी चीजें प्यालियों में ही आती थीं। चटनी की सबसे छोटी प्याली अजीब खूबसूरत थी। फूल के एक-से-एक सुन्दर बर्तन इनके घर में थे। हर साल धनतेरस के दिन अच्छे-से-अच्छे चुनींदा बर्तन खरीदते थे। बाजार में कपड़े खरीदने निकलते थे तो कलकत्ता जैसे शहर में भी सहसा कोई कपड़ा इन्हें जंचता न था। एक बार इनकी बिछावन की चादर देखकर सेठजी ने कहा था कि आपके घर में तो डाका डालने की इच्छा होती है। इन्होंने तुरन्त चादर उन्हें भेंट कर दी। सेठजी के लाख आग्रह पर भी दाम न लिया। इस पर शर्माजी बड़े जोर से अपना गंजा सिर खुजलाने लगे। उह-आह भी करने लगे। पाठकजी ताड़ गए। शर्माजी को बहुत ही सुन्दर एक रूमाल नजर कर दिया।

त्रिवेदी शास्त्रीजी पहले तो लेखक बनकर कलकत्ता आए, पीछे प्रकाशक भी बन गए। उन्होंने 'भारती प्रेस' खोलकर कई अच्छी पुस्तकें निकाली थीं। पंडित मथुराप्रसाद दीक्षित का लिखा 'बाबू कुंवरसिंह' का जीवन-चरित बड़ी शान से निकला। यह पुस्तक बड़ी खोज से लिखी गयी। इम्पीरियल लाइब्रेरी और कुंवरसिंह की राजधानी (जगदीशपुर) तक दौड़ लगायी गयी। पूज्य राजेन्द्र बाबू

ने भूमिका लिखी। मैंने परिशिष्ट में परम्परागत किंवदन्तियों का संचय किया। मेरी भी एक पुस्तक शास्त्रीजी ने छापी। कहानियों का संग्रह 'महिला महत्त्व' नाम से निकला, जो अब 'विभूति' नाम से प्रचलित है। मुंशीजी का मौलिक उपन्यास 'शान्तिनिकेतन' भी वहीं से प्रकाशित हुआ। शास्त्रीजी ने भविष्य के लिए बड़ी-बड़ी साहित्यिक योजनाएं बनायी थीं। उनका प्रकाशन-व्यवसाय भी लाभप्रद रीति से चल निकला था। किन्तु वह स्वयं केवल साहित्यिक ही थे, व्यवसाय-बुद्धि का अभाव था। उनकी दरियादिली ही रोजगार के लिए घातक हुई। पनपते या जमते हुए व्यापार के लिए शाहखर्ची ही खतरे की घंटी है। सेठजी और मुंशीजी ने उनको कई बार नेक सलाह दी, पर वह अपने उदार विचार से लाचार थे। अन्त में पता लगा कि विशुद्ध लाभदर्शी लोगों ने उनके साहित्यिक सपनों को सफल न होने दिया। कई साल बाद बिहार की 'गंगा' पत्रिका में फिर मेरा-उनका साथ हुआ।

बाबू बलदेवप्रसाद खरे बड़े रंगी जीव थे। कलकत्ता छोड़ने के बाद मैं फिर कभी उनसे मिल न सका। जहां तक याद है, एक बार शायद काशी में वह मिले थे। वह बड़े कुशल अभिनेता थे। कलकत्ता के कई प्रकाशकों ने उनके लिखे पौराणिक और सामाजिक नाटक प्रकाशित किये थे। उन दिनों कलकत्ता में कई हिन्दी-नाटकों के अभिनय प्रायः हुआ करते थे। हिन्दी-नाट्य-समिति के संचालक पूर्वोक्त बाबू रामलाल वर्मा थे। हिन्दी-नाट्य-परिषद् के प्राण थे पंडित माधव शुक्ल, जो हिन्दी के अत्युच्च कोटि के अभिनेता थे। इन संस्थाओं में आपसी होड़ भी खूब थी; पर उनमें द्वेष का लेश न था, केवल कला-प्रदर्शन की ही स्पर्द्धा थी। कई युवकों की अभिनय-कला पुरस्कृत हुई थी। ऐसे युवकों में केवल 'केशव' का नाम याद है। स्त्री का स्वांग उसका सदा सफल रहा। काशी के यशस्वी अभिनेता बाबू केशवप्रसाद टण्डन भी उस समय कलकत्ता के हिन्दी-रंगमंच का गौरव बढ़ा रहे थे। जहां तक याद है, वह शाहजहां, औरंगजेब और चाणक्य की भूमिका में बहुत सफल हुए थे। मैंने काशी में भी उनका अभिनय देखा। शुक्लजी के नाट्य-कौशल का तो कहना ही क्या! वह अपने समय में हिन्दी-रगमंच के सिंह थे।

खरेजी प्रायः प्रहसनों में ही अभिनय किया करते थे। एक बार उन्होंने स्त्री का स्वांग धारण किया। सेठजी शाम की बूटी जम जाने पर कहीं बाहर नहीं जाते थे। खरेजी के विशेष आग्रह पर उन्हें नाटक देखने जाना पड़ा। किन्तु भंग की तरंग में नाट्यशाला में ही ऐसी हंसी उमड़ी कि मुंशीजी उन्हें नशे की दशा में अकेला न छोड़ सके, प्रेस तक साथ गये। हंसी उमड़ी खरेजी को नारी-वेश में देखते ही। प्रौढ़ावस्था में पुरुष-कण्ठ कर्कश हो ही जाता है। पुरुष अपनी उठती जवानी में ही स्त्री का पार्ट अच्छा कर सकता है। स्त्री का वेश रूपवान नवयुवक

को ही फबता है। उपर्युक्त केशव की स्वर-माधुरी में रंचमात्र भी अस्वाभाविकता का आभास नहीं मिलता था। उन दिनों पारसी और बंगला थियेटरों में स्वयं स्त्रियां ही अभिनेत्री होती थीं, इसलिए लोगों के कान भी प्रौढ़ कण्ठ का स्वर सुनने के अभ्यस्त नहीं थे। खरेजी मंच पर ज्यों-ज्यों बोलते, सेठजी की हंसी का पारा चढ़ता जाता। मुंशीजी को आखिर लाचार होकर उन्हें नाट्य-मन्दिर से बाहर ले जाकर प्रेस पहुंचाना पड़ा। खरेजी को यह बात मालूम न होने पायी, बल्कि दूसरे दिन प्रेस में उनके आने पर सेठजी ने उनके अभिनय की बड़ी प्रशंसा की, जिसे सुनकर मुंशीजी की हंसी न रुकी तो वह अन्यत्र हट गए और मैं भी वहां से टल गया।

हिन्दी के नाटकों की उस समय बड़ी धूम थी। लोगों में अदम्य उत्साह था। अभिनय में काफी भीड़ होती थी। कितने ही नवयुवकों को नाट्यकला-निपुण देखकर आशा की जाती थी कि हिन्दी का रंगमंच कुछ दिनों में बहुत उन्नत हो जाएगा। पारसी थियेटरों में भी हिन्दी के सुन्दर नाटकों के अभिनय होने लगे थे। इसकी चर्चा आगे होगी। बड़ा बाजार में नाटकों से काफी हलचल रहती थी। एक बार हास्यरसावतार पंडित जगन्नाथप्रसाद चतुर्वेदी भी रंगमंच पर उतरे थे। उन्होंने रोने का पार्ट किया था। उनकी नाना प्रकार की रुलाई ने हंसाते-हंसाते लोगों को बे-दम कर दिया। कविवर 'निराला' जी को भी रंगमंच पर लाने की चेष्टा हुई थी; पर उनको लोग राजी न कर सके। वह बहुत अच्छे अभिनेता थे। सेठजी के कमरे में कई बार उन्होंने अभिनय की भावभंगी के साथ अपनी 'पंचवटी' कविता सुनाई थी। बंगला के अभिनय भी दिखलाये थे। उनकी अंग-भंगिमा देख मुग्ध होकर एक दिन पाठकजी ने कहा था—'आर्यों के शरीर की गठन का जैसा वर्णन प्राचीन ग्रन्थों में मिलता है वैसा ही निरालाजी का तगड़ा और पुष्ट वदन है। इनकी आंखें और अंगुलियां देखकर अजन्ता-गुहा के चित्र याद आ जाते हैं। जान पड़ता है कि अजन्ता की कोई प्रस्तर-प्रतिमा सजीव होकर हिन्दी-जगत् में चली आयी है। इनका मुख-विवर और चिबुक ठीक आर्यों के समान है। आर्य-जाति के वंशधर की तरह मेधा भी इन्होंने पायी है।' इसके कई साल बाद मैंने कलकत्ता में ही फिर निरालाजी को देखा।

कलकत्ता-प्रवास का मूल कारण था 'मारवाड़ी-सुधार' का सम्पादन और प्रकाशन। 'मतवाला'-सम्पादक बाबू महादेवप्रसाद सेठ के बालकृष्ण प्रेस में 'मारवाड़ी-सुधार' को छपवाता था और कलकत्ता-निवासी मारवाड़ी लेखकों से लेख-संग्रह भी करता था। श्री गंगाप्रसाद भोतिका, श्री तुलसीराम सरावगी, श्री बसन्त-लाल मुरारका, श्री रामदेव चोखानी, श्री पद्मराज जैन, श्री रंगलाल जाजोदिया,

श्री दुर्गाप्रसाद खेतान, श्री मोतीलाल लाठ, श्री रामकुमार गोयनका, श्री धर्मचन्द खेमका, श्री ईश्वरदास जालान, श्री कालीप्रसाद खेतान, श्री बैजनाथ केडिया, श्री दीनानाथ सिगतिया आदि उस समय मारवाड़ी-समाज के सुपरिचित लेखक और सुधारक तथा सार्वजनिक कार्यकर्ता थे। भोतिकाजी, सरावगीजी, मुरारकाजी और चोखानीजी सामाजिक और सार्वजनिक हित के कामों में बहुत आगे रहते थे। इनमें प्रमुख अगुआ श्री पद्मराजजी जैन थे। वह बड़े ओजस्वी वक्ता थे। उन्होंने 'मारवाड़ी-सुधार' में समाज-सुधार सम्बन्धी कई लेख लिखे थे। उपर्युक्त प्रायः सभी सज्जनों के लेख 'मारवाड़ी-सुधार' में छपे थे। श्री दुर्गाप्रसाद खेतान, श्री कालीप्रसाद खेतान और उनके सबसे बड़े भाई श्री देवीप्रसाद खेतान 'मारवाड़ी-सुधार' के प्रमुख सहायकों में थे।

उन्हीं दिनों स्वनामधन्य देशभक्त सेठ जमुनालाल बजाज की प्रेरणा और उदारता से अखिल भारतीय मारवाड़ी अग्रवाल महासभा की स्थापना हुई थी। श्री पद्मराजजी, रायबहादुर चोखानीजी, सरावगीजी, मुरारकाजी, भोतिकाजी, केडियाजी, जालानजी और खेतान-बन्धु उसके प्रमुख स्तम्भ, संचालक और उत्साही कार्यकर्ता थे। 'मारवाड़ी-सुधार' के सम्पादक के नाते उसके महाधिवेशनों में मैं भी जाता था। जब महासभा ने अपना स्वतन्त्र मासिक मुखपत्र 'मारवाड़ी-अग्रवाल' प्रकाशित करने का निश्चय किया तब लगातार दो-ढाई साल के प्रकाशन के बाद 'मारवाड़ी-सुधार' बन्द कर देना पड़ा। 'मारवाड़ी-अग्रवाल' के सम्पादक हुए श्री हेमचन्द्रजी जोशी। जोशीजी से मैं उसी समय पहले-पहल परिचित हुआ। 'मारवाड़ी-अग्रवाल' में कई लेख मेरे भी निकले।

'मारवाड़ी-सुधार' के लेखकों में श्री ईश्वरदासजी जालान बिहार प्रान्त के मुजफ्फरपुर के निवासी थे। उन दिनों वह हरिसन रोड और चितपुर रोड की चौमुहानी पर फुल-कटरा में रहते थे। द्विवेदी-युग की 'सरस्वती' में भी उनका लेख छपा था। श्री कालीप्रसाद खेतान बैरिस्टर का लेख भी द्विवेदीजी की 'सरस्वती' में छपा था। जब वह बैरिस्टरी पास कर स्वदेश लौटे थे तब आचार्य द्विवेदीजी ने अपनी 'सरस्वती' में उनका सचित्र परिचय भी प्रकाशित किया था। श्री राजकुमारजी गोयनका भी उन्हीं दिनों अमेरिका से लौटे थे। श्री मोतीलाल लाठ ने पहले-पहल उनसे मेरा परिचय कराया। श्री बैजनाथ केडिया उस समय 'हिन्दी पुस्तक एजेन्सी' से सम्बद्ध थे। कुछ ही दिनों बाद हिन्दी पुस्तक एजेन्सी से 'साहित्य' नामक मासिक पत्र निकला था। उसके सम्पादक थे पं० छविनाथ पांडेय। मुक्ताराम बाबू स्ट्रीट के पास सरकार लेन में केडियाजी का वणिक प्रेस था। उससे उन्होंने कुछ साल बाद 'विजय' नामक सचित्र साप्ताहिक निकाला था, जिसके सम्पादक थे श्री कार्तिकेयचरण मुखोपाध्याय, जो छपरा (बिहार) के निवासी थे। उसी वणिक प्रेस से दो-तीन साल बाद मेरे सम्पादकत्व में 'उपन्यास तरग' नामक

सचित्र मासिक-पत्र निकला था। मेरे सहकारी श्री रमेशचन्द्र त्रिपाठी का भी नाम उस पर छपता था। वह बड़े अच्छे होनहार नवयुवक थे और कानपुर की तरफ के रहनेवाले थे। अन्त में वह संन्यासी हो गये। वणिक प्रेस में ही लहेरिया-सराय (दरभंगा) के 'बालक' का पहला अंक छपा था। दूसरे अंक से वह काशी के ज्ञानमण्डल प्रेस में छपने लगा। उसी के सिलसिले से मुझे कलकत्ता छोड़ काशी जाना पड़ा। कलकत्ता में मेरे रहते समय श्री दीनानाथ सिगतिया ने मेरे सम्पादकत्व में 'आदर्श' नामक सचित्र मासिक पत्र निकाला था। सिगतियाजी साहित्यानुरागी तो थे, पर उनके पास पूंजी नहीं थी। जोश में आकर 'आदर्श' निकाला, पर लगभग एक साल ही चला सके। उन्होंने 'गोलमाल' नामक हास्यरस का एक साप्ताहिक-पत्र भी निकाला था, जिसका प्रकाशन कुछ दिनों तक पटना सिटी से उन्हीं की देख-रेख में हुआ था।

'मारवाड़ी-सुधार' के बन्द होने पर बालकृष्ण प्रेस के मालिक महादेवप्रसाद सेठ ने मुझसे अपने प्रेस में ही रहने का अनुरोध किया। उनका और मुंशी नवजादिकलालजी श्रीवास्तव का आग्रह हुआ कि हास्यरस का एक सुन्दर साप्ताहिक पत्र निकाला जाए। यह प्रेरणा बंगला के एक हास्यरसात्मक साप्ताहिक 'अवतार' से मिली। मुंशीजी बंगला के अखबार रोज पढ़ा करते थे। 'अवतार' के अंक भी प्रायः बराबर लाते और पढ़ सुनाते। उसके मार्मिक व्यंग्य-विनोदों से हम लोग प्रभावित हुए। दृढ़ निश्चय किया गया कि 'मतवाला' नामक साप्ताहिक पत्र अवश्य ही निकाला जाए।

'मतवाला' कैसे निकला

एक दिन मुंशीजी बाजार से बंगला, साप्ताहिक 'अवतार' खरीद लाये। वह हास्यरस का पत्र था। शायद एक ही पैसा दाम था और शायद पहला ही अंक भी था; किन्तु उसी पर छपा था—

Guranteed Circulation 0000000001। मसाला भी बड़ा मजेदार था। खूब पढ़ा गया। सोचावट होने लगी—इसी ढंग का एक पत्र हिन्दी में निकाला जाय। रोज हर घड़ी चर्चा छिड़ी ही रहती थी। कितने ही हवाई किले बने और कितने ही उड़ गये। बहुत मंथन के बाद विचारों में स्तंभन आया। उसी दम बात तय हो गई। बीजारोपण हो गया। २० अगस्त, १९२३, रविवार को सिर्फ बात पक्की हुई। २१, सोमवार, को मुंशीजी ने ही पत्र का नामकरण किया—'मतवाला'। नाम सबने पसंद किया। अब विचार होने लगा—कौन क्या लिखेगा—पत्र में क्या रहेगा, इत्यादि।

आरम्भ में निर्णय हुआ कि मुखपृष्ठ के लिए निरालाजी प्रति सप्ताह अपनी कविता देंगे; मैं अग्रलेख (सम्पादकीय) और 'चलती चक्की' नामक स्तम्भ के लिए विनोदपूर्ण टिप्पणियां भी लिखा करूंगा; मुंशीजी 'मतवाला की बहक' नामक स्तम्भ के लिए व्यंग्यात्मक टिप्पणियां लिखा करेंगे; समालोचनाएं भी निरालाजी ही लिखेंगे; अन्य सारी सामग्री का सम्पादन और पूरे पत्र का प्रूफ-शोधन मुझे करना पड़ेगा; सम्पादक के रूप में सेठजी का नाम छपेगा।

मुंशीजी और सेठजी तैयारी में लग गये। स्तम्भों के शीर्षक चुने गये। डिजाइन, ब्लॉक, कागज धड़ाधड़ प्रेस में आने लगे। चारु बाबू चित्रकार ने मुखपृष्ठ के लिए 'नटराज' का चित्र बनाया। देखकर सबकी तबीयत फड़क उठी। 'निराला' जी ने कविता तैयार कर ली—समालोचना भी लिख डाली। मुंशीजी भी रोज कुछ लिखते जाते थे। मैं हतबुद्धि-सा हो गया। कुछ सूझता ही न था। श्रावण की पूर्णिमा शनिवार, २६ को पड़ती थी। उस दिन 'मतवाला' का निकलना सर्वथा निश्चित था। युवती दुलहिन के बालक पति की तरह मेरा कलेजा धुकधुका रहा था। बुधवार (२३) की रात को मैं लिखने बैठा। कई बार कई तरह से लिखा और फाड़ डाला। बहुत रात बीत गयी। नींद भी नहीं आती थी। दिमाग चक्कर काट रहा था। मन जहाज का पंछी हो रहा था। एकाएक शैली सूझ पड़ी। लिखने लगा। भाव टपकने लगे। धारा चली। मन तृप्त हो गया। अग्रलेख पूरा करके सो रहा। सुबह उठते ही सेठजी ने मांगा, तब डरते-ही-डरते दिया; किन्तु ईश्वर ने लाज रख ली, सबने पसन्द किया। शीर्षक था—'आत्मपरिचय'।

कुछ मैटर प्रेस में जा चुका था। उसका प्रूफ भी मैं देख चुका था। अब उत्साह बढ़ने पर मैंने भी कुछ 'बहक' और 'चलती चक्की' लिखी। श्रावणी संवत् १९८०, शनिवार (२६ अगस्त, १९२३) को 'मतवाला' का पहला अंक निकल गया। था तो साप्ताहिक, मगर मासिक-पत्र की तरह शुद्ध और स्वच्छ निकला। बाजार में जाते ही, पहले ही दिन धूम मच गयी।

'मतवाला' का प्रचार दिन-दिन बढ़ता गया। प्रेस की व्यवस्था स्वयं सेठजी करते थे और 'मतवाला' का प्रबन्ध-विभाग मुंशीजी के हाथ में था। जब 'मतवाला' का प्रबन्ध सम्बन्धी काम बहुत बढ़ गया तब मुंशीजी 'मतवाला की बहक' लिखने के लिए समय नहीं निकल पाते थे।

विवश होकर उन्हें 'भूतनाथ कार्यालय' की मैनेजरी भी छोड़नी पड़ी। तब भी उन्हें कुछ लिखने का अवकाश नहीं मिल पाता था। इस तरह 'बहक' का बोझ भी मेरे ही ऊपर आ पड़ा। मुंशीजी कभी-कभी यथावकाश कुछ लिख दिया करते। वह और सेठजी जब अखबार पढ़ने का अवसर पाते तब उसमें निशान

लगाकर मेरे पास उस पर टिप्पणी जड़ने के लिए भेज देते। 'मतवाला' कार्यालय की तीसरी मंजिल एक छोटा-सा एकान्त कमरा था। रात में सेठजी उसमें सोया करते थे और दिन-भर मैं उसमें 'मतवाला' का मैटर तैयार किया करता था। शाम को रोज बनारसी बूटी बनती थी। भंग छानने के बाद कुछ घंटे हम लोगों की सम्मिलित बैठक होती थी। उसमें अखबार की खबरों पर विचार-विनिमय होता था। देश, समाज, धर्म और साहित्य से सम्बन्ध रखने वाले महत्त्वपूर्ण समाचारों और ज्वलन्त राजनीतिक समस्याओं पर सूझ-बूझ भरी टिप्पणियां लिखने के लिए निश्चय किया जाता था। भंग की तरंग में सेठजी की सूझ-बूझ बड़ी निराली होती थी। मुंशीजी भी स्वाभाविक हास्य-विनोद लिखने में बड़े सिद्धहस्त थे। निरालाजी की कविताओं ने भी 'मतवाला' की प्रतिष्ठा और लोकप्रियता बढ़ायी। उन्होंने 'सरस्वती' के अंकों की जो समालोचना लगातार लिखी —'गरगजसिंह वर्मा' के नाम से, उसे पढ़कर आचार्य द्विवेदीजी इतने क्षुब्ध हुए कि 'मतवाला' के उन अंकों को आदि से अन्त तक अच्छी तरह संशोधित करके भेज दिया। उस समय द्विवेदीजी नहीं, बल्कि बख्शीजी 'सरस्वती' के सम्पादक थे। फिर भी 'सरस्वती' पर द्विवेदीजी की इतनी ममता थी कि वह 'सरस्वती' की समालोचना बर्दाश्त न कर सके।

'मतवाला' में छपने के लिए बहुत-से लोग हास्य-विनोदमयी रचनाएं प्रायः भेजा करते थे। उनमें से मार्के की रचनाएं चुनकर मैं सुधार-संवार देता था। ऐसी रचनाओं के लिए 'रंगरूटों की फौज' नामक स्तम्भ बनाया गया था। राजनीतिक, सामाजिक, धार्मिक और साहित्यिक जगत् की जो हवाई खबरें और अफवाहें होती थीं उन्हें कलमबन्द करने के लिए 'चण्डूखाने की गप' नामक स्तम्भ कायम किया गया था। उससे पाठकों का इतना अधिक मनोरंजन होता था कि देश के अनेक भागों से लोग अपने यहां की उड़ती खबरें और दिलचस्प अफवाहें लिख-लिखकर भेजा करते थे। 'रंगरूटों की फौज' में भी प्रति सप्ताह नये सैनिकों का दल जुटने लगा। अपनी भेजी हुई खबरों और चुटकियों पर 'मतवाला' की रंगसाजी देखकर लोग बड़े विनोदपूर्ण ढंग से बधाइयां भेजा करते थे। हिन्दी-संसार के पत्र-पाठकों में 'मतवाला' ने एक नयी उमंग की लहर पैदा कर दी थी। हास्यरस की ओर लोगों का झुकाव दिन-दिन होता जाता था। नतीजा यह हुआ कि पहले साल के अन्दर ही वह दस हजार की संख्या में छपने लगा। केवल बनारस में ही एजेन्ट की मार्फत दो हजार प्रतियां खपती थीं। कलकत्ता में उसकी इतनी धाक थी कि जिस विषय पर वह लिखना शुरू करता था उस विषय के क्षेत्र में हड़कम्प मच जाता था। हिन्दू महासभा के विरोधी सनातनी सज्जनों का भण्डाफोड़ करने में उसने इतनी निर्भीकता से काम लिया कि सनातनी भाइयों को धर्म-रक्षिणी-सभा कायम करके 'धर्म-रक्षक' साप्ताहिक निकालना पड़ा। पारसी थियेटर कम्पनियों को भी उसने

बहुत निडर होकर रगड़ा, जिससे आतंकित होकर 'मतवाला'-मण्डल में दर्जनों 'पास' मुफ्त आने लगे। किन्तु हम लोगों ने कभी मुफ्त तमाशा नहीं देखा। बराबर 'मतवाला' के पैसों से देखा और खूब छूटकर लिखा। फिर तो ऐसा तहलका मचा कि पारसी कम्पनी के नाटक-लेखक 'मतवाला-मंडल' में स्वयं पधार कर पनाह मांगने लगे।

'मतवाला' में पारसी थिएटरों पर जो आलोचनात्मक लेख और अग्रलेख निकलते थे तथा व्यंग्य-विनोद छपते थे उनसे थिएटर के संचालकों और उनके लेखकों में बड़ी खलबली मची। थिएटरों के मालिक उस समय मदन थिएटर्स वाले थे। अल्फ्रेड थिएटर हरिसन रोड पर था और कोरिन्थिएन थिएटर धर्मतल्ला के पास था। दोनों के तमाशों पर तीव्र और उग्र टीका-टिप्पणी देखकर थिएटर कम्पनी वाले इतने बौखलाए कि 'पास' का लोभ दिखाकर 'मतवाला' को लुभाने का प्रयत्न करने लगे। वे अपने नाटककारों को भी 'मतवाला'-मंडल में भेजकर सिफारिश कराने लगे। मुंशीजी कुछ दूर तक घपले में आ गए थे। पर सेठजी सिद्धांत के बड़े पक्के थे, जाल में न फंसे। उन दिनों मदन थिएट्रिकल कम्पनी के नाटक-लेखकों में पं० नारायणप्रसाद 'वेताव', बाबू हरिकृष्ण 'जौहर', पं० तुलसीदत्त 'शैदा', आगा हश्र साहब आदि बड़े प्रसिद्ध थे। इन लोगों से मुंशीजी की पुरानी जान-पहचान थी। 'बेताब' जी का 'कृष्ण-सुदामा' नाटक पारसी थिएटर के रंगमंच पर महीनों लगातार चला था। उसमें भगवानदास नामक एक सुन्दर गायक अभिनेता श्रीकृष्ण की भूमिका में उतरते थे और पुरुषोत्तम नामक कुशल अभिनेता सुदामा का स्वांग धारण करते। दोनों के अभिनय पर जनता मुग्ध थी। उस नाटक का अभिनय देखने के लिए 'मतवाला'-मंडल से हम लोग कई बार गये थे। उसकी तारीफ भी 'मतवाला' में निकाली थी। 'वेताब' जी प्राय: 'मतवाला' की बौछार से बचे रहे। उन्हें 'मतवाला'-मंडल में कई बार मुंशीजी के पास देखा था। उन्होंने 'परास पुंज' नामक एक पुस्तक लिखी थी, जो हिन्दी पुस्तक एजेंसी (कलकत्ता) से निकली थी। उसमें अनुप्रास वाले शब्दों का अच्छा संग्रह था। वह बहुश्रुत विद्वान् और उर्दू के अच्छे शायर थे। हिन्दी में भी उनकी अनुप्रासमयी कविता बड़ी सरस होती थी। पता नहीं कि उनका 'कृष्ण-सुदामा' नाटक कहीं प्रकाशित हुआ या नहीं। छपने पर हिन्दी में वह एक अनूठी चीज होता। बातचीत में भी वह उर्दू के अच्छे-अच्छे शेर सुनाया करते थे। एक बार जोगिया रंग की पोशाक में उन्हें देखा तो वह एक सिद्ध फकीर-से जान पड़े। आध्यात्मिक विषयों की चर्चा करते समय वह एक अच्छे फिलॉसफर जान पड़ते थे। वह खुद कहा करते थे कि थिएट्रिकल कम्पनी की नौकरी सिर्फ रोटी के लिए करनी पड़ती है, नहीं तो स्टेज-रिहर्सल के समय

कम्पनी की वेश्या अभिनेत्रियां किसी भले आदमी की इज्जत नहीं रहने देतीं; क्योंकि कम्पनी के डाइरेक्टर उन्हीं सुन्दरियों के इशारे पर गीत रचवाते और नाटक के दृश्यों में हेर-फेर करवाते हैं।

बाबू हरिकृष्ण 'जौहर' हिन्दी के बहुत पुराने साहित्य-सेवी और यशस्वी पत्रकार थे। 'हिन्दी बंगवासी' आदि कलकतिया अखबारों में उन्होंने वर्षों काम किया था। वह भी कम्पनी की नीति से सहमत नहीं थे। उन्होंने 'मतवाला'-मंडल में यह साफ स्वीकार किया था कि कम्पनी के नाटककारों को सुरुचिपूर्ण नाटक लिखने की स्वतन्त्रता नहीं है। उस समय कोरिन्थिएन थिएटर मास्टर मदन नामक एक गायक की बड़ी धूम थी। उसके गानों और तरानों पर जनता झूमने लगती थी। वह अच्छा अभिनेता तो न था, पर गायक अच्छा था। उसके गाने थिएटर तर्ज के होते थे, जिनमें उसका मीठा गला जादू भर देता था, इसीलिए वह कम्पनी के मालिकों का कृपा-पात्र था। 'जौहर' जी के समान सुप्रतिष्ठित साहित्य-महारथी के बनाये हुए गीतों में भी वह स्वेच्छानुसार काट-छांट कराया करता था। 'जौहर' जी प्रायः मुंशीजी से इस बात की चर्चा किया करते थे कि कम्पनी में जो ललितकंठ गायक और कोकिलकंठी सुन्दरियां हैं उन्हीं के इशारे पर नाटककार और गीतकार को चलना पड़ता है। फिर भी 'जौहर' जी को बुढ़ापे में रोजी की चिंता तो थी ही, इसलिए एक दिन उन्होंने मुंशीजी से कहा कि 'जईफी के आलम में जो सूखी रोटी और नमक नसीब है वह भी जब 'मतवाला' को पसंद नहीं है तब मैं अपनी लेखनी को 'मतवाला'-मंडल में ही बंधक रखना चाहता हूं।' इतना कहते-कहते उन वृद्ध वसिष्ठ की आंखें छलछला उठीं। उसी समय मंशीजी ने उन्हें वचन दिया कि आज से कम्पनी के किसी भी नाटक के अभिनय पर एक शब्द भी न लिखने का 'मतवाला' दृढ़ संकल्प करता है। उसी दिन से 'मतवाला' ने पारसी थिएटरों का पीछा छोड़ दिया। बहुत दिनों के बाद जब एक बार काशी में 'जौहर' जी से भेंट हुई, तो उन्होंने 'मतवाला' के उठाये हुए उस नाटक-विरोधी आंदोलन पर बड़ा संतोष प्रकट किया। काशी में शहर से बाहर उनका एक अपना बंगला था। उनके गंजे सिर पर गोल टोपी बहुत फबती थी। उनकी बोली में बड़ी मिठास थी। उन्होंने आजीवन हिन्दी की सेवा की थी। हिन्दी-पत्रकारिता के इतिहास में उनका गौरवशाली नाम अमर रहेगा।

पं० तुलसीदत्त 'शैदा' पंजाबी थे। वह हिन्दी के उतने अच्छे जानकार नहीं जान पड़ते थे जितने उर्दू के। वह जब कभी 'मतवाला'-मंडल में आते अपनी उर्दू-शायरी खूब सुनाते। उनकी हिन्दी-कविता का छंद-बंद ठीक नहीं जान पड़ता था। तब भी उनकी तुकबंदी उर्दू-शायरी का पुट पाकर बड़ी सुहावनी हो जाती थी। वह बड़े मस्तमौला और हंसोड़ आदमी थे। अपने गीतों को खुद गाकर अदा करने में बड़े कुशल थे। चुस्त पाजामा, कलीदार अंगरखा, कश्मीरी टोपी, आंखों में

सुरमा, कान में इत्र का फाहा, जेब में सोने की घड़ी और हाथ में आबनूसी छड़ी—उनका मनोहर बाना था। जब वह आते थे, सफेद मगही पान और जाफरानी पत्ती जर्दा मुंशीजी उनके सामने पेश कर देते थे। उनका ठहाका भी बहुत बुलन्द होता था। वह भी कंपनी की नौकरी में अपनी लाचारी का हाल बयान किया करते थे। मगर 'बेताब' जी और 'जौहर' जी के समान उन्हें जनता की रुचि और साहित्य की मर्यादा के भ्रष्ट होने की उतनी चिंता नहीं थी जितनी अपने ऐश-आराम की जिन्दगी की। इतने पर भी वह 'मतवाला' की कम्पनी-विरोधी नीति के कायल थे। लेकिन कम्पनी के दायरे में अपनी मजबूरियों का वर्णन करते हुए वह 'मतवाला' से बराबर पनाह मांगा करते थे। कलकत्ता छोड़ने के बाद उनसे कभी भेंट नहीं हुई, और न कहीं उनका पता पाया। आगा हश्र साहब से तो एक बार काशी में महाकवि 'प्रसाद' के यहां भेंट हुई थी। वह उर्दू-फारसी के प्रकांड पंडित और कवि थे। उनकी जबान से उर्दू सुनने में बड़ा मजा आता था। वह भड़कीले कद और रोबीले चेहरे के तगड़े आदमी थे। वह भी हिन्दी में 'शैदा' जी की तरह अच्छी तुकबंदी कर लेते थे। पारसी-रंगमंच को उनके नाटकों ने काफी जीवनदान किया।

कलकत्ता के पारसी-रंगमंच पर जो अभिनेत्रियां काम करती थीं उनसे कहीं अच्छा बंगला-रंगमंच की अभिनेत्रियां कला-प्रदर्शन करती थीं। यद्यपि उन दिनों हिन्दी और बंगला रंगमंचों पर कई वेश्याएं भी अभिनय करती थीं, तथापि बंगाली अभिनेत्रियों में कई सराहनीय विशेषताएं थीं। बंगीय-रंगमंच की अभिनेत्रियों में कृत्रिम और मोहक भाव-भंगिमा नहीं होती थी। उनके स्वाभाविक अभिनय को देखकर यह कोई नहीं कह सकता था कि वे नाच-गान का पेशा करनेवाली बाजारू स्त्रियां हैं। वे थिएटर कम्पनियों में नौकरी तो करती थीं पर वे जिस नाटक की पात्री होती थीं उसकी मर्यादा का ध्यान रखती थीं, जिससे यह भान होता था कि उनके मन में भी बंगला-साहित्य और बंगला-रंगमंच की प्रतिष्ठा का ध्यान अवश्य है। किंतु पारसी-रंगमंच की अभिनेत्रियां प्रायः दर्शकवृन्द पर अपनी सुन्दरता और अंग-भंगी की मोहिनी डालने में ही तत्पर दीखती थीं। उस समय सुना जाता था कि धनी घरानों के बहुतेरे लाड़ले नौ जवान उनके शिकार हो चुके हैं। वास्तव में नाटक का उद्देश्य तो मनोरंजन के साथ-साथ समाज का सुधार और जनता के भावों तथा विचारों को उन्नत करना है। किंतु नाटकाभिनय का पेशा करनेवाली कम्पनियों ने नाटक के मुख्य उद्देश्य का निष्ठुरतापूर्वक हनन कर डाला था। उस युग में पारसी कम्पनियों ने नाटक-प्रदर्शन द्वारा समाज को पथ-भ्रष्ट किया और आज के युग में वही काम सिनेमा कम्पनियां कर रही हैं। यह सर्वनाशी तमाशा खुली आंखों हमारी अपनी सरकार भी देखती है और हमारे देश की नेता-मंडली

भी। किंतु आज भी हिन्दी-कम्पनियों से बंगला और मराठी की कम्पनियां कहीं अच्छी हैं।

उस समय कलकत्ता में जो सार्वजनिक नाट्य-समितियां और नाट्य-परिषदें थीं, वे भी पारसी रंगमंच के प्रभाव से बच नहीं सकी थीं। किंतु बाबू रामलाल वर्मन की हिन्दी-नाट्य-समिति और पं० माधव शुक्ल के हिन्दी-नाट्य-परिषद् के जो अभिनय होते थे उन पर साहित्यिक छाप काफी रहती थी। इन दोनों सार्वजनिक नाटक-मंडलियों में प्रतिद्वन्द्विता रहती थी और ये ऐसी चेष्टा करती थीं कि इनके अभिनय पर काफी साहित्यिक रंग चढ़ा दीख पड़े। हिन्दी-नाट्य-परिषद् का कार्यालय उस समय सिन्दूरिया पट्टी के नुक्कड़ पर था और हिन्दी-नाट्य-समिति कार्यालय अपर चितपुर रोड में बाबू रामलाल वर्मन के कार्यालय के समीप ही था। उसी में मुंशी भृगुनाथ लाल संगीताचार्य रहते थे। वह गाजीपुर जिले के निवासी थे। उनके पास मैंने संगीतशास्त्र का एक हस्तलिखित हिन्दी-ग्रन्थ देखा था। उसमें गीतों की स्वरलिपियां भी दी गई थीं। मुंशीजी उस विशाल ग्रंथ को छपवाना चाहते थे, पर उनकी अभिलाषा पूरी नहीं हुई। फिर ग्रंथ का पता नहीं चला। यदि वह प्रकाशित हो पाता तो निश्चय ही हिन्दी में संगीत-विद्या का एक अनुपम ग्रंथ होता। मुंशीजी बहुत वृद्ध थे, इसलिए वृद्धावस्था की कामना के साथ उस ग्रंथ का भी लोप हो गया। बाबू रामलाल वर्मन भी उस ग्रंथ के प्रकाशन की बात सोचते-सोचते चल बसे। उनकी इच्छा कलकत्ता में एक हिन्दी-रंगमंच स्थापित करने की भी थी। एक बार पं० जगन्नाथप्रसाद चतुर्वेदी के घर पं० चन्द्रशेखर पाठक के उद्योग से कुछ नाटक-प्रेमी साहित्यिकों का बटोर हुआ था। उसमें वर्माजी और शुक्लजी भी थे। उन्हीं दिनों चतुर्वेदीजी का 'मधुर मुरली' नामक नाटक और पं० ईश्वरीप्रसाद शर्मा का 'दुरंगी दुनिया' नामक नाटक प्रकाशित हुआ था। वे लोग हिन्दी-रंगमंच की स्थापना के लिए कुछ दिन बहुत कार्य-तत्पर रहे। किंतु वे सब-के-सब कुछ ही दिनों के बाद इस संसार को छोड़ गए और हिन्दी रंगमंच की स्थापना का उद्योग जहां-का-तहां रह गया।

पूज्य निरालाजी

विवेकानन्द-सोसाइटी (कलकत्ता) से जब हिन्दी मासिक 'समन्वय' निकलने का निश्चय हुआ तब उसके योग्य एक सम्पादक की खोज में सोसाइटी के विद्वान् संन्यासी स्वामी माधवानन्द सीधे आचार्य द्विवेदीजी के पास पहुंचे। द्विवेदी ने ही निरालाजी को चुनकर सोसाइटी में भेजा।

कहते हैं, महात्मा गांधी ने नेहरू-सा नगीना चुना था। महापुरुष सचमुच सच्चे पारखी होते हैं। द्विवेदीजी ने निराला-सा नगीना परखा। प्रतिभा की जो

परख उन्होंने की, उसका लोहा कौन न मानेगा ? निरालाजी को पाकर सोसाइटी धन्य हुई। स्वामी माधवानन्दजी के सामने ज्यों-ज्यों निरालाजी का जौहर खुलता गया, त्यों-त्यों वह द्विवेदीजी की सौंपी हुई थाती को अनमोल रतन की तरह जुगाने लगे।

'मतवाला'-मण्डल के मकान में ही उक्त सोसाइटी भी थी, मैंने स्वयं देखा था कि स्वामीजी बराबर निरालाजी की सेवा और सुख-सुविधा का ध्यान रखते थे। यहां तक कि वह सदा निरालाजी का मुंह जोहते रहते थे। निरालाजी का शील-सौजन्य ही ऐसा था कि एक बार जिसने उस पारस को परखा वह सोना होकर रहा। 'मतवाला'-सम्पादक श्री महादेवप्रसाद सेठ का जब सम्पर्क हुआ, तब वह निरालाजी के हाथों बिक-से गए। उनके समान निराला-भक्त आज तक कोई हुआ ही नहीं। यदि वह जीवित रहते तो निरालाजी को कभी कोई विक्षिप्त नहीं कहने पाता।

सोसाइटी के अन्य संन्यासी लोग भी निरालाजी का बड़ा सम्मान करते थे। वे सभी बंगाली थे और बंगला भाषा तो निरालाजी के लिए मातृभाषा के समान ही थी। उन विद्वान् संन्यासियों के साथ दार्शनिक बातचीत में निरालाजी ही वजनदार निकलते थे। स्वामी वीरेश्वरानन्दजी ने एक बार उनकी विलक्षण तर्क-शक्ति पर विस्मित होकर कहा था, 'एमन की मानबेर मेधा ?'

'मतवाला'-सम्पादक सेठजी कभी-कभी कोई बात छेड़कर बहस का मजा लेने के लिए मुंशी नवजादिकलाल श्रीवास्तव और निरालाजी की को भिड़ा देते थे। मुंशीजी तो सचमुच मुंशी थे, मगर निरालाजी की सरस्वती जब मुखर होती थी तब उस विवाद का दृश्य देखने योग्य होता था। निरालाजी को मुंशीजी भी इसीलिए उत्तेजित करते जाते थे कि अधिक-से-अधिक उनकी वाग्विदग्धता का आनन्द लिया जा सके। निरालाजी की तार्किकता की तारीफ यह थी कि उसमें कहीं से असंयम नहीं आ पाता था। उनकी स्मृति-शक्ति और युक्तियुक्त बात का कायल होना ही पड़ता था।

'मतवाला' में निरालाजी की कविता तो बराबर छपती ही थी, समालोचना भी वही लिखते थे, पर उसमें अपना नाम देते थे—गरगजसिंह वर्मा। उन्होंने 'सरस्वती' पत्रिका में प्रकाशित रचनाओं पर कुछ अंकों में लगातार लिखा। उस समय भी आदरणीय बख्शीजी ही सम्पादक थे। आचार्य द्विवेदी की इतनी अधिक ममता 'सरस्वती' पर थी कि उन्होंने रोषवश 'मतवाला' के उन अंकों का विधिवत् सम्पादन करके डाक से भेज दिया। द्विवेदीजी ने उन अंकों को आद्योपान्त रंग डाला था। उन्हें देखकर निरालाजी इतना अधिक हंसे कि उतनी देर तक उन्हें अविराम हंसते मैंने कभी नहीं देखा। उस समय उनकी बैसवाड़ी बोली में द्विवेदीजी की स्तुति सुनने योग्य थी।

निरालाजी कुछ दिन काशी में रहे थे। मैं भी उन दिनों वहीं था। 'प्रसाद'जी के साथ खूब बैठक होती थी। मध्य गंगा में वजरे पर कविता-पाठ भी हुआ था। निरालाजी ने हारमोनियम वजाकर 'श्री रामचन्द्र कृपालु भज मन' पद गाया था। 'प्रसाद'जी ने परोक्ष में उनकी बड़ी प्रशंसा की थी। साहित्य और संगीत दोनों शास्त्रों में उनकी असाधारण गति देखकर 'प्रसाद'जी बहुत प्रभावित हुए थे। 'प्रसाद' जी राग-द्वेषरहित व्यक्ति थे। उन्होंने उसी समय निरालाजी को कई बार तौलकर कहा था कि हिन्दी को ईश्वर की देन हैं निराला। वह भविष्यवाणी आज प्रत्यक्ष है।

'पंचवटी' कविता का पाठ करते समय निरालाजी की भावभंगी देखकर मुंशीजी को वंगीय रंगमंच के कुशल अभिनेताओं की भंगिमा याद हो आती थी। निरालाजी की नाट्यकला भी जिसने कभी देखी है उसकी आंखों में आज भी उनका कौशल कौंधता होगा।

अखिल भारतीय हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन का महाधिवेशन कलकत्ता विश्वविद्यालय के सिनेट-हॉल में हुआ था। कविवर रत्नाकरजी अध्यक्ष थे। हॉल से बाहर निकलकर निरालाजी सामने के पार्क (वेलिंग्डन स्क्वायर) में खड़े हो गए। कुरता उतार लिया। छाती तानकर भुजाओं की मांसपेशियों को उभारने और तौलने लगे। सिर पर जुल्फें झूम गईं। चारों ओर से तमाशा देखनेवाले आ जुटे। शक्ति और सौन्दर्य का वह पुंज, वह निराला बस निराला ही था।

निरालाजी अपनी जवानी में कुश्ती भी लड़े थे। 'मतवाला'-कार्यालय में भी वह धूल लगाकर कसरत किया करते थे। उक्त मुंशीजी जब अपने घर (जिला बलिया) जाते थे तब उनके लिए गंगा की चिकनी मिट्टी लाया करते थे। उस समय उनके सिर पर काली-काली जुल्फें थीं। सेठजी उनके लिए केश-रंजन और जवाकुसुम तेल लगाकर रखे रहते थे। इतना ही नहीं, उनके जूते में रोज पालिश भी किया करते थे। जब वह बाहर घूमने निकलते, सेठजी उनकी जेब में रुपये-पैसे डाल देते। किन्तु लौटने पर एक पैसा भी उनके पास बचा न रहता और कोई चीज भी खरीदकर नहीं लाते। भिखारी भी उन्हें पहचान गए थे, क्योंकि वैसा अवढरदानी कलकत्ता-भर में कोई मिला न था। जेब में हाथ पड़ने पर जो कुछ अनायास निकल आता वह आगे पसरे हाथ पर वेसुधी से रखकर अपनी राह चले जाते। उनके अक्खड़ मिजाज की थाह कभी मिलती न थी। मुंशीजी प्रायः चेतावनी देते रहते थे कि हाथ संभालिए और भविष्य के लिए संचय भी कीजिए। वर्तमान का ही उन्हें ध्यान न था तो भविष्य की क्या कथा! वह तो व्यायाम के समय अपनी फूली छाती और मांसल भुजाओं की मांसपेशियां ही देख-देखकर प्रसन्न होते थे, बुढ़ापे की कल्पना उनके उत्फुल्ल मस्तिष्क में क्यों

आती ! वह पुरुषार्थ के कवि थे। उनके तन-मन में सदा पौरुष का तेज-ओज भरा रहता था। पहले-पहल उनकी कविता-पुस्तक 'अनामिका' निकली, तब अभिनय की भावभंगी के साथ वह उसे जब सुनाने लगे, उनके पुरुषत्व का रोमांचकारी रूप सामने खड़ा हो गया। वह बड़े कुशल और सफल अभिनेता भी थे। महिषादल (बंगाल) के राजा उनके अभिनय-कौशल पर मुग्ध होकर उन्हें राजकुमार की तरह लाड़-प्यार करते रहे। किन्तु निराला किसी प्रकार के राजसी प्रलोभन के शिकार होने वाले व्यक्ति न थे। गोकुल से मथुरा चले आये तो भूले-भटके भी गोकुल की ओर रुख न किया। शौकीनी का मजा भी खूब लिया। भारतेन्दुजी की तरह अंजलि में इत्र की शीशी उड़ेलकर वस्त्र में पोता और कभी मैले-कुचैले पहने ही तलहथी पर सुरती मलते बाजार की ओर नंगे पांव, नंगे बदन निकल गए। उन्हें इसका भान ही न था कि कल जिसने चूनदार धोती-कुरते में देखा है वह आज फटेहाल देखेगा तो क्या कहेगा ! किसी के कुछ कहने-सुनने की परवाह उन्हें थी ही नहीं।

एक बार पुष्प-प्रदर्शनी (कलकत्ता) में सेठजी ने पांच रुपये में खरीदकर एक सुन्दर गुलदस्ता निरालाजी के हाथ में थमाया। जब घूम-फिरकर सब लोग कार्यालय में आये तब पता चला कि वह गुलदस्ता प्रदर्शनी में ही कहीं छोड़ आए, जिसके लिए उनको साथ लेकर सेठजी फिर ट्राम पर प्रदर्शनी गये, पर निरालाजी को स्मरण ही न रहा कि कहां छोड़ा। सेठजी ने जाड़े में उनके लिए शकरपारे की एक निहायत नफीस दुलाई बनवाई। बड़े प्रेम से ढाका-मलमल खरीद लाये, बढ़िया रंगों में दोनों पल्ले रंगवाए, रूई भी लाल-हरी रंगी गयी, उस पर अबरक की ।रतें जड़ी गयीं, साटन का चौड़ा हाशिया चारों ओर लगा, ऊपर से घनी सुजनी भी पड़ी। निराला ओढ़कर मुसकराये भी पर एक-दो सप्ताह बाद उसे एक भिखमंगे को ओढ़ा दिया। कड़ाके की सर्दी में वह मंगन खुले अंग उनके सामने आ गया, बस झट अपने तन से उतारकर उसकी देह पर अपने ही हाथों लपेट दिया। मैंने औचक ही देखा, तो सेठजी और मुंशीजी को प्रेस में से बुलाने दौड़ा। जब तक वे दोनों बाहर आये तब तक वह नकलची मंगन छूमन्तर हो गया। कल्पनातीत प्रसाद पाते ही उसके पैरों में पंख लग गये। सेठजी स्वयं दौड़ पड़े, पर वह भाग्यवान क्यों मिलने लगा ! और निरालाजी ? वह खिलखिलाकर हंसते ही रहे, 'क्यों आप लोग परेशान हो रहे हैं—बेचारा आराम से जाड़ा काटेगा !' सेठजी ने हंसकर ही कहा, 'आप धन्य हो, महाराज !'

हिन्दी-संसार में महाकवि निराला के समान त्यागवृत्ति का कोई साहित्यसेवी अब तक देखने में नहीं आया। उनकी त्याग-भावना इतनी प्रबल थी कि जीवनभर काफी पैसे कमाकर भी फक्कड़ ही बने रहे। गीता के भगवद्वाक्य त्यागाच्छान्ति निरन्तरम्' के अनुसार उन्हें अपने त्याग-बल से ही ऐसी शान्ति

प्राप्त हो गयी थी कि सब तरह की कठिनाइयों और असुविधाओं को अविचल धैर्य और सन्तोष के साथ झेलते चले गए। प्रकाशकों या पत्र-पत्रिकाओं से उनके लब्धांश का द्रव्य मिले या पुरस्कार का, सुबह-शाम में उड़ जाता था। पर उनका एक पैसा भी फालतू खर्च में नहीं जाता था। आरम्भ से ही उनकी यह दशा थी। जब पहले-पहल घर से रामकृष्ण-मिशन की सेवा में कलकत्ता आये, लगभग डेढ़-दो साल तक न अपने परिवार को कुछ भेजा और न किसी सगे-सम्बन्धी को। उनका कुटुम्ब तो हर जगह था। विवेकानन्द सोसाइटी से हर महीने ठीक समय पर वेतन मिल जाता था। 'मतवाला'-सम्पादक श्री महादेवप्रसाद सेठ हर घड़ी उनकी आवश्यकताओं की पूर्ति में दत्तचित्त रहते थे। पुस्तक-प्रणयन से भी पैसे मिल ही जाते थे। किन्तु 'वसुधैव कुटुम्बकम्' के सिद्धान्तों के लिए तो कुबेर का भण्डार भी पर्याप्त नहीं है।

सेठजी के साथ बाजार में जाते थे तो सेठजी केवल उन्हीं के लिए फल और मिठाई खरीद लाते थे, पर उन्हें निरालाजी रास्ते में मिलने वाले कंगालों को बांटते हुए घर पहुंचते थे। अपने हाथ का सामान चुक जाने पर सेठजी के हाथ से बार-बार लेते जाते थे। सेठजी भी उनके ऐसे अनन्य पुजारी थे कि उनका मुंह ताककर चुप रह जाते या कभी-कभी अनखाकर कहते कि मेरे हाथ का सब सामान आप ही ढो ले चलिए। प्रायः खरीदते समय मुंशी नवजादिकलाल श्रीवास्तव स्मरण करा देते थे कि नाहक इतने पैसे का सामान खरीद रहे हैं, आखिर निरालाजी सारी राह खैरात ही बांटते चलेंगे और खाली हाथ ही घर पहुंचना होगा। तब भी सेठजी निराला का मन तोड़ना नहीं चाहते थे। निराला की मनस्तुष्टि के सामने सेठजी पैसे को कोई महत्त्व नहीं देते थे। मुंशीजी प्रायः मजाक में ही कह दिया करते कि आप (सेठजी) ही निराला के बहके मन को शह दे-देकर बिगाड़ते जा रहे हैं। पर यह बात तो अवांछनीय रूप में रास्ता भर पैसे लटाने के खयाल से कही-सुनी जाती थी, निराला पर इसका कोई असर नहीं होता था। वह कभी कुछ खरीदने का आग्रह नहीं करते थे। उनके लिए सेठजी के मन में जो स्वाभाविक प्यार-दुलार था, उसी को चरितार्थ करने के लिए सेठजी अपना हाथ रोक नहीं सकते थे। सेठजी जान-बूझकर प्यार का अत्याचार सहते थे—यदि सचमुच इसे कोई प्यार का अत्याचार कहे तो। सेठजी के प्यार पर यह निराला का अत्याचार नहीं था और न सेठजी के प्यार-दुलार की यह अग्नि-परीक्षा ही थी। यह तो निराला के स्वच्छन्द मन की मौज थी, जिसको सदैव तरंगित देखते रहने में ही सेठजी सन्तोष अनुभव करते थे और कभी झुंझलाते भी थे तो निर्विकार हंसी के साथ निराला को भी हंसाते हुए ही।

निरालाजी वास्तव में निराला ही थे। अंगूर का गुच्छा या मस्कट के मीठे खजूर की पुड़िया किसी भिखारी के हाथ में देते समय हंसकर कह भी देते थे कि

इसे मेरे सामने चखकर देखो तो कैसा है। जब मुंशीजी टोकते थे कि उसे भरपेट चना-चबेना खाने को नकद पैसे ही क्यों नहीं दे देते महाराज, तब एक-दो सन्तरे उसके हाथ पर और रख देते थे, चाहे वे बेशकीमती नागपुरिया हों या सिलहट के। एक दिन एक कंगले को लाल सेव देकर उसे सीख देने लगे कि इसे तू खाएगा तो तेरा चेहरा ऐसा ही सुर्ख बन जाएगा, जिस पर उसने दीनतापूर्वक हंसकर कहा कि एक दिन आपकी मर्जी से यह खाने को मिल ही गया तो क्या इतने से ही मेरे सूखे बदन में खून आ जाएगा, मालिक ! यह सुनकर निराला ने सेठजी से कहा कि इसे दो रुपये दे दीजिए, यह और भी खरीदकर खाएगा। सेठजी ने भी बिना हिचक वैसा ही किया और जब मुंशीजी ने ठहाके के साथ यह कह दिया कि इतने पैसे से भी वह नया खून लाने भर सेब नहीं खा सकता, तब अपनी जेब से झट निकालकर एक रुपया फिर दे दिया। तब तो इधर-उधर से दौड़े आते हुए मंगतों को देख सेठजी उन्हें साथ खींचकर आगे बढ़ चले।

मुंशीजी पटना सिटी के सेठ किशोरीलाल चौधरी के साबुन-तेल-फुलेल के कारखाने के मैनेजर थे और सेठजी के पुराने मित्र भी। एक बार निराला उनके कारखाने में गए तो मुंशीजी ने उन्हें वहां की बनी चीजें प्रेमोपहार-स्वरूप दीं। किन्तु 'मतवाला'-मंडल में पहुंचते-पहुंचते सुगन्धित भूतनाथ तेल की एक शीशी ही बच पायी, साबुन की टिकिया भिखमंगों के गन्दे कपड़े साफ करने के लिए रास्ते में ही बंट गयीं। उन्हें भिखमंगे पहचान गए थे। वह भी उन्हें मैले-कुचैले कपड़े पहने देखकर उनके पास ठिठककर पूछन लगे कि तुझे साबुन दे दूं तो अपने कपड़े तू खुद साफ कर लेगा। भला अयाचित धन किस अभागे को न सुहाता ! कई जोड़े हाथ निराला के आगे फैल गए और दनादन सब पर एक-एक टिकिया चू पड़ी। इतना ही नहीं, मसालेदार तेल की बोतल भी खुलकर एक-एक की चांद पर बरसने लगी। सुगन्धित तेल की शीशी मेरी जेब में उनकी आंखों से ओझल न होती तो वह भी पुण्य लूटकर रहती। तारीफ यह कि तेल ढालकर वह सुन्दर बोतल भी एक के हवाले कर दी। इतने में तिलकुट बेचनेवाला अपना खोमचा लिये उधर ही आ निकला और निराला ने अपनी जेब के सब पैसों से तिल की मीठी टिकड़ियां खरीदकर उन भुक्खड़ों में बिखेरना शुरू कर दिया। मजा यह कि सब चुक जाने पर उन बेचारों की गिड़गिड़ाहट सुनकर यह वादा भी कर दिया कि अब दूसरे किसी दिन फिर आकर तुम लोगों को प्याजी पकौड़ियां खिलाऊंगा, जिसे सुनते ही सब-के-सब एक स्वर से उन्हें असीसने लगे।

निराला की ये कहानियां आज के युग में उपन्यास की मनगढ़न्त बातें समझी जाएं भले ही, पर आज जो निराला की पूजा-प्रतिष्ठा हो रही है उससे इनकी साधना स्वतः सिद्ध हो रही है। पुण्य-बल के बिना कीर्ति-प्रसार कदापि नहीं

होता। निस्पृह त्याग से बढ़कर कोई पुण्य भी नहीं। व्यास-वचनानुसार 'परोपकाराय पुण्याय' तभी मनुष्य कर पाता है जब उसकी प्रकृति में त्याग-वृत्ति की प्रधानता रहती है। निराला अपने त्याग का प्रदर्शन नहीं करते थे। कभी किसी से उसकी चर्चा तक न करते थे। यह तो उनकी सहज प्रकृति का मूलाधार था। कोई उनके सामने इस गुण की प्रशंसा भी करता था तो वह मौन ही रहते थे। वह आत्मश्लाघा सुनने के अभ्यासी न थे। कभी-कभी तो कहीं ऐसा प्रसंग छिड़ने पर वहां से उठकर अलग चले जाते थे। मैंने तो यहां उनके बहुत छोटे-मोटे त्यागों का उल्लेख किया है, उनकी क्षमता की सीमा से बाहर के बड़े-बड़े त्यागों के भी प्रसंग हैं, जिनसे उनका सारा जीवन ही व्याप्त था। पर मेरे विचार से मानव की महत्ता को परखने में उसके प्रतिदिन के जीवन की छोटी-से-छोटी बातें विशेष सहायक होती हैं। 'मतवाला' के प्रेस का मशीनमैन अचानक बहुत घायल हो गया। ट्रेडिल में उसका समूचा आधा हाथ ही पिस गया। वह गरीब मुसलमान था। सेठजी ने दो कम्पोजिटरों के साथ उसे अस्पताल भेजा और एक को अलग उसके घर भेजा कि परिवारवालों को अस्पताल में शीघ्र पहुंचना चाहिए। लाख मना करने पर भी निराला उस कम्पोजिटर के साथ उसके घर गये, केवल इसीलिए कि उसके घर की गरीबी अपनी आंखों देख आएं। जब तक वह अस्पताल में रहा, निराला उसे फूलकटरा से गुलदस्ता खरीदकर दे आते थे और बीड़ी के बदले सिगरेट भी। उसके घरवालों को सेठजी से अतिरिक्त सहायता और पेशगी की रकम भी दिलवाई। उस आदमी ने लौटकर बतलाया कि आज निरालाजी उसके बूढ़े बाप और बीवी-बच्चों के लिए अन्न-वस्त्र की मासिक व्यवस्था भी कर आए थे। इस तरह के असंख्य छोटे-बड़े परोपकार उन्होंने किये थे, जिनकी डायरी लिखी जा सकती है। कितने ही ऐसे काम तो किसी को मालूम भी न हो पाए हैं। यह कहने की आवश्यकता नहीं कि सहज त्याग-भावना के बिना परोपकार हो नहीं सकता। सर्वोपरि बात यह कि उनके परोपकार-कर्म सात्विक होते थे, क्योंकि सदा निष्काम भाव से किये जाते थे।

निराला तो अपने जीते-जी ठीक-ठीक परखे ही नहीं गए। उनकी दीनबन्धुता को निगोड़ी दुनिया ने विक्षिप्तता की संज्ञा दे डाली। उनका त्याग भी स्वार्थी समाज में उनका पागलपन ही समझा गया। पर कठोर सत्य तो यह है कि निराला ने संसार या समाज की कुत्सा पर कभी कान ही न दिए। यावज्जीवन वीतराग की तरह रहे। ऋणी भी हुए तो परहितार्थ ही। लड़े-झगड़े भी तो न्याय के पक्ष पर अडिग रहकर। अपनी पीर गोई और पराई पीर संजोई। स्वाभिमान के सर्वोच्च शिखर पर बैठे रहकर फकीरी-बेफिक्री से संसार की ओर उपेक्षा भरी कनखियों से देखा। स्वयं हलाहल के घूंट पीकर दूसरों को अमृत ही पिलाते रह गए। समाज में त्यागी और साहित्य में बागी इस युग में दूसरा ऐसा हुआ ही

कौन ?

परमात्मा ने उनकी मनोवृत्ति और प्रवृत्ति समझकर ही उन्हें सबसे पहले श्री रामकृष्ण-मिशन की सेवा में नियुक्त किया था और उन्होंने भी 'यथा नियुक्तोऽस्मि तथा करोमि' को अक्षरशः चरितार्थ किया। परमहंस श्री रामकृष्णदेव के वेलूड़-मठ (कलकत्ता) में प्रतिवर्ष परमहंसजी और स्वामी विवेकानन्दजी की जयन्तियों तथा पुण्यस्मृति-तिथियों पर वहां दरिद्रनारायण को विधिवत् भोजन कराया जाता था। मिशन की शाखा विवेकानन्द-सोसाइटी के विद्वान् संन्यासियों के साथ 'समन्वय' सम्पादक निरालाजी भी जाया करते थे। उस विराट आयोजन के कार्यक्रमों में निराला केवल दरिद्रनारायण को भोज्य पदार्थ वितरित करने का ही काम अपने जिम्मे लेते थे। कंगालों के खिलाने में उनकी गहरी लगन देख लोग मुग्ध हो रहते थे। वहां अधिकतर बंगीय भद्र समाज ही जुटता था और निराला मातृभाषा की तरह बंगला भाषा बोलकर समागत समाज को आप्यायित कर देते थे। वह बंगीय समाज में दूध-मिसरी की तरह घुल-मिल जाते थे। स्वाभाविक रीति से बंगला बोलने वाला व्यक्ति शीघ्र ही बंगाली बन्धुओं का आत्मीय बन जाता है। अच्छी अंग्रेजी और 'खांटी' बंगला बोलने के कारण ही वहां के समाज में भी वह पूर्णतः समादृत थे। बंगभाषा के साहित्य में उनकी पैठ किसी विचक्षण बंगाली से भी कम न थी। उस समय के लोग आग्रहपूर्वक उनसे कवीन्द्र रवीन्द्र के गीत गवाकर सुनते और तृप्त होते थे।

भगवद्विभूतियां उन्हें खूब मिली थीं। आकर्षक रूप, लम्बे-तगड़े डीलडौल का शरीर, व्यायाम के अभ्यास से सुगठित स्वास्थ्य, विलक्षण मेधाशक्ति, ललित मनहर कण्ठ, दयार्द्र हृदय, चिन्तनशील मस्तिष्क, उद्भावना-शक्ति-सम्पन्न बुद्धि —सब कुछ भगवान् ने उन्हें भरपूर दिया था। बड़ी-बड़ी सुहावनी-लुभावनी आंखें, दमकती दाड़िम-दशनावली, घुंघराली अलकावली, लघु मुखविवर, पतले-पतले अधर, पतली-पतली बांकी अंगुलियां, प्रशस्त वक्षस्थल, हर तरह सिरजनहार ने उन्हें संवारा था। जिस मण्डली में बैठ जाते थे, उसे अपने व्यक्तित्व से जगमगा देते थे। उनकी जुल्फें टकटकी बांध लेती थीं। कविता-पाठ की भावभंगी श्रोताओं के हृद्गत भावों को उद्दीप्त कर देती थी। 'मतवाला'-मंडल (कलकत्ता) में एक बार एक धनी-मानी बंगीय परिवार से उनके विवाह का प्रस्ताव भी आया था। पर वह तो एकपत्नीव्रत थे। उनके पास तो युवती छात्राएं भी साहित्यिक उद्देश्य से आती थीं। छात्र भी आते थे। पर वह किसी छात्रा से वार्तालाप करते समय आंखें बराबर नहीं करते थे। कामिनी-काञ्चन का त्याग करके वह गृहस्थाश्रम में ही संन्यासी बने रहे। यदि उन दिनों मोहक पदार्थों के प्रति उनके मन में आसक्ति होती तो उन्हें हस्तगत करनेवाले गुण उनमें पर्याप्त थे। किन्तु सांसारिक सुख-भोगों की वासनाएं उनकी पत्नी के साथ ही विलीन हो गयीं। कंचन की

कामना कभी उनके भीतर झांकने भी न पायी। द्रव्य के लिए उनका करतल प्रवाह-क्षेत्र मात्र था। द्रव्य-संचय उनका ध्येय कभी रहा ही नहीं। धन उनके पास अतिथि के समान अल्पावधि तक ही टिकने आता था। अगर हजार आया तो डेढ़ हजार के खर्च का चिट्ठा पहले से तैयार है। अभावग्रस्तों के अभाव उनके दिमाग के दायरे में मंडराते रहते थे। भरपेट खाने के लिए तरसने वाले निकौड़िये से लेकर मेहनत-मशक्कत करने वाले मजदूर तक उनकी निगाहों में बसे हुए थे और जब कभी उनके मन-माफिक अर्थलाभ हो जाता, वह तुरन्त उन मरभुक्खों की ओर दौड़ जाते। 'जिनके लहहिं न मंगन नाहीं, ते नर वर थोरे जग माहीं'— उन्हीं थोड़े लोगों में वह भी एक थे।

'मतवाला'-मंडल में भिखमंगी की समस्या पर और अखबारों में छपे इस विषय के समाचारों या लेखों पर जब कभी बातचीत होती थी, यदि निराला वहां उपस्थित रहते, बड़े आवेश में वह अपने युक्तियुक्त तर्क उपस्थित करते। वह देश में फैली हुई आर्थिक विषमता पर शब्दास्त्र-संधान करते समय उग्रतम साम्यवादी प्रतीत होते थे। यद्यपि हृष्ट-पुष्ट भिक्षुकों के प्रति उनकी सहानुभूति भी उन्मुख नहीं थी, तथापि असमर्थ या अपाहिज भिखारियों की दयनीय दशा के लिए वह शासन और समाज की ही तीव्र आलोचना किया करते थे। लंगड़े, लूले, अंधे, कोढ़ी और निकम्मे दीन-दुखियों पर ही उनकी दृष्टि अटकती थी, फिर तो वह अपनी वास्तविक परिस्थिति को बिलकुल भूल जाते थे। कलकत्ता-सदृश महानगर की सड़कों की दोनों पटरियों पर वह ढूंढते फिरते थे कि वस्तुतः कौन बेचारा कैसी दुर्गति में है। उनका अधिकांश अवकाशकाल दीनों की दुनिया में ही बीतता था। वहां फुटपाथों पर भिखारियों के सिवा बहुतेरे निराश्रित गरीब और कुली-कबाड़ी भी रात में पड़े रहते हैं। उनके लिए बीड़ी, मूढ़ी, भूजा, चना, मूंगफली आदि खरीदकर वितरण करनेवाला धनकुबेरों की उस महानगरी में निराला के सिवा दूसरा कोई न देखा गया। बड़े-बड़े सेठ धनीधोरी रात में भी उन पटरियों पर से गुजरते थे, पर कहीं-कहीं कभी दो-चार पैसे फेंकनेवाले भले ही दीख जाएं, निराला की तरह उन दीनों से आत्मीयता स्थापित करनेवाले ढूंढ़े भी नहीं मिल सकते थे। उस महानगर में नाना प्रकार के मनोरंजन के साधन हैं। क्या उन्हें उपलब्ध करने के लिए निराला को पैसों की कमी थी? किन्तु उनका मनोरंजन तो दीन-दुखियों को सुख पहुंचाने से ही होता था। कोई मित्र उन्हें सिनेमा-थिएटर भले ही ले जाए, उनके पैसे तो भूखे-रूखे गरीबों की सेवा में ही लगने पर अपनी सार्थकता समझते थे।

निराला केवल शहरों या बाजारों और स्टेशनों के अन्दर मिलने वाले दीन-जनों पर ही ध्यान नहीं देते थे, अपने गांव और पड़ोस के गरीब गृहस्थों की सहायता का भी ध्यान रखते थे। उनके गांव और जिले के भी कई आदमी

उनकी उदारता या दानशीलता की कहानी सुनकर उनके पास आ धमकते थे। अतिथि भी उनके विचित्र भांति के होते थे। परिचितों और कुटुम्बियों के अतिरिक्त ऐसे लोग भी कलकत्ता तक दौड़ लगाकर उनका पीछा करते थे, जो उनसे किसी-न-किसी प्रकार का लगाव जोड़कर उनके शील-सौजन्य से लाभ ऐंठ लेते थे। भोजन के सिवा कपड़े-जूते की मांग तो होती ही थी, चलते समय राह-खर्च की फरमाइश भी होती थी। देखनेवालों को भले ही यह नागवार मालूम होता हो, पर निराला की शान्ति भंग नहीं होती थी। उनकी शान्ति तो तभी भंग होती थी जब किसी जरूरतमंद की मदद नहीं कर सकते थे। किसी आदमी को अपने से अनुचित लाभ उठाते देखकर भी उनके धैर्य को ठेस नहीं लगती थी। दूसरों के अभाव को अपने ऊपर ओढ़ लेने से भी उनका शान्त-गम्भीर हृदय कभी विचलित होता नहीं देखा गया। अगर कोई कहता भी था कि आप इतना खटराग क्यों पालते हैं, ऐसे पर-मुण्डे फलाहार करनेवालों को टरकाया कीजिए, तो मुसकराकर ही रह जाते थे। उनको भला सीख कौन दे सकता था ! वह तो स्वयं ही नीति और धर्म के मर्मज्ञ थे।

यह विशेषता निराला में ही देखी गयी कि अपनी आवश्यकताओं को भुलाकर दूसरों की आवश्यकताओं को दूर करने के लिए परेशानियां और कठिनाइयां झेलने में अधीर नहीं होते थे। उन्हें अपने खाने-पीने या कपड़े-लत्ते की कभी चिन्ता ही नहीं हुई। अच्छा कपड़ा-जूता भी कुछ ही दिनों तक उनके पास टिकता था। तोशक-रजाई तक किसी को दे डालने में तनिक हिचक न होती थी। न उनके पास कुञ्जी रह पाती थी और न कभी कपड़े या रुपये-पैसे रखने के लिए कोई ट्रंक या बक्स ही खरीदा। गद्दे या लिहाफ की परवाह न करके जैसे-तैसे सो रहे और उतने ही में आराम से दिन गुजार लिये। सुन्दर पलंग या शानदार कुरसी-मेज की कभी कामना ही नहीं की। जिस कमरे में रहना है उसकी सजावट का कभी सपना भी न देखा। यद्यपि उन्होंने 'मतवाला'-सम्पादक के अविरल स्नेह के प्रसाद-स्वरूप अच्छे-से-अच्छे कपड़े और तेल-फुलेल तथा खानपान का सुख अच्छी तरह भोग लिया, तथापि अपनी कमाई के पैसों से इसी भोग-विलास की सामग्री नहीं वेसाही। कलकत्ता छोड़ने पर जब वह लखनऊ और प्रयाग में रहे, तव भी वह मस्तमौला फकीर की तरह ही जीवन-यापन करते रहे। जहां कहीं रहे, आस-पास के दूकानदारों को मुंहमांगा दाम देकर निहाल कर दिया। इक्के-तांगेवाले भी उनकी दरियादिली से परिचित थे और उन्हें देखते ही दूसरे के साथ तय किया हुआ भाड़ा छोड़कर उन्हें साग्रह बिठा लेते थे। अड़ोस-पड़ोस के गरीब उनसे इतने अधिक उपकृत रहते थे कि उन्हें राह चलते देख असीसने लगते थे। याचकों के लिए तो वह कल्पतरु थे ही, अपने मित्रों के लिए भी मुक्तहस्त दोस्त-परस्त थे। मित्रों, परिचितों और अतिथियों के स्वागत-

सत्कार का वैसा हौसला अव देखने में नहीं आ रहा।

वहुत-से लोगों को निराला-सम्वन्धी ये वातें अतिरंजित जान पड़ेंगी। पर मैं तो निराला के साथ वर्षों रहकर उनके प्रतिदिन के जीवनक्रम को वहुत ही निकट से देख चुका हूं और उनके स्नेह-भाजन के रूप में उनका प्रगाढ़ स्नेह भी पाता रहा हूं। किन्तु आधुनिक युग में ऐसी वातों को अतिशयोक्ति समझनेवाले सज्जन यह सोचें तो सही कि भूखे को देखते ही अपने आगे परसी हुई थाली उसके सामने रख देनेवाले कितने महानुभाव आज के समाज को विभूषित करते हैं! निराला खुद मामूली कपड़ों में गुजर करके गरीव को अपने नये कपड़े दे डालते थे और जाड़े में भी पुराने कम्बल के सहारे जिन्दगी वसर करके अपना नया लिहाफ तक गरीव को उढ़ा देते थे। इस तरह के आचरण के लोग साहित्य-जगत् में तो नहीं देखे गए हैं। जिस व्यक्ति में अन्यान्य लोगों से जो अधिक विशिष्ट गुण हों उनका स्मरण न करना-कराना ईश्वर की दी हुई वाणी को व्यर्थ करना है।

उनके त्याग की कहानियां तो अनन्त हैं। उसकी डायरी लिखी जा सकती है। 'मतवाला' प्रति शनिवार को निकलता था। उस दिन प्रातःकाल ही कई वंगाली युवक स्नातक अपनी साइकिल लेकर पहुंच जाते थे। वे प्रति सप्ताह अखवार वेचकर अपना कमीशन ले लेते थे। 'मतवाला' की काफी धूप और धाक थी। गरीव छात्रों को उसकी विक्री से पर्याप्त सहायता मिल जाती थी। एक दिन एक अत्यन्त दीन-मलीन छात्र से निरालाजी हालचाल पूछने लगे। उसने वतलाया कि भाड़े की साइकिल पर अखवार वेचता हूं। उसे फटेहाल देख ऐसे द्रवित हुए कि डेढ़ सौ रुपये की नयी साइकिल तो खरीद ही दी, उसके लिए डवल सूट भी वनवा दिया और कहा कि स्वावलम्बन का सहारा मत छोड़ो तथा पुस्तकें खरीदने के लिए पैसे मुझसे लेते जाओ। 'मतवाला'-सम्पादक को यह वात मालूम हुई तो उन्होंने निरालाजी से पूछा कि दो-ढाई सौ रुपये इस समय कहां से आपको मिल गए। निरालाजी ने हंसकर टाल दिया। फिर पता चला कि उन्होंने श्री महादेवप्रसाद झुनझुनवाला (पुस्तक-प्रकाशक, वड़तल्ला) से एक पुस्तक लिखने का वचन देकर पेशगी ऋण लिया है।

'मतवाला' कार्यालय का दरवान गोरखपुर-वस्ती की ओर का रहने वाला एक वड़ा खूबसूरत नौजवान था। वह निरालाजी को 'गुरुजी' कहा करता था। उसकी शादी ठीक हुई तो उसने उनसे निवेदन किया कि मेरी वरात में अवश्य चलिए। किन्तु उसकी शादी के ऐन मौके पर निरालाजी का भतीजा, जिसे वह 'वड़कौना' कहा करते थे, बीमार हो गया। तव भी उन्होंने रेशमी साड़ी, मखमली कुर्ती, सोने का इयर-रिंग (कर्णाभरण), इत्र-फुलेल आदि खरीदकर उसे दस रुपये नेवते के साथ दे दिया। यह काम उन्होंने विलकुल गुपचुप किया। जव वह शादी के बाद लौटा, तव यह रहस्य खुला। वह अपने ऐसे गुप्त उपकारों की कभी कहीं

चर्चा तक न करते थे। उनकी कमाई के अधिकांश पैसे मौन भाव से परोपकार में ही खर्च होते थे।

सुहृद्-संघ (मुजफ्फरपुर) के वार्षिकोत्सव से लखनऊ लौटते समय मुझसे मिलने के लिए बीच में छपरा उतरे तो रिक्शेवाले की फटी गंजी देख उससे हाल-चाल पूछने लगे और एक नयी गंजी तथा एक नया अंगोछा खरीदकर अपने सामने ही फटी गंजी निकलवाई और नयी पहनाई। वह वेचारा रोता हुआ उनके चरणों पर लोटने लगा। ऐसे उपकार वह किया करते थे।

निराला अपने गुरुजनों के प्रति जैसे शिष्ट थे वैसे ही स्वाभिमानी और त्यागी भी थे। जिस प्रकार वह स्वयं किसी आदरणीय व्यक्ति का सम्मान करते थे उसी प्रकार वह उस व्यक्ति से भी सम्मान पाना चाहते थे। एक बार वह एक साहित्यिक सभा (कलकत्ता) में गए तो उसके सभापति ने उठकर उनका स्वागत नहीं किया। मंच पर चढ़ तो गए, पर क्षण-भर खड़े ही रहकर नीचे उतर आए। तब भी सभापति ने उन्हें नहीं रोका-टोका। 'मतवाला'-सम्पादक उनका रुख समझ उनके पीछे लग गए। किन्तु निरालाजी बाहर आते ही टैक्सी पर आगे निकल गये।

वहीं एक कवि-सम्मेलन में कवियों की जो नामावली सुनाई गई उसके अन्त में उनका नाम था ताकि श्रोता अन्त तक बैठे रहें। परन्तु नामावली के आरम्भ में ही अपना नाम न सुनकर वह उठकर चल पड़े। हम साथियों ने रोकना चाहा तो कहने लगे कि मैं कविता चाहे अन्त में ही पढ़ता, पर नामावली में सबसे नीचे मेरा नाम क्यों दिया गया और मुझसे पूछा भी न गया।

आखिर चले ही गए। उनका स्वाभिमान बड़ा दुलार चाहता था। उसका नाज उठाना सबके वश का न था।

मैं नवम्बर, १९६० में उन्हें देखने प्रयाग गया था तो २४ नवम्बर को त्रिवेणी-स्नान के समय देखा कि एक चमचमाती 'बस' पर बम्बई से प्रसिद्ध अभिनेता श्री राजकपूर और कुछ चलचित्र-तारिकाएं आयी थीं। हजारों दर्शकों की अपार भीड़ थी। 'गंगा-जमुना' के देश का चित्र बनने वाला था[1]। मैंने निरालाजी के पास जाकर उस दृश्य का वर्णन किया। सुनकर कहने लगे कि राजकपूर के पिता पृथ्वीराजजी जब कभी प्रयाग आये तब मेरे पास अवश्य ही आये, पर राजकपूर अब तक नहीं आया। ऐसा उनका मिजाज शुरू से था।

'मतवाला'-मंडल के मुंशी नवजादिकलाल श्रीवास्तव के साथ वह एक दिन पंडित नारायणप्रसाद 'बेताब' से मिलने गये। बेताबजी नामी नाटककार थे।

---

१. 'जिस देश में गंगा बहती है' शीर्षक फिल्म।—सं०

उन्होंने अपने निवास-स्थान पर एक नाट्य-गोष्ठी का आयोजन किया। उसमें निरालाजी को भी आमंत्रित किया। पर हम लोगों के बहुत आग्रह पर भी वह नहीं गये। बोले कि मैं पहले-पहल उनके घर जाकर उनसे मिला और आज तक वह मुझसे मिलने मेरे पास नहीं आये। यदि उन्हें अवकाश नहीं तो आज मुझे भी नहीं है। ऐसे असंख्य प्रसंग हैं जो उनके आत्माभिमान के गौरव-शिखर को दूर से ही इंगित करते हैं।

निरालाजी आचार्य द्विवेदी के कृपापात्र ही नहीं, स्नेह-भाजन भी थे। सबसे पहले द्विवेदीजी ने ही उनकी मेधाशक्ति को परखा। द्विवेदीजी के हार्दिक अशीर्वाद के साथ ही वह हिन्दी के साहित्य-क्षेत्र में अवतीर्ण हुए थे। इस बात को वह स्वयं मुक्तकंठ से स्वीकार करते थे।

जब वह 'मतवाला' में 'गरगर्जसिंह वर्मा' के कल्पित नाम से अन्य पत्र-पत्रिकाओं के साथ 'सरस्वती' की भी आलोचना करते थे, तब द्विवेदीजी को इसका पता न था कि निराला ही आलोचना लिखा करते हैं। 'सरस्वती' की आलोचना जब उन्हें असह्य हो उठी तब जितने अंकों में आलोचना छपी थी सबको आद्यन्त संशोधित करके भेज दिया और लिखा कि दूसरे का छिद्रान्वेषण करने से पहले अपनी ओर देख लेना चाहिए। द्विवेदीजी ने पेंसिल से ही सब अंकों को आपाद-मस्तक काट-छांटकर रजिस्ट्री से भेजा था। निरालाजी उस समय बहुत देर तक हंसते-हंसते थक गए और उस दिन से आलोचना के लिए कभी 'सरस्वती' को हाथ में न लिया। उनका आग्रह था कि आचार्य की लेखनी से शोधे गए पृष्ठ प्रकाशित कर दिए जाएं, पर 'मतवाला'-सम्पादक ने उन पृष्ठों को तिजोरी में सदा के लिए कैद कर दिया। यदि वे पृष्ठ आज मिल सकते तो अनमोल समझे जाते।

उनके ध्वन्यात्मक विनोद भी नहीं भूलते। मेरा तीसरा विवाह हुआ तो मेरी धर्मपत्नी को देखने काशी आये। भाई उग्रजी पहले ही आकर देख गए थे। देखकर बहुत प्रसन्न हुए। मैं कालभैरव की चौमुहानी के पास रहता था। वहां बूढ़ा महादेव मलाईवाला बड़ा नामी था। भोजन के समय पूआ-पूरी और खीर के साथ वह गाढ़ी मलाई भी थी। मैंने कहा कि महादेव की मलाई की तारीफ यह है कि उसमें उंगली नहीं गड़ती। हंसकर बोले, 'अच्छा तो अपने नये अनुभव के अनुसार किसी दूसरी ऐसी चीज का नाम बतलाइए जिसमें उंगली न गड़ती हो और जिसका स्वाद भी ऐसा ही आनन्ददायक हो।' मेरी देहाती पत्नी इस विनोद को न समझ सकी, पर हम दोनों खूब हंसे। किन्तु जब मैंने कहा कि पूरी और शाक ही अधिक खा रहे हैं, पूआ खीर-मलाई भी मांग-मांगकर खाइए, तब फिर हंसकर कहने लगे कि मैं भोजन के स्वाद का आनन्द लेने में उकताता नहीं और रसीली वस्तु का आनन्द रसे-रसे लेने से ही तृप्ति होती है। मैं हंसने लगा और मेरी पत्नी झट वहां से उठकर चौके में चली गई, तब उनका भी हास्य उस स्थान

को मुखरित करने लगा। उनके स्नेह की स्मृति बहुत सालती है।

उनकी सेवा-भावना का तो कहना ही क्या! 'मतवाला' के प्रथम कार्यालय (२३ शंकर घोष लेन) के पिछवाड़े विद्यासागर कॉलेज था। उसकी एक सभा में हम लोग जा रहे थे। कार्नवालिस स्ट्रीट के फुटपाथ पर आर्यसमाज मन्दिर के सामने एक कुत्ता कराहता पड़ा था। उसकी पीठ पर एक पका घाव था। देखते-देखते उसके पास बैठ गए। सभा का समय हो गया था। पर वह झट उठकर सामने के दवाखाने से मरहम की डिबिया खरीद लाये, अपने रूमाल से घाव पोंछकर फेंक दिया और सारा मरहम उसके घावों पर लेप दिया। उसके बाद ही नल पर हाथ धोकर सभा में गये। मुंशीजी ने सभा से लौटती बार विनोद किया कि बेचारे को कुछ खाना भी दे दीजिए, तो तुरन्त खोमचेवाले से पकौड़ियां लेकर कुत्ते के आगे रख दीं। वह आतुरता से गपकने लगा तो खिलखिलाकर हंसने लगे। ऐसी बहुतेरी बातें हैं जिनसे निरालाजी के करुणार्द्र हृदय का परिचय मिलता है।

मेरी दूसरी पत्नी रोग-शैया पर शोचनीय स्थिति में पड़ी थी। मैं वाराणसी घोष स्ट्रीट में 'हिन्दू-पंच' के सम्पादक पंडित ईश्वरीप्रसाद शर्मा के साथ रहता था। 'मतवाला' की सेवा में व्यस्त रहने से उसकी सेवा-सुश्रूषा में कठिनाई होती थी। दोनों स्थानों के बीच काफी दूरी थी। निरालाजी ने सम्पादक और मुंशीजी से कहकर मेरे संकोच करने पर भी उसको कार्यालय में ही लाकर रखने का प्रयत्न किया। एक कमरा खाली कराया। उसके आ जाने पर चिकित्सा और सेवा में उन्होंने जो तत्परता और सहानुभूति प्रदर्शित की वह उन्हीं के योग्य थी। यहां तक कि मल-मूत्र की सफाई करने में भी तनिक न हिचके। मैं हाथ जोड़कर कहता कि आप ब्राह्मण होकर मुझ पर पाप लाद रहे हैं, तो कहते कि जिस संस्था (रामकृष्ण-मिशन) में रहता हूं, उसका मुख्य सिद्धान्त सेवाव्रत का पालन ही है। ऐसा आदर्श पुरुष हिन्दी में कहां कोई है?

उनको लोग जीवन के अंतिम दिनों में अर्द्धविक्षिप्त कहने लग गए थे, पर वास्तव में किसी प्रकार का उन्माद उनमें नहीं था। अपनी ही चिन्तनधारा में सतत तल्लीन रहने के कारण वह प्रायः बाह्य-ज्ञानशून्य रहा करते थे। यह उनका जन्मजात स्वभाव था। 'मतवाला' के समय से ही मैं उन्हें देखता आया कि चिन्तनशीलता के कारण सामने ही होती हुई बातचीत वह नहीं सुन पाते थे। कई बार सभा-सम्मेलनों में जाकर वह लौटने पर पूछने लगते थे कि अमुक वक्ता ने क्या-क्या कहा। ऐसे विदेह चिन्तक होने से ही वह जीवन-भर स्वार्थी शोषकों द्वारा चूसे गए। उन्हें यदि अपने ठगे या छले जाने का ज्ञान भी हो आता था तो वह अपने अंगीकृत शील की मर्यादा का उल्लंघन नहीं करते थे। कभी-कभी तो वह जान-बूझकर प्रत्यक्ष प्रवंचनाओं और प्रतारणाओं को हंसते-हंसते उपेक्षित कर देते

थे। अपनी प्रतिभा और कमाई से दूसरों को अनुचित लाभ उठाते देखकर भी वह उन लोगों के प्रति सदा सहानुभूतिशील ही बने रहे। दूसरों के लाभ और हित के लिए अपनी अर्जित द्रव्यराशि का स्वेच्छा और सन्तोष के साथ उत्सर्ग करने में वह स्वभावतः सुख का अनुभव करते थे। परोपकार करते रहने की उनकी सहज प्रकृति थी, पर कभी कहीं उसकी चर्चा तक न करते थे।

नवम्बर १९६० में उनकी अस्वस्थता का विवरण बताने वाला एक छपा पर्चा मुझे प्रयाग से मिला। मैं २३ नवम्बर को उन्हें देखने के लिए प्रयाग गया। लीडर प्रेस में भारती भंडार के व्यवस्थापक पंडित वाचस्पति पाठक के घर पर सामान रखकर सीधे उनके पास दारागंज चला गया। मेरे साथ मेरा ज्येष्ठ पुत्र (आनन्दमूर्ति) और मेरा पांच वर्ष का पौत्र (लल्लू) भी था। मुझे अपने आगे उपस्थित देख वह अत्यन्त प्रसन्न हुए। कुशल-मंगल के बाद हाल-चाल पूछकर बोले कि आप दूर की यात्रा में थके हैं। रात हो रही है, जाकर विश्राम कीजिए और कल प्रातःकाल यहां आ जाइए, तब दिन-भर बातचीत होगी, भोजन भी यहीं मेरे साथ करना होगा। उस समय मैंने देखा कि उनके पैरों में कुछ सूजन है। उनके एकमात्र सुपुत्र पं० रामकृष्ण त्रिपाठी भी उनकी सेवा में आ गए थे। पता चला कि उत्तर प्रदेश के तत्कालीन मुख्यमंत्री डॉ० सम्पूर्णानन्द और शिक्षामंत्री पं० कमलापति त्रिपाठी वहां उन्हें देखने आये थे तो विशेषादेश द्वारा रामकृष्णजी का तबादला झांसी से प्रयाग करा दिया था। वह झांसी में संगीत के प्राध्यापक थे। अब प्रयाग में आकर वह अपने पूज्य पिता की सेवा-शुश्रूषा में हाथ बंटाते थे। उनका परिवार अभी झांसी में ही था। उनकी इच्छा थी कि दारागंज में एक मकान लेकर परिवार के साथ पिताजी की सेवा करते रहें। किन्तु यह जानकर भी मुझे आश्चर्य नहीं हुआ कि निरालाजी स्थान-परिवर्तन करना नहीं चाहते। उक्त मंत्रियों और डॉक्टरों की सलाह मानकर वह सरकारी अस्पताल में जाने को भी तैयार न थे। मैंने भी उनसे निवेदन किया, पर उन्होंने स्पष्ट कह दिया कि बरसों से जो मेरी देखभाल करते आ रहे हैं उनका तिरस्कार करके अन्त में अपनी सेवा का श्रेय दूसरों को देना मुझे पसन्द नहीं। बाद में भी मैंने सुना कि वह अन्त तक अस्पताल जाने को राजी न हुए। उनका यह आग्रह कुछ नया न था। जो कुछ मन में निर्णय कर लेते थे उसमें किसी के समझाने-बुझाने पर भी हेर-फेर नहीं करते थे। वह दुराग्रही नहीं थे, पर अपने हृदय की बातों पर कान दिये रहते थे और उनका हृदय अतिशय भावुक था।

दूसरे दिन मैं त्रिवेणी-स्नान कर प्रातःकाल ही निरालाजी के पास पहुंचा। मैं दोहरी अंडी-चादर ओढ़े हुए था, तब भी बार-बार आग्रह करके उन्होंने अपने हाथों लिहाफ ओढ़ाया और मकान-मालकिन को बुलाकर कहा कि मूंग-उड़द की दाल बनाओ, चावल के साथ पूरियां भी रहें, हरी भाजी और उड़द-चने की

वड़ियां मंगाओ। सारांश यह है कि भोज्य पदार्थों की पूरी तालिका बता दी। फिर छात्र-हितकारी पुस्तकमाला के संचालक वयोवृद्ध पं० गणेश पाण्डेय को भी बुलाया और साथ खिलाया। कहने लगे कि अकेले भोजन करने में आनन्द नहीं आता। मेरे पोते को अपनी गोद में बिठाकर दुलराते रहे। एक सज्जन फोटो लेने आ गए तो मुझे अपनी शैया पर बगल में बिठाकर फोटो खिंचवाया। अपराह्न तीन वजे तक नयी-पुरानी बातों का क्रम चलता रहा। यहां तक कह डाला कि आपके आने से मेरा आधा रोग अच्छा हो गया। मेरा उत्साह बढ़ा और मैंने हाथ जोड़कर प्रार्थना की कि रोग-निवारण के लिए संयम और विश्राम पर विशेष ध्यान रखिए तथा बातचीत बहुत न कीजिए। पर वह बगल में रखी 'अभिज्ञान शाकुन्तल' की पोथी लेकर चुने हुए श्लोक सुनाने और अर्थ की बारीकी सुझाने लगे। मैं उन्हें बोलने के लिए छेड़ने से जितना ही परहेज करता था उतना ही वह बोलते चले जाते थे। कभी कवीन्द्र रवीन्द्र की पंक्तियां पढ़ने लगते, कभी शेली और मिल्टन की कविताएं मुखागार ही कहते जाते। मैं उठकर जाने से भी लाचार था। मुंशी नवजादिकलाल श्रीवास्तव ('मतवाला'-मण्डल-सदस्य) के परिवार का हाल पूछने लगे, जिसे अपने पुरस्कार के इक्कीस सौ रुपये वह दे चुके थे। प्रोफेसर नन्ददुलारे वाजपेयी और डॉक्टर रामविलास शर्मा तथा पं० विनोदशंकर व्यास की भी चर्चा करने लगे। जब तक मैं बैठा रहा तब तक मेरे चुप्पी साधने पर भी बोलते ही रहे। मेरे निषेध करने पर भी उनकी धारा शान्त न हुई। मित्रों और स्नेहियों के प्रति उनका हृदय बराबर उत्कंठित रहता था। संयम और विश्राम के लिए करबद्ध प्रार्थना करके जब मैं लीडर प्रेस लौटा तो पीछे से रिक्शा पर मकान-मालकिन के साथ वहां आ धमके। वहां वाचस्पति के अतिरिक्त 'भारत' के सहकारी सम्पादक पं० विश्वम्भरनाथ जिज्जा और श्री भगवतीचरण वर्मा बैठे हुए थे। सबने विस्मय और विषाद से कहा कि आपको यहां आने का कष्ट नहीं करना चाहिए था, डॉक्टरों की हिदायत के मुताबिक चलने से ही स्वास्थ्य सुधरेगा। किन्तु निरालाजी एक तो स्वयं बड़े भारी वेदान्ती थे, दूसरे फिर ब्रह्म ने उन्हें दार्शनिक कवि भी बना दिया था, तीसरे वह ऊंचे-से-ऊंचे दर्जे के मस्तमौला मनमौजी भी थे, इसलिए वह सुन तो सबकी लेते थे, पर करते अपने मन की ही थे। यही उनकी स्वच्छन्द मनोवृत्ति उनके लिए घातक सिद्ध हुई। शरीर की क्षण-भंगुरता और संसार की अनित्यता पर उनसे कौन शास्त्रार्थ कर सकता था! जीवन का मूल्यांकन करने की शिक्षा देने योग्य उनके परिचितों और इष्ट मित्रों में कोई न था। उनके ज्ञान की सीमा बहुत विस्तृत थी, पर उनकी प्रकृति में जन्मजात निरंकुशता थी।

निरालाजी संसार से ऐसे निस्संग रहे कि जीवन-भर फक्कड़शाह बने रहे।

उनके पास न अपना कोई सन्दूक था, न ताली-कुंजी थी। कपड़े-लत्ते और रुपये-पैसे की मोह-ममता तो थी ही नहीं। कितने कपड़े सिले और कितने धुले, उन्हें कुछ याद नहीं। दर्जी और धोबी के ईमान पर ही विश्वास रखते थे। कपड़ों की हिफाजत की भी फिक्र नहीं कर पाते थे। अपनी धुन में मस्त रहने से फुरसत ही कहां थी! रुपये-पैसे का हिसाब-किताब रखने का अभ्यास ही नहीं था। तकिये के नीचे नम्बरी नोट पड़े रहते। नोटों को उनके पास पड़े रहने का अवकाश कहां मिलता था! पूरे चौबीस घंटे तक उनके पास जो द्रव्य ठहर जाए, उसका अहो-भाग्य! जो सुबह आया वह किसी तरह शाम तक रहा और जो शाम को आया वह सुबह होते-होते ठिकाने लग गया। वह दुर्व्यसनी नहीं थे, विषयी भी नहीं थे। परन्तु यारों को पता रहता था कि उनके पास रुपये आये हैं और वह जरूरतमन्दों के सामने इनकार नहीं कर सकते। उनकी मुक्तहस्तता से लाभ उठाने के लिए बहुतेरे लोग बरबस जरूरतमन्द बन जाते थे। रेशमी कुरता और रेशमी चादर भी गायब हो जाए तो उसकी खोज या चिन्ता में तनिक भी परेशान नहीं होते थे। तकिया-तले कितने रुपये रखे थे और कितने खर्च होने से बच गए हैं, यह याद रखना उनके लिए शक्य नहीं था। उनके इस निस्संग स्वभाव से जो लोग परिचित थे, वे उन्हें कल्पवृक्ष ही मानते थे। कल्पवृक्ष तो वह दीन-दुखियों के थे ही, पर नकली या बनावटी दुखिया भी उनके पास पहुंचकर बहती गंगा में हाथ धो लेते थे। सचमुच वह उन अन्य पुरुषों में थे 'जिनके लहहिं न मंगन नाहीं'। कामिनी-कांचन से उदासीन और विरक्त रहने वाला ही तो महापुरुष कहलाता है!

निरालाजी की रचनाओं पर विचार करने का यह अवसर नहीं है। पर यह तो विशेष रूप से उल्लेखनीय है कि वह भाषा के असाधारण पारखी थे। भाषा की प्रकृति, शैली, धारा और शुद्धता परखने में उनकी दृष्टि बड़ी पैनी थी। 'मतवाला' में वह 'गरगजसिंह वर्मा' के नाम से पत्र-पत्रिकाओं और नयी पुस्तकों की भाषा पर आलोचनात्मक दृष्टि से विचार किया करते थे। शब्दों के चिन्त्य प्रयोगों पर वह हमेशा ध्यान रखते थे। कविता या गद्य की कोई पुस्तक या रचना पढ़ चुकने के बाद उसकी अशुद्धियों तथा भाषा-भाव-विषयक असंगतियों पर बड़ी मार्मिकता से अपनी निर्णयात्मक सम्मति व्यक्त करते थे। हिन्दी-संसार के धुरन्धर-से-धुरन्धर साहित्यकारों में भी जो बात उन्हें खटक जाती थी उसे स्पष्ट प्रकट कर देते थे। इस विषय में उनकी सूक्ष्मदर्शिता विलक्षण थी। भाषा की बारीकियों की पहचान में पं० जगन्नाथप्रसाद चतुर्वेदी बड़े दक्ष थे, किन्तु ऐसा प्रसंग छिड़ने पर उन्हें भी निरालाजी का लोहा मानना पड़ता था। निरालाजी के युक्तियुक्त तर्क से कायल होते उन्हें भी मैंने देखा है। यह काम निरालाजी कभी राग-द्वेष से प्रेरित होकर नहीं करते थे। हिन्दी के स्वरूप को निष्कलंक बनाये रखने के लिए ही वह शब्द-योजना और वाक्य-विन्यास पर गहरी निगाह रखते थे। भाषा-

सम्बन्धी अराजकता उन्हें असह्य थी। तव भी इस विषय के विवाद में किसी से उलझना उन्हें अभीष्ट न था। इसीलिए वह कल्पित नाम से 'मतवाला' में लगातार लेखमाला लिखते रहे। हिन्दी की तो बात ही क्या, वंगला भाषा के दुष्प्रयोगों पर वह अपने सहवासी विद्वान् बंगाली संन्यासियों को चुनौती दिया करते थे। भाषा की खूबियों और खामियों पर उनके समान सूक्ष्मेक्षिका दृष्टि रख ने वाला कोई सहज प्रहरी अब नहीं सूझ पड़ता।

निरालाजी क्रान्तिकारी विचार के थे। उन्होंने काव्यशैली में क्रान्ति उपस्थित कर दी। वह युग-प्रवर्तक थे, साहित्य-क्षेत्र में नवयुग का सुप्रभात दिखाकर उन्होंने अपना नाम सार्थक किया। सब सही है, पर सबसे वढ़कर वह देवोपम मनुष्य थे। उनकी मनुष्यता ने ही समस्त लोक-मानस को अपनी ओर आकृष्ट किया। यदि वह निष्कपट हृदय और उदात्त चरित्र के व्यक्ति न होते तो केवल प्रतिभा के वल से साहित्यिक समाज के हृदय पर एकाधिपत्य स्थापित न कर पाते। पूर्ण मानवता ने उनकी प्रतिभा को विशेष उद्दीप्त कर दिया। उनके मनुष्यत्व की महिमा से जो परिचित हैं वे उनके विषय में फैली हुई भ्रान्त धारणाओं को सर्वथा निराधर मानते हैं।

निरालाजी खड़ी बोली की नयी धारा के क्रान्तिकारी कवि तो थे ही, ब्रजभाषा के भी रससिद्ध कवि थे। मारवाड़ी चित्रकार पं० मोतीलाल शर्मा (कलकत्ता) की चित्रावली में प्रत्येक चित्र के नीचे उनका लिखा ब्रजभाषा का पद्यात्मक चित्र-परिचय प्रकाशित हुआ था, जिसे देखकर कालपी (उत्तर प्रदेश) के वयोवृद्ध साहित्यसेवी वावू कृष्णवलदेव वर्मा चकित होकर निरालाजी की ओर बड़ी देर तक मुग्ध मुद्रा से देखते रह गए। वह महाकवि केशवदास के विशेषज्ञ माने जाते थे और 'विशाल-भारत' के संयुक्त सम्पादक वावू ब्रजमोहन वर्मा के पितृव्य थे। 'मतवाला' कार्यालय में वह प्रायः आया करते थे। निरालाजी के कवित-पाठ का अभिनय भी देख चुके थे। जानते थे कि निरालाजी हिन्दी के प्राचीन साहित्य से अनभिज्ञ हैं। पर उस दिन ब्रजभाषा की कविता-रचना में निराला की निपुणता देखकर वह रीतिकाल की कसौटी पर निराला को परखने लगे। निराला ने तुलसी से केशव की तुलना उस स्थल पर की जहां राम की वन-यात्रा में सीता और लक्ष्मण सावधानीपूर्वक राम के पदांग को बरा कर चलते हैं। 'रामचरितमानस' और 'रामचन्द्रिका' के ऐसे ही कई स्थानों पर जब निराला ने तुलसी के साथ केशव को भिड़ाकर दोनों के जौहर दिखाए, तब वर्माजी को उनकी विचार-सारणी में अभूतपूर्व नवीन अथवा अदृष्टपूव विलक्षण चमत्कार दीख पड़ा, साथ ही लोहा भी मानना पड़ा। निराला की बहुमुखी प्रतिभा से कितने ही लोग विस्मित हो चुके हैं, पर जब तक वह प्रतिभापुंज रहा, हमने नही पहचाना।

महादेवप्रसाद सेठ

'मारवाड़ी-सुधार' लगातार दो साल तक निकलता रहा था। मैं उसके सम्पादन और प्रकाशन के कार्य से अवकाश पाकर मारवाड़ी-समाज के केन्द्र-स्थलों में भी जाता था। इस प्रकार दो वर्ष की अवधि में राजस्थान, इन्दौर, वम्बई, कलकत्ता, दिल्ली, कानपुर, भागलपुर, मुजफ्फरपुर, झरिया, रानीगंज आदि अनेक स्थानों की यात्रा करनी पड़ी। संरक्षकों और ग्राहकों की संख्या काफी बढ़ी। जब अखिल भारतीय मारवाड़ी-अग्रवाल-महासभा का मासिक मुखपत्र 'मारवाड़ी-अग्रवाल' कलकत्ता से निकलने लगा, तब निश्चय किया गया कि 'मारवाड़ी-सुधार' बन्द कर दिया जाय; क्योंकि एक ही उद्देश्य के दो अलग-अलग पत्रों की आवश्यकता नहीं है। पत्र वन्द होने पर महादेवप्रसादजी सेठ ने मुझसे अपने प्रेस में रहने के लिए साग्रह अनुरोध किया। दो वर्ष मेरा परिश्रम देखकर उन्हें सन्तोष हुआ था। मेरे मन में भी साहित्य-सेवा की लगन थी। महादेवप्रसाद सेठ बालकृष्ण प्रेस के मालिक थे। उनके साथ मुंशी नवजादिकलाल श्रीवास्तव भी रहते थे। पर मुंशीजी पटना-सिटी-निवासी किशोरीलाल चौधरी के 'भूतनाथ'-कार्यालय के मैनेजर थे। यह कार्यालय मछुआवाजार में था, जहां सुगन्धित तेल और साबुन का रोजगार होता था। वहां मुंशीजी की वड़ी प्रतिष्ठा थी।

सेठजी मिर्जापुर (उत्तर-प्रदेश) के एक धनाढ्य खत्री-परिवार के सदस्य थे। उनके घराने में पत्थर का रोजगार बहुत दिनों से होता था। कलकत्ता-नगर में उस समय केवल उन्हीं का घराना पत्थर का एकमात्र व्यापारी था। नीबूतल्ले में गद्दी या आढ़त थी। संभवतः अब भी है। परिवार उनका बहुत बड़ा और सम्मिलित था। सब लोग वंशानुगत व्यवसाय में ही व्यस्त रहते थे। किन्तु सेठजी का मन उस धन्धे में नहीं लगता था।

सेठजी जब नवयुवक थे, उनका एक लेख द्विवेदी-युग की 'सरस्वती' में छपा था। छात्रावस्था से ही वे हिन्दी के अनन्य प्रेमी थे। अपने अभिभावकों की इच्छा के विरुद्ध वे घर से निकल पड़े। सवसे पहले वे प्रयाग गये। वहां हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन में श्रीपुरुषोत्तमदास टण्डन से मिले और साहित्य-सेवा का कोई काम देने के लिए निवेदन किया। टण्डनजी ने उनकी हिन्दी-सेवा की श्रद्धा और उमंग देखकर पन्द्रह रुपये मासिक वेतन का एक काम उन्हें सौंपा। उस समय वही सुलभ था।

जब सेठजी के परिवार में यह संवाद पहुंचा कि वे पन्द्रह रुपये पर नौकरी कर रहे हैं, तब उन्हें घर बुलाकर गुरुजनों ने समझाया कि अपना चमका हुआ व्यापार छोड़कर यदि हिन्दी का ही काम करना है; तो कुल-परम्परागत प्रतिष्ठा के अनुकूल कुछ करो। उसके बाद वे कलकत्ता चले आये और अपने घराने की

गद्दी से कई हजार की पूंजी लेकर पुस्तक-प्रकाशन का श्रीगणेश किया। मुंशी नवजादिकलाल श्रीवास्तव से उनकी मैत्री हो गई। दोनों साथ ही रहने लगे। खान-पान सम्मिलित था, किन्तु प्रकाशन-व्यवस्था पर सेठजी का ही एकाधिपत्य था।

सेठजी ने जो पुस्तक सबसे पहले प्रकाशित की थी उसका नाम 'स्वराज्य' था। मुंशीजी की एक पुस्तक 'गृहिणी-कर्तव्य' नाम से निकली थी। तीसरी पुस्तक थी—'मिस्र की स्वाधीनता', जिसके लेखक थे श्रीसम्पूर्णानन्दजी (उत्तर प्रदेश के भूतपूर्व मुख्यमन्त्री)। और भी कई पुस्तकें छपी थीं। किन्तु छपाई आदि में ही पूंजी समाप्त हो गयी; क्योंकि पुस्तकों की बिक्री से जो पैसे आते थे, वे भोजन-वस्त्र में लग जाते थे। अत: उन्होंने एक प्रेस खोलने के लिए आढ़त से काफी बड़ी रकम मांगी। यद्यपि सम्मिलित परिवार से मनचाही रकम नहीं मिली, तथापि कामचलाऊ प्रेस तो खुल ही गया। स्वनामधन्य साहित्य-महारथी पंडित वालकृष्ण भट्ट के शुभ नाम पर प्रेस का नामकरण हुआ। भट्टजी को ही वे त्यागी-तपस्वी साहित्यसेवी मानते थे। मुंशीजी के सहयोग से प्रेस चल निकला। भूतनाथ-कार्यालय के अतिरिक्त अन्यान्य कारखानों से भी मुंशीजी प्रेस के लिए काम लाते थे। परन्तु इस सहयोग और सहायता के लिए मुंशीजी कभी कुछ लेते न थे। हां, सेठजी उनको अपना बड़ा भाई समझते थे।

जब 'मतवाला' निकलने लगा, तब सेठजी ने मुंशीजी से नौकरी छोड़ देने का साग्रह अनुरोध किया। मुंशीजी कुछ दिन बात टालते रहे। उन्हें हिचकते और सकुचाते देख एक दिन सेठजी ने कुंजियों का गुच्छा उनके आगे रखकर कहा—'आज से सारा कारबार आप संभालिए, मैं केवल अध्ययन में ही समय लगाऊंगा।' मुंशीजी ने स्पष्ट कहा—'हम लोगों की मैत्री के लिए यह बात घातक होगी।' कदाचित् मुंशीजी के भीतर का ब्रह्म यह भविष्यवाणी कर रहा था।

सेठजी बड़े अध्ययनशील व्यक्ति थे। विशेषत: इतिहास की पुस्तकों के स्वाध्याय का उन्हें अनुराग था। अंग्रेजी और हिन्दी की कोई महत्त्वपूर्ण ऐतिहासिक पुस्तक हाट-बाट में कहीं देख लेते थे तो उसे खरीदे बिना चैन नहीं पाते थे। अंग्रेजी की शिक्षा में उन्होंने कोई डिगरी नहीं पायी थी, पर योग्यता बड़ी अच्छी थी। अंग्रेजी समझने और समझाने में बड़े दक्ष थे। अंग्रेजी का हिन्दी-अनुवाद करने में भी बड़े सिद्धहस्त थे। अंग्रेजी के इतिहास-ग्रन्थों से उन्होंने बहुत-से भारत-गुण-गान-सम्बन्धी उद्धरण चुनकर हिन्दी में उनका अनुवाद किया था। मूल और अनुवाद साथ ही छपवाना चाहते थे। किन्तु वह काम पूरा न हो सका। कारण, पढ़ने में जितना उनका मन लगता था उतना लिखने में नहीं।

उनके विचार सुनने में बड़े ओजस्वी होते थे। यदि वे अपने विचारों को

लिख पाते, तो निस्सन्देह प्रभावशाली लेखक होते। मनन और चिन्तन में ही अधिक लीन रहते थे। प्रेस और पत्र का काम बढ़ने पर जब स्वाध्याय में बाधा पड़ने लगी, तब प्रायः झुंझलाने लग गये।

सेठजी बड़े मौजी जीव थे। प्रतिदिन संध्या समय बूटी छानकर चुप बैठे हुक्का पीते रहते और एक ऐसी बात कहकर मुंशीजी को छेड़ देते कि वे कुछ देर बोलते रह जाते। इसी तरह निरालाजी को भी छेड़कर उनकी अटूट वाग्धारा में गोते लगाया करते। मुंशीजी को राजनीतिक और सामाजिक प्रश्नों पर छेड़ते थे तथा निरालाजी को दार्शनिक एवं साहित्यिक प्रश्नों पर। दोनों को छेड़कर चुपचाप मजा लेने का अभ्यास उनके लिए बड़ा सुखद था। मुंशीजी की जबान बहुत चुस्त-दुरुस्त थी। बीच-बीच में वे उर्दू के शेर भी कहा करते थे। निरालाजी के प्रवचनों में अंग्रेजी, संस्कृत और बंगला के उद्धरणों की बहार होती थी।

निरालाजी का आदर-सत्कार जैसा सेठजी करते थे, वैसा किसी ने नहीं किया। उनको हमेशा इस बात का खयाल रहता था कि निरालाजी को कभी कोई अभाव न खले। निरालीजी की सेवा में तत्पर रहना उनके लिए बड़ा आनन्ददायक था। उन्होंने निरालाजी को हथेली का फूल बना लिया था। कलाकार की कला-कुशलता पर रीझना वे जानते थे। कवि के गुणों पर वे लट्टू थे। कहना तो यह चाहिए कि वे निरालाजी के सच्चे उपासक बन गये थे।

जब वे किसी कलाविद् को भली-भांति परख लेते थे, तब उसके आराधक बन जाते थे। विलक्षण प्रतिभा के धनी पाण्डेय बेचन शर्मा 'उग्र' का सम्मान भी उन्होंने अपूर्व ही किया। उग्रजी के आराम का इन्तजाम करने में ही वे चैन पाते थे। उग्रजी की लेखनी का जादू उन पर ऐसा छा गया कि वे उस पर निछावर हो गये। कलात्मक चमत्कार के पारखी का कलाकार के हाथ बिक जाना सर्वथा स्वाभाविक है।

सेठजी के स्वभाव में मिर्जापुरी अक्खड़पन था। बोलते समय उनके एक-एक शब्द में काफी ओज होता था। तर्क या विवाद में वे झुकते नहीं थे। अपनी युक्तियों को वे बड़ी शक्तिशाली वाणी में उपस्थित करते थे। आवेश और उल्लास के समय उनके चेहरे पर लाली छा जाती थी। उनके गोरे मुखड़े की वह लाली शीतला के दागों पर भी हावी हो जाती थी। घोर पढ़क्कू होने के कारण वे लिक्खाड़ तो नहीं थे, मगर भाषा की शुद्धता परखने में बड़े प्रवीण थे। निरालाजी और मुंशीजी के साथ, व्याकरण-संगत भाषा पर प्रायः विचार-विनिमय किया करते थे। उग्रजी की भाषा उन्हें सबसे ज्यादा पसन्द थी।

निर्भीक सम्पादन के रूप में सेठजी सचमुच आदर्श थे। 'मतवाला' के लिए

उनका फरमान था कि चाहे कोई कितना भी बड़ा हो, जरा भी लचे तो धरकर रगड़ डालो। जेल जाने के लिए वे हमेशा तैयार रहते थे। बराबर उत्तेजना देते रहते थे कि निर्द्वन्द्व होकर खूब मस्ती से लिखो, जो आ पड़ेगा, सो झेला जाएगा। आखिर उनको जेल जाना ही पड़ा। तब भी 'मतवाला' के स्वर की बुलन्दी उन्होंने बराबर कायम रखी। उनकी ज्वलन्त देशभक्ति किसी स्थिति में किसी क्षण मन्द नहीं पड़ी। कभी-कभी 'मतवाला' पढ़कर कह देते थे कि अमुक स्थल अथवा प्रसंग में 'टोन' कुछ नरम हो गया है। उनकी सदैव यही इच्छा रहती थी कि 'मतवाला' की कसौटी हरदम खरी रहे और सच्ची बात कहने में कभी किसी का मुलाहजा न किया जाय।

सेठजी सुरुचि-सम्पन्न सौन्दर्योपासक थे। जड़ पदार्थ का भी सौन्दर्य उसके लिए आकर्षक था। किसी व्यक्ति के किसी एक अंग का सौन्दर्य भी उनकी प्रशंसा का पात्र बन जाता था। वे कभी-कभी निरालाजी की मुसकराती हुई आंखों और उग्रजी की सुनहरी जुल्फों की तारीफ किया करते थे। देखे हुए सौन्दर्य की समीक्षा वे बड़ी बारीकी से करते थे। एक बार चिड़ियाखाने में एक रंगीन चितकबरा पहाड़ी सांप देखकर लगभग आधा घंटे तक उसकी शोभा निरखते रहे। 'बोटा-निकल गार्डन' में एक वृक्ष से लिपटी हुई लता देखकर झूमने लग गये। एक पुष्प-प्रदर्शनी में, मुंशीजी के विरोध करने पर भी, उन्होंने एक रुपये में एक लाल गुलाब खरीद लिया और उसके लिए एक नफीस गुलदान खरीदकर अपने सिरहाने सजाया।

जब सावन की घटा घुमड़ती और बिजली कौंधती, तब सब काम छोड़ छत पर अपनी एकान्त कोठरी में जाकर छवि-छटा देखने में तन्मय हो जाते। झमाझम वर्षा में वे मिर्जापुर की कजली के दृश्यों का वर्णन सुनाने लगते थे। उनका कथन था कि सौन्दर्य में स्रष्टा का ऐश्वर्य देखना चाहिए। सौन्दर्य-दर्शन में उनकी दृष्टि इतनी पैनी थी कि रास्ता चलते कहीं घोड़े की सुन्दर कनौती देख लेते, तो क्षण भर ठिठक जाते। किन्तु उनकी सौन्दर्योपासना में कोई वासना नहीं थी।

सेठजी पत्नीव्रत पुरुष थे। मुग्ध चित्त से दाम्पत्य प्रेम की चर्चा करते कभी हिचकते न थे। वसन्त और बरसात में घर जाने की इच्छा प्रकट करने के बहाने से ऋतु की मादकता का वर्णन करने लगते। मुंशीजी संकेत समझकर मीठी चुटकियां लेते हुए सब तैयारियां कर देते। मुंशीजी ने मैत्री खूब निबाही।

भंग की तरंग में सेठजी प्रायः मौन रहना पसन्द करते थे। उस समय उनकी

गम्भीरता और मुसकान तथा उनके लंगोटिया साथी पंडित रामानन्दजी[1] की चुहलबाजियां बड़ा रंग लाती थीं। पंडितजी उर्दू-फारसी के जानकार और मजाक-पसन्द आदमी थे। वे ऐसे हंसोड़ थे कि मिर्जापुरी वोली में अश्लील हास्य-विनोद सुनाते भी नहीं सकुचाते थे। सेठजी को 'मतवाला-मण्डलाधीश' कहकर तरह-तरह की स्तुतियां और सूक्तियां सुनाया करते थे। अब वैसे जिन्दादिल लोग कहीं नजर नहीं आते।

मुंशी नवजादिकलाल श्रीवास्तव

मुंशी नवजादिकलाल श्रीवास्तव ही हिन्दी-संसार में ऐसे व्यक्ति थे, जो केवल 'मुंशीजी' के नाम से प्रसिद्ध और परिचित थे। इनके पहले प्रेमचन्दजी, अजमेरीजी और सैयद अमीर अलीजी के नाम के साथ भी 'मुंशी' शब्द का प्रयोग यदा-कदा देखा गया; पर वे केवल 'मुंशी' नाम से कदाचित् कभी इतने प्रसिद्ध न हुए। किन्तु इनके लिए 'मुंशीजी' पेटेण्ट हो गया था। वास्तव में ये 'मुंशीजी' थे भी। इनकी यह उपाधि सर्वथा सार्थक थी। इनकी भाषा, वोल-चाल, रहन-सहन, पोशाक-पहनाव, सबमें मुंशीपन की गहरी छाप थी। गुण भी तदनुकूल ही थे।

'मतवाला'-मण्डल में एक वार इनकम टैक्स के लिए हिसाव की वहियां तैयार करनी थीं। जव से श्रीमहादेवप्रसाद सेठ ('मतवाला'-सम्पादक) कलकत्ता में कारोवार करने लगे थे, कोई सिलसिलेवार वहीखाता न था। अस्त-व्यस्त कागजों और रजिस्टरों को एकत्रित कर मुंशीजी ने दिन-रात लगातार परिश्रम किया। आखिर तैयार ही कर डाला कई साल का चिट्ठा। उनका धैर्य, अध्यवसाय, लगन और श्रमशीलता देखकर पंडित चन्द्रशेखर पाठक (मालिक, पाठक-कम्पनी, कलकत्ता) ने कहा था—'सचमुच आप पक्के मुंशी हैं, इस काम में बड़े-बड़े मुनीम भी ऊव जाते!'

जिन दिनों मुंशीजी यह खरीता तैयार कर रहे थे, उन दिनों 'मतवाला' की दस हजार प्रतियां छपती थीं। प्रेस की सारी व्यवस्था मुंशीजी के हाथ में थी। कागज, स्याही, ब्लॉक—सब का ब्योंत वही करते थे। प्रेस के कर्मचारियों को रोजाना मजूरी देना, समय पर वेतन वांटना, चौके का भी इन्तजाम करना, एजेंटों और हॉकरों का हिसाव रखना, अखवार के लिए मैटर लिखना, कार्टूनों के लिए भाव ('आइडिया') सोचना, साथ-साथ हाट-वाजार भी करना, सारा काम अपने सिर उठा लिया था। यह कुल काम मुंशीजी चुटकियों में उड़ा देते--

---

१. पंडित रामानन्दजी ने बाद में संन्यास ग्रहण कर लिया था एवं मथुरा-वृन्दावन में निवास करने लगे थे।

कभी क्लान्त न होते।

मुंशीजी बहीखाता लिखने में लगे हैं, 'मतवाला' के मैटर के लिए कम्पोजिटर सामने खड़ा है। मैटर लिख रहे हैं। रसोइया केदार महराज आ धमके—आटा-दाल नहीं है! तरकारियां रोज मुंशीजी की पसन्द से ही बनती थीं। साग-भाजी के लिए दोनों जून पुर्जा लिख देना भी उन्हीं का काम था। प्रतिदिन भंग-बूटी के मसाले में परिवर्तन करना उन्हीं की सुरुचि पर निर्भर था—आज कसेरू की भंग छने, कभी बेल, कभी फालसा, कभी सन्तरा, कभी अंगूर, कभी केसरिया रंग गाढ़ा, कभी आम का पन्ना!

सेठजी जब हाथ में शीशे का गिलास लेते, खुशरंग भंग की तारीफ में पांच मिनट खर्च कर लेने के बाद ही चुस्कियां शुरू करते। उनके लिए खमीरा-मुश्की तम्बाकू का इन्तजाम कर रखना मुंशीजी कभी न भूलते। भंग का बम-गोला चढ़ाकर जब वे (सेठजी) सबसे ऊपर के कमरे में चले जाते, मुंशीजी उससे पहले ही वहां बागबाजार के रसगुल्लों का पुरवा रखवा देते।

सेठजी को मुंशीजी अपने सगे छोटे भाई की तरह प्यार करते थे। और सेठजी भी उनको अपना बड़ा भाई मानते थे, केवल मानते ही न थे, वैसा ही अदब भी करते थे। भंग की तरंग में जब किसी राजनीतिक या सामाजिक विषय पर बातें करते-करते सेठजी उत्तेजित हो बहकने लगते, मुंशीजी झिड़क देते, बस सटक सीताराम!

सेठजी ने कभी मुंशीजी के किसी काम में हस्तक्षेप न किया, स्याह-सफेद जो कुछ करें—मुंशीजी। सेठजी उनको अपना सच्चा अभिभावक समझते थे—उनके संरक्षण में निश्चिन्त मौज करते थे। मुंशीजी चाहे जली-कटी जो भी सुना दें, सेठजी कभी चूं तक न करते। ऐसा सद्भाव मैंने बहुत कम देखा है।

सेठजी की एक बात से मुंशीजी तबाह रहते। सेठजी को इतिहास का बड़ा शौक था। जब अंग्रेजी का कोई नया इतिहास-ग्रन्थ बाजार में देखते, आर्डर देकर चुपचाप चले आते। मुंशीजी झुंझला उठते—'आपको मालूम नहीं था कि आजकल रुपये-पैसे की कैसी टान है, इस तरह के ब्योंत से तो प्रेस का खर्च नहीं पोसायेगा!' सेठजी सटक थामे तम्बाकू की कश लेते हुए मुसकराया करते।

मुंशीजी रविवार या छुट्टी के दिन केवल सफाई का काम करते थे। झाड़ देने की कला में उनके समान कुशल शायद ही कोई साहित्यसेवी हो। झाड़ू उठाते, तो कोने-अंतरे तक झाड़-बुहार कर फिट कर देते। फिर झाड़ू को भी धोकर धूप में रखते। ऑफिस की सभी चीजों को सरिया-सहेज कर यथास्थान लैप कर देते। किसी के जूते हों, झाड़-पोंछकर एक कतार में सजा देते। दवात की स्याही बदलते, कलम की निब। कभी-कभी कलम-दवात को भी साबुन से नहलाते। चापे में साबुन, घड़ी में साबुन, कंघी में साबुन, चाकू तक में। लैम्प-

लाल टेन की भी जान न बचती ! किसी चीज की सफाई में उनकी निगाह न चूकती । बिछावन को धूप में डालने की चिन्ता उन्हें थी, फिर कुर्सी के खटमल निकालने की चिन्ता कौन करता ? स्टोव को पॉलिस से साफ करने के बाद, जूतों पर भी खुद पॉलिस कर लेते । कपड़ों में साफा लगाने बैठते, तो अपने को रईस धोबी कहते । सेवा की मूर्ति थे मुंशीजी !

जब कोई बीमार पड़ जाता, भले ही वह रसोइया या दरवान क्यों न हो, दवा-दारू की कौन बात, मल-मूत्र की सफाई करने में भी उन्हें हिचक या घिन न थी । सारा काम करते हुए ठीक समय पर पथ्य पहुंचा देते । आलस्य तो छू भी न गया था, दरवान रहते हुए भी स्वयं डॉक्टर के यहां दौड़ जाते । रोगी को अपने विनोदों से सदा प्रसन्न रखते । उनकी हर हरकत में बुजुर्गी थी ।

प्रति सप्ताह 'मतवाला की बहक' लिखना उन्हीं के जिम्मे था, 'अग्रलेख' और 'चलती चक्की' मेरे जिम्मे । संयोगवश इसमें कभी-कभी हेर-फेर भी हो जाता था । पर नियमित क्रम यही था । जब मैं 'माधुरी' में चला गया, मुंशीजी अकेले ही सब कर लेते थे । पीछे भाई उग्रजी ने आकर उनका भार हल्का कर दिया । किन्तु जब तक 'मतवाला' कलकत्ता में रहा, मुंशीजी की लेखनी ही उसे चमकाये रही । मिर्जापुर चले जाने पर मुंशीजी की लेखनी का प्रसाद उसके लिए दुर्लभ हो गया । परिणाम किसी से छिपा नहीं । मुंशीजी जीवन-भर इसके लिए पछताते रहे ।

'मतवाला' के लिए मुंशीजी ने जो महान् त्याग किया था, उससे उनकी महत्ता का प्रत्यक्ष परिचय मिलता है । महुआबाजार में पटना-सिटी-निवासी श्रीकिशोरीलालजी चौधरी का तेल-साबुन-इत्र का मशहूर कारखाना था—'भूतनाथ'-कार्यालय । उसी में मुंशीजी काम करते (मैनेजर) थे; पर रहते थे सेठजी के साथ । सेठजी के घराने की एक पत्थर की गद्दी नीबूतल्ला में थी; पर मुंशीजी से बन्धुत्व स्थापित हो जाने के बाद सेठजी उन्हीं के साथ बराबर रहते थे । मुंशीजी की प्रेरणा से ही सेठजी ने 'सुलभ-ग्रन्थ-प्रचारक-मण्डल' खोला था, जिससे कई पुस्तकें प्रकाशित हुई थीं, जिनमें मुंशीजी की लिखी एक 'गृहिणी-कर्तव्य' भी थी । मुंशीजी के ही उद्योग से वहां से श्री सम्पूर्णानन्दजी की 'मिस्र की स्वाधीनता' नामक पुस्तक भी प्रकाशित हुई थी ।

'भूतनाथ'-कार्यालय में तीन-चार हजार रुपये सालाना का छपाई का काम होता था । यह काम मुंशीजी के हाथ में था । इसी के भरोसे, मुंशीजी के आश्वासन पर, सेठजी ने प्रेस खोला । हिन्दी के आदर्श साहित्य-प्रेमी पंडित बालकृष्ण भट्ट के नाम पर प्रेस का नामकरण हुआ—बालकृष्ण प्रेस, जो पहले कार्नवॉलिस स्ट्रीट वाले आर्य-समाज-मन्दिर के पिछवाड़े नं० २३ शंकर घोष लेन में था ।

पीछे विद्यासागर-कॉलेज के पास उसी लेन के मकान नं० ६ में चला आया।

'माधुरी' से लौटने पर मैं दुबारा इसी दूसरे मकान में पुनः 'मतवाला'-मण्डल का सदस्य हुआ। इस मकान में बिजली भी लग गई थी। 'भूतनाथ'-कार्यालय के काम के लिए मुंशीजी को अन्य प्रेसों से कुछ कमीशन भी मिल जाता था, जिसे चौधरीजी भी जानते थे। पर मुंशीजी ने सेठजी के लिए उस लाभ को तिलांजलि देकर सारा काम बालकृष्ण प्रेस को दिलवा दिया। इतना ही नहीं, 'मतवाला' निकलने पर जब मुंशीजी की अहर्निश सेवा की आवश्यकता आ पड़ी, मुंशीजी ने बिना किसी मीन-मेष के नौकरी छोड़ दी। उस समय उनको एक सौ रुपये मासिक वेतन मिलता था। चौधरीजी उनका बड़ा आदर करते थे, कारखाने के सब लोगों पर उनकी धाक थी, चौधरीजी के परिवार में उनकी अच्छी प्रतिष्ठा थी। बड़े आराम का काम था। स्वतंत्रता इतनी थी कि टाइम का कोई बन्धन न था।

मुंशीजी तेल-साबुन-इत्र के राजा थे—सौगात और खैरात बांटा करते थे। किन्तु इन सारी सुविधाओं को लात मारकर मुंशीजी ने 'मतवाला' को अपनाया। मुंशीजी के हट जाने से चौधरीजी की अपार क्षति हुई, पर दोनों के सद्व्यवहार में कोई बट्टा न पड़ा। चौधरीजी के भतीजे कनका बाबू पूर्ववत् नित्य 'मतवाला'-मण्डल में आकर उन्हें सिनेमा-थिएटर दिखाने ले जाते थे। तेल-साबुन की छूट अब भी जारी थी। पर मुंशीजी को अब आर्थिक कठिनाइयां चपेटने लगीं। फिर भी मुंशीजी ने कभी पश्चात्ताप नहीं किया। हां 'मतवाला' जब मिर्जापुर चला गया, मुंशीजी की आंखों के सामने स्वार्थमय संसार का असली रूप खुल गया। सेठजी ने मुंशीजी के घोर विरोध की कुछ भी परवाह न की। इसकी कसक मुंशीजी के दिल से कभी न गयी। उस समय की उनकी चिट्ठियां करुणा की अजस्र निर्झरिणी हैं। क्या साहित्यसेवियों की ऐसी चिट्ठियों के प्रकाशन का भी कोई युग आयेगा?

आखिर कनका बाबू ने मुंशीजी को फिर आश्रय दिया। चौधरीजी के मकान में ही रहने लगे। 'मस्त मतवाला' साप्ताहिक और 'सरोज' मासिक का जन्म हुआ। किन्तु अर्थाभाव ने यहां भी टांग अड़ाकर मुंशीजी की अग्नि-परीक्षा ली। पर मुंशीजी प्रारब्ध को कोसनेवाले न थे। भाग्यचक्र का प्रताड़न सहते-सहते उनका कलेजा प्रौढ़ हो गया था। साफ कहा करते थे—'मैंने जीवन-भर के लिए दरिद्रता-देवी को आलिंगित किया है; यह मेरे ही साथ चिता पर सती होगी।'

मुंशीजी कलकत्ता से हताश होकर प्रयाग पहुंचे। 'चांद' के संचालक श्रीरामरख सिंहजी सहगल ने उनका सारा दुःख हर लिया। उस समय मुंशीजी ने स्पष्ट लिखा था—'साहित्यिक व्यसन की पूर्ति के लिए ही मैंने 'भूतनाथ'-कार्यालय का परित्याग किया था। मुझमें त्याग की और कोई ऊंची भावना न

थी। किंतु मेरी दृष्टि में जो तुच्छ त्याग था, वह जगदाधार की दृष्टि में महान् प्रतीत हुआ, जिसका फल भी उसने दे दिया। मैं शांतिपूर्ण स्थान पर पहुंच गया। यदि नियति की नीयत ठीक रही, तो आशा है कि यहां भी उतने ही आराम से जिंदगी कट जायेगी, जितने सुख से चौधरीजी के यहां कटती रही।'

परन्तु कहना पड़ेगा कि नियति की नीयत ठीक न थी, सहगलजी जव 'चांद' से अलग हो गये, मुंशीजी का संतोष अत्यंत कृश हो गया। सहगलजी ने उन्हें बड़े सम्मान से रखा था। फिर सहगलजी के अनुज ने भी यथाशक्य निवाहा। किन्तु अन्त में 'चांद' के नये संचालकों के साथ मुशीजी न निभ सके। इसका कारण मुंशीजी का अखंड स्वाभिमान था। उसमें ठेस लगते ही मुंशीजी की आत्मा ग्लानि में गड़ जाती थी। केवल आत्माभिमान में ठोकर लगने पर ही उनकी आंखें सजल होती थीं, और कभी नहीं।

'चांद' का वियोग उनके लिए असह्य हुआ, कारण चाहे जो रहा हो। मुंशीजी फिर कलकत्ता पहुंचे। इस बार समाधिगत साप्ताहिक 'हिन्दूपंच' को नवजीवन प्रदान किया। मेरे पूज्य साहित्य-गुरु स्वर्गीय पंडित ईश्वरीप्रसाद शर्मा मुंशीजी के अनन्य मित्रों और 'मतवाला'-मंडल के सदस्यों में थे। 'हिन्दूपंच' का पुनरुद्धार करके मुंशीजी बड़े संतुष्ट हुए। मुझे लिखा—'किसी तरह ईश्वरीजी की स्मृति जगा रहा हूं; पर आशा नहीं कि अधिक दिनों तक कलम की खुजली मिट सकेगी।' उनके अक्लांत मस्तिष्क के वल पर 'हिन्दूपंच' कुछ दिन चलता रहा; पर किसान के परिश्रम पर छूछे बादलों ने पानी फेर दिया!

'हिन्दूपंच' से हताश होकर मुंशीजी अपने सिर पर मंडराते हुए बुढ़ापे की ओर घूरने लगे। छोटे-छोटे बच्चों की चिंता उनके मस्तिष्क में रह-रहकर ठोकरें मारने लगी। विवाह के योग्य सयानी लड़की उनके धीर-गंभीर हृदय में अशांति की पनडुब्बी बनकर साहस-पोत का पीछा करने लगी। अब भवसागर के केवट का सहारा सूझ पड़ा। इससे पहले कभी उनके मन पर कातरता की छाया न पड़ी थी। किन्तु उनके चित्त में उत्पन्न हुई स्वाभाविक करुणा उनकी स्वावलम्बन-भावना की सौत न बन सकी। उन्होंने आत्म-सम्मान और आत्मविश्वास की बागडोर ढीली न की। परमात्मा ने उनके जीवन-संकट को सुमार्ग पर लगा दिया। साप्ताहिक 'जागृति' (कलकत्ता) के उदारमना संचालक श्री मिहिरचंद धीमान् ने मुंशीजी को बड़ी सहृदयता से अपना लिया।

मुंशीजी सदैव अपना सुख-दुःख मेरे पास दिल खोलकर लिखा करते थे। मेरा दिल भी उनके सामने जितना खुलता था, उतना और किसी साहित्यसेवी के सामने नहीं। एक-दूसरे को अपना दुखड़ा सुनाकर मन को तोष-बोध दे लेता था। मुंशीजी ने 'जागृति' का संपादन-भार ग्रहण करते ही मुझे लिखा—'धीमान्‌जी ने मेरे संबंध में अपना 'हिन्दू-भूषण' पद सार्थक कर दिया। मेरे आसन्न बुढ़ापे पर दया करके

परमेश्वर ने कलकत्ता में दूसरे महादेवप्रसाद सेठ को पैदा कर दिया। आशा है कि सेठजी के बिछुड़ने से दिल पर जो नासूर था, वह अब भर जायेगा।'

प्रयाग में जब वे 'चांद'-संपादक थे, मैं इंडियन प्रेस में रहकर 'द्विवेदी-अभिनंदन-ग्रंथ' छपवा रहा था। प्रेस से थोड़ी ही दूर पर 'कटरा' मुहल्ले में वे रहते थे। मैं प्राय: दूसरे-तीसरे दिन उनके यहां जाया करता। 'मतवाला' की पुरानी स्मृतियों को उधेड़ते हुए मुंशीजी कहा करते—'इस जीवन में अब वैसे दिन न बहुरेंगे।' उन्होंने 'मतवाला' पर अपने भविष्य को निछावर कर दिया था। कभी-कभी आवेश में यहां तक कह उठते—'यदि निरालाजी और आप फिर 'मतवाला'-मंडल के सदस्य बनने को तैयार हो जायें, तो मैं उसकी कब्र कुरेदने के लिए कमर कस सकता हूं।' किन्तु यह मनोरथ तो ताश का महल था! साहित्यिकों के हवाई महल को पृथ्वी अपनी छाती पर टिकने नहीं देती।

निरालाजी 'मतवाला-मडल' के सर्वप्रिय एवं सर्वाधिक सम्मान्य सदस्य थे। नं० २३ शंकर घोष लेन वाले मकान के ऊपर के तल्ले में रामकृष्ण-मिशन और विवेकानंद-सोसाइटी का एक शाखा-कार्यालय था। उसके लिए सेठजी ने दो कमरे भाड़े पर उठा दिये थे। वहां से हिन्दी में मासिक 'समन्वय' निकलता था। वेदांत-विषयक अति उत्तम पत्र था। उसके विद्वान् संचालक स्वामी माधवानंदजी—जो कुछ साल बाद कैलिफोर्निया (अमेरिका) की विवेकानंद-सोसाइटी के संचालक होकर विदेश चले गये—स्वयं आचार्य द्विवेदीजी के पास जाकर 'निराला' जी को मांग लाये थे। पूज्य द्विवेदीजी ने ही 'समन्वय' के लिए उपयुक्त संपादक का चुनाव कर दिया था। आचार्य के इस चुनाव से स्वामीजी बड़े संतुष्ट थे। सर्वतंत्र-स्वतंत्र निरालाजी को वे बड़े आदर से अपने ही साथ रखते थे। इस तरह निरालाजी सौभाग्यवश ही 'मतवाला' को मिल गये थे। मुंशीजी उनसे हंसी-मजाक में कह देते थे—'महाराज! आपको पाकर हम लोगों ने 'आकाश-कुसुम' तोड़ लिया है। हम लोगों के सिवा इस संसार में 'गूलर का फूल' किसी ने न देखा होगा।' निरालाजी आंखों में मुसकराकर मुंशीजी के विनोद का रस लेते।

निरालाजी भी सेठजी की तरह मुंशीजी का उचित सम्मान करते थे। यहां तक कि उपर्युक्त मिशन के सभी कार्यकर्त्ता, जो बड़े विद्वान् और सच्चे त्यागी लोकसेवक थे, मुंशीजी को आदरणीय मानते थे। मुंशीजी उन विरक्त संन्यासियों को भी निरालाजी के संबंध में विनोद-भरी चुटकियां सुनाकर हंसा देते थे। निरालाजी पर सेठजी और मुंशीजी की समान ममता थी। निरालाजी 'समन्वय' के प्राण थे और 'मतवाला'-मंडल के अलंकार। उन पर 'मंडल' को बड़ा गर्व था।

मुंशीजी ने एक बार एक नवागंतुक साहित्यसेवी को निरालाजी का परिचय विचित्र ढंग से दिया—'हमारे यहां एक क्रांतिकारी कवि हैं। उनको आपने देखा है? पद्म-पलाशलोचन, आजानुबाहु, काकपक्षधारी, वृषभस्कंध और कोकिलकंठ

हैं। उनकी उंगलियां अजंता-गुहा के चित्रों की छवि छीनती हैं। उनकी मांस-पेशियां ग्रीस-रोम की मूर्तियों की याद दिलाती हैं। सुए की टोंट-सी उनकी नासिका और अनारदाने-से उनके दांत देखकर आप घपले में पड़ जायेंगे। जब वे भुजदंड ठोंककर अपने प्रशस्त वक्षःस्थल का विस्तार दिखाते हैं, बुद्धि पगुरी करने लगती है। डीलडौल पंजाबी, बोलचाल बैसवाड़ी, खानपान बंगाली, रहन-सहन वेदांती। जनेऊ को साबुन लगाकर धूप में रख देते हैं, तो जबतक कोई उसकी याद न दिलाए, तब तक उसका ध्यान छोड़ अपनी धुन में मस्त रहते हैं। 'सजीव रसगुल्ले' के बड़े प्रेमी हैं। केंचुआ-छंद' के आदि-कवि हैं। उनकी शंख-ध्वनि से हिन्दी-जगत् में हड़कंप छा गया है।' इसी तरह की बहुत-सी विनोद-भरी बातें निरालाजी के संबंध में कहकर अंत में नाम बतलाया। नवागंतुक साहित्यसेवी महोदय खूब हंसे—वे थे पंडित रामगोविंद त्रिवेदी वेदांतशास्त्री, जो 'मतवाला' निकलने के बाद उस दिन पहले-पहल प्रेस में आये थे। इस परिचय में कहे गये सब शब्द मुंशीजी के ही हैं, मेरे नहीं।

मुंशीजी में एक बात बड़ी विलक्षण यह थी कि संस्कृत से अनभिज्ञ होते हुए भी बंगला के संसर्ग से संस्कृत-बहुल भाषा भी लिख लेते थे और उर्दू-फारसी के तो उस्ताद ही थे। उर्दू-मिडिल पास करके ही वे कलकत्ता चले आये थे। ट्राम में काम न मिला, डाक-विभाग में भी बड़ी कठिनाई से पैठ हुई; क्योंकि अंगरेजी नाम-मात्र जानते थे। हिन्दी से भी यथोचित परिचित न थे। किन्तु ठेठ देहात से सीधे कलकत्ता जैसे महानगर में नये-नये आये थे, महत्त्वाकांक्षाओं से हृदय भरा हुआ था। स्वाध्याय और स्वावलंबन ने उनकी उच्चाकांक्षाओं को सनाथ किया। सबसे पहले पंडित सदानंद शुक्ल और श्रीयशोदानंदन अखौरी से परिचय हुआ। इसके बाद फिर श्री रामानंद द्विवेदी से मैत्री हुई, जो साप्ताहिक 'वीर भारत' में काम करते थे। क्रमशः श्रीहरिकृष्ण जौहर, पंडित अमृतलाल चक्रवर्ती आदि लब्धप्रतिष्ठ पत्र-संपादकों से परिचय बढ़ा। अंत में साहित्यानुराग को सफल करके ही छोड़ा।

डाकिया का थैला उतार फेंकने के बाद जब 'वीर-भारत'-कार्यालय की कुर्सी पर बैठे, तब अर्थ-संकट ने उस प्रवेश-द्वार पर ही यह विज्ञप्ति दिखला दी कि इस पथ के पथिक को मेरी ही छत्रछाया में रहना होगा। मुंशीजी कहा करते थे—डाकिया रहने पर भी हाथ कभी खाली नहीं रहता था; मगर अखबार की कुर्सी पर आसन जमाते ही 'पास-बुक' दिन-दिन छीजने लगी। वेतन 'अकथनीय' था, साहित्य-प्रेमी मित्रों की संख्या बढ़ चुकी थी, इसलिए 'पास-बुक' भी अधिक दिन संभाल न सकी। दो-चार कारखानों में सुबह-शाम जाकर चिट्ठी-पत्री करनी पड़ती थी, ठेल-ठालकर ही दिन कटते थे।' यहां तक कि बालकृष्ण प्रेस खुल जाने पर भी, जब वे चौधरीजी के यहां काम करते थे, दो प्रसिद्ध कविराजों के यहां हिन्दी-उर्दू की चिट्ठियां पढ़ सुनाने और उनका उत्तर लिख देने के लिए नित्य

सन्ध्या समय जाया करते थे। मैं 'मतवाला' निकलने के दो साल पहले से ही वालकृष्ण प्रेस में रहता था; क्योंकि मेरे संपादकत्व में निकलनेवाला मासिक 'मारवाड़ी-सुधार' उसी प्रेस में छपता था। मुंशीजी बाहर से काम करके थके-मांदे आते थे और प्रेस में भी सुबह और रात का समय प्रूफ देखते, दिन-भर का खर्च साफ बही पर उतारते और बंगला से अनुवाद करके 'सुलभ-ग्रंथ-प्रचारक-मंडल' के लिए प्रेस की खुराक जुटाने में ही लगा देते थे। परिश्रम करने की स्फूर्ति उनके शरीर में बराबर बनी रही, यही उनकी सफलता का रहस्य था।

मुंशीजी ने कलकत्ता का 'खोलाबाड़ी-युग'[1] देखा था, इसलिए बहुत-सी पुरानी बातें सुनाया करते थे। उनके साथ कलकत्ता का एक संग्रहणीय संस्मरण चला गया। बाबू बालमुकुंद गुप्त और पंडित गोविंदनारायण मिश्र के समय की साहित्यिक बातें उनके मुख से सुनने में बड़ा आनंद आता था। मुंशीजी के साथ इस तरह की बहुत-सी चीजें चली गईं। पुराने साहित्यसेवियों और पत्रों तथा पुस्तकों का बड़ा आदर करते। पुरानी पुस्तकों की दूकान पर एकाध घंटा अड़कर निश्चय ही कोई पुरानी चीज ढूंढ़ निकालते थे। श्रीराधामोहन गोकुलजी[2] में उनकी

---

१. वांस के बने मकान, जो कलकत्ता नगर के अंदर जगह-जगह पाये पाते थे।

२. 'जब मैं 'मतवाला'-मंडल (कलकत्ता) के संपादकीय विभाग में काम करता था, तब 'प्रणवीर'-संपादक श्रीराधामोहन गोकुलजी 'मतवाला'-मंडल में प्रायः नित्य आते थे। मुंशी नवजादिक लाल श्रीवास्तव से आपकी बहुत पुरानी जान-पहचान थी। जब मुंशीजी साप्ताहिक 'वीर भारत' (कलकत्ता) के संपादक थे, तब आप उसमें बड़े जोशीले लेख लिखा करते थे। विधवा-विवाह के आप बड़े पक्षपाती थे। कई विधवाश्रमों और अनाथालयों की सेवा-सहायता में आप बराबर तत्पर रहते थे। शुद्धि और अछूतोद्धार के आंदोलनों में आपका निरंतर सक्रिय सहयोग रहा। बहुत वृद्ध होने पर भी आप सभा-सम्मेलनों में अत्यंत निर्भीकता से उत्तेजनापूर्ण भाषण करते थे। अपने जीवन के अंतिम क्षणों में अपनी लेखनी और वाणी से आपने हिन्दू-संगठन का काम बड़े उत्साह से किया था। गोरी नौकरशाही के प्रति आपके उद्धत विचारों को सुनकर बार-बार यह आशंका होती थी कि आप कब कहां गिरफ्तार हो जायेंगे, कुछ ठीक नहीं। पुलिस और जेलखाने के अधिकारी आपको 'बहुत खतरनाक' समझते थे। जेल से छूटते समय आप स्पष्ट कह दिया करते थे कि हमारा स्थान सुरक्षित रखना, हम फिर शीघ्र ही आयेंगे। वैसे निडर लेखक, वक्ता और संपादक उस समय हिन्दी-संसार में कम ही लोग थे।'

बड़ी श्रद्धा थी। गोकुलजी प्रायः मुंशीजी के पास आया करते थे। एक बार मैंने मुंशीजी से कहा कि पंडित अमृतलाल चक्रवर्ती अखिल भारतीय हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन के सभापति चुने गये हैं; पर उनके पास पैसे नहीं हैं कि वृंदावन जाने के लिए कपड़े बनवायें या अपना लिखित भाषण छपवायें या रेलभाड़े का जुगाड़ करें और स्वाभिमानवश किसी से कहते भी नहीं !

मुंशीजी उसी दिन चक्रवर्तीजी से मिले, इधर-उधर से चंदा करके उनकी आवश्यकता पूरी कर दी, भाषण भी छपवा दिया, जिसके लिए भावुक-शिरोमणि चक्रवर्तीजी अश्रुरुद्ध कंठ से आशीर्वाद देते न अघाये।

मुंशीजी का स्नेह मुझ पर सदैव एक-रस बना रहा। मेरे तीसरे विवाह की बारात में पहुंचने के लिए अपनी पत्नी को रोग-शैया पर छोड़कर चले आये। बारात में अपने साथ अपनी बड़ी लड़की को भी लेते आये, क्योंकि सात-आठ वर्ष की हो जाने पर भी वह लड़की हमेशा मुंशीजी के साथ ही रहती थी। मेरी बारात में केवल साहित्यसेवी ही बाराती थे; पर मुंशीजी के विवाह की कहानी किसी को मालूम न थी; इसलिए सबको आश्चर्य हुआ कि रुग्णा माता को यह लड़की किस तरह छोड़ आयी। किंतु पीछे सबको यह सुनकर और भी आश्चर्य हुआ कि मुंशीजी की तीनों पत्नियां सभी बहनें थीं। अट्टहास में दिशाएं गूंज उठीं। पंडित चंद्रशेखर पाठकजी प्रायः मुंशीजी को छेड़ते थे—'एक ही घर में तीन सेंध ! अच्छा नंबर लगाया !'

कर्मवीर श्रीमूलचंद्रजी

मैंने सबसे पहले कलकत्ता महानगर में ही, सन् १६२० ई० में, श्रीमूलचंद्रजी के दर्शन का सौभाग्य प्राप्त किया था। मैं आरा की 'मारवाड़ी-सुधार-समिति' के मासिक मुखपत्र 'मारवाड़ी-सुधार' का सम्पादक था, जो कलकत्ता के बालकृष्ण प्रेस में छपता था। मैं बराबर वहीं रहता था। मेरे साहित्य-गुरु पूज्य पंडित ईश्वरीप्रसादजी शर्मा उन दिनों श्री रामलालजी वर्मन के यहां साहित्य-विभाग के प्रधान थे। वे ही मिलने गये। मैं भी दर्शनोत्कण्ठावश उनके साथ चला गया, ११५ हरिसन रोड के मकान में। देखा, एक प्रभावशाली व्यक्तित्ववाला, खासे-तगड़े डीलडौल का, प्रशान्त गम्भीर पुरुष एकाग्रचित्त कुछ लिख रहा है। मोटे खद्दर का कुर्त्ता, जिसमें खादी के ही बटन टंके थे; सिर पर गांधी-टोपी और पूज्य मालवीयजी की तरह ललाट पर शुभ्र चन्दन का गोल टीका। पैरों में मोटे दल का पंजाबी जूता। होंठों में डूबी हुई मधुर मुसकान। मन्द-मन्द स्वर में केवल काम की ही बातें, फालतू एक शब्द नहीं ! मैं पंडितजी के साथ वहां के अनेक हिन्दी-लेखकों

से मिल आया था; पर ऐसा धीरोदात्त पुरुष कहीं नहीं दीखा था। मैं बहुत प्रभावित हुआ।

उनसे मिलने का सुअवसर अनेक बार प्राप्त हुआ। कभी मुंशी नवजादिक लालजी श्रीवास्तव के साथ, कभी पंडित चन्द्रशेखर पाठक के साथ, कभी पंडित नरोत्तम व्यास के साथ, उनके पास जाने और पत्र-प्रकाशन तथा पत्र-संचालन के सम्बन्ध में उनके दृढ़ संकल्प की चर्चा सुनने का सुयोग मिलता रहा। पंडित ईश्वरीप्रसादजी भी कभी-कभी दल बांधकर उनके यहां पहुंच जाते थे; क्योंकि उनका स्थान साहित्य-सेवियों का एक अड्डा-सा था। बाबू महादेवप्रसाद झुनझुनवाला (बड़तल्ला में जिनकी पुस्तक की दूकान थी), पंडित देवनारायण द्विवेदी[1] (अफीम चौरस्ता में श्रीनिहालचन्दजी[2] की पुस्तक की दूकान के सामने ही जिनकी पुस्तक की एक दूकान थी), पंडित रामगोविन्द त्रिवेदीजी वेदान्तशास्त्री (जो सरकार लेन में 'भारती प्रेस' खोलकर पुस्तक-प्रकाशन कर रहे थे), बाबू बलदेवप्रसाद खरे (जो खन्ना प्रेस में रहकर नाटक लिखते-छपाते थे) इस चतुरंग चौकड़ी के साथ जब कभी हम लोग जाते थे, उनसे बातें करने का अवसर खो देना पड़ता था। तब केवल पंडित उमादत्त शर्मा[3] ही आतिथेय बनते थे। उन दिनों शर्माजी भी उनके सहयोगियों में थे। मूलचंद्रजी एकान्त भाव से अपने काम में दत्तचित रहते थे। जान पड़ता था, उनका एक-एक क्षण बहुमूल्य है।

जिन दिनों अफीम-चौरस्ता के नुक्कड़ पर एक मकान में मूलचंद्रजी का कम्पोजिंग प्रेस था, जहां से उन्होंने 'लिबर्टी' नामक एक अंग्रेजी-संवादपत्र भी निकाला था, उन दिनों उनका अनवरत परिश्रम देखते ही बनता था।

अहोरात्र परिश्रम करने की वैसी सच्ची लगन हिन्दी-पत्रकार-जगत् में केवल श्रद्धेय गणेशशंकरजी विद्यार्थी में ही देखी-सुनी गई, और तो किसी में नहीं। मूलचन्द्रजी के पास उस समय प्रेस की कोई मशीन नहीं थी, कुछ टाइप मात्र थे।

---

१. आप मिर्जापुर (उत्तर प्रदेश)जिले के निवासी थे। बड़े सहृदय साहित्यसेवी और सफल उपन्यासकार। बाद में ज्ञानमंडल (काशी)में ग्रंथ-प्रकाशन-विभाग के प्रमुख संचालक रहे। साहित्यिक रसिकता और संस्मरणों के आप विशेष धनी थे।

२. इन्होंने ही निरालाजी का 'रवीन्द्र-कविता-कानन' पहले-पहल प्रकाशित किया था। कलकत्ता के अच्छे प्रकाशकों में थे। फिर काशी में वड़ा सुन्दर प्रकाशन-कार्य किया; मासिक 'हिन्दी-प्रचारक' भी निकालते थे।

३. शर्माजी ने 'निराला' जी की कई पुस्तकें प्रकाशित की थीं। उनका अपना स्वतंत्र प्रकाशन-व्यवसाय था। पत्रकार अच्छे थे।

बड़ा वाजार में अखबार कम्पोज होता था और छपता था अपर-चितपुर रोड के वर्मनप्रेस में। व्यवस्था, सम्पादन, दौड़धूप—सारा काम अधिकतर वे स्वयं ही करते थे। श्रीरामलालजी वर्मन उनकी पक्की धुन देखकर कहा करते, 'इनकी सफलता आले पर रखी हुई है।'

कुछ ही दिनों बाद मैंने देखा, गेंडा-तालाब पर एक विशाल भवन में मूलचंद्रजी का कारबार बड़े पैमाने पर बड़े ठाट से चल रहा है। मुंशी नवजादिकलालजी श्रीवास्तव के साथ मैं उनसे मिलने गया। उसी मकान के ऊपरवाले तल्ले में थे, सपरिवार रहते भी थे। उस समय तक पंडित उमादत्तजी शर्मा भी उनके सहकारियों में थे। जहां तक स्मरण है, मासिक 'विश्वमित्र' भी निकल चुका था और धड़ल्ले से चल भी चुका था। मूलचंद्रजी ने प्रसंगवश श्रीमुंशीजी से कहा था—'स्टेट्समैन' की तरह हिन्दी का भी एक ही दैनिक भिन्न-भिन्न नगरों से निकाला जा सकता है।' मुंशीजी ने छूटते ही कहा—'क्यों नहीं, मगर यह काम आपके सिवा दूसरा नहीं कर सकता।' वे आकाश की ओर आंख उठाकर मुसकरा पड़े। क्या वह कोई ईश्वरीय संकेत था?

पूज्य मालवीयजी

कलकत्ता नगर में हिन्दू-महासभा का अधिवेशन हो रहा था। पंजाव केसरी लाला लाजपतराय अध्यक्ष थे। इसलिए सनातनधर्मी हिन्दुओं में बड़ी सनसनी थी। हॉलीडे पार्क (चितरंजन एवन्यू) में विशाल पंडाल था। मैं 'मतवाला'-मंडल की ओर से पत्र-प्रतिनिधि था। धर्मप्राण मारवाड़ी भाई, सभापति के खयाल से, सनातन धर्म का पक्ष पुष्ट करने के लिए, काफी संख्या में उपस्थित थे। उनके शीश पर व्याख्यान-वाचस्पति पंडित दीनदयालु शर्मा के अभय वरद पाणि-पल्लव की छाया थी। महासभा का रुख देखकर वह छाया और भी सघन हो गई थी। श्रीविशुद्धानन्द-विद्यालय में 'सनातनधर्म-मंडल' की नींव पड़ी। बूढ़ा 'भारत-मित्र' इसी मंडल का मुखपत्र बना।

हिन्दू-महासभा का विशेषाधिवेशन (कलकत्ता) पंजावकेसरी लाला लाजपतराय की अध्यक्षता में हुआ था। मैं उन दिनों 'मतवाला' में काम करता था। लाहौर के उर्दू दैनिक 'बंदेमातरम्' के संपादक लाला रामप्रसाद ने प्रस्ताव उपस्थित किया कि ईश्वर की दी हुई रोशनी और हवा सभी प्राणियों को समान रूप से नसीब है तो फिर ईश्वर की वाणी कहा जानेवाला जो वेद है उससे शूद्र वर्ग क्यों वंचित रहे, अतः जैसे ईश्वर-दत्त सभी प्राकृतिक साधन सबके लिए सुलभ हैं वैसे वेद भी शूद्रों के पढ़ने के लिए सुलभ कर दिये जायें। इस प्रस्ताव का बड़ा ही जोरदार समर्थन स्वामी सत्यदेव परिव्राजक ने किया। दोनों ओजस्वी वक्ताओं

के व्याख्यान का जादू-सा असर हुआ। सारे पंडाल में सनसनी फैल गई। मतविभाजन की खलबली देख व्याख्यान-वाचस्पति पंडित दीनदयालु शर्मा ने महामना मालवीयजी से मंझधार पड़ी नैया का कर्णधार बनने की अपील की। हर्षोल्लासपूर्ण करतलध्वनि के बीच वे मंच पर आकर बोले—'ईश्वर-दत्त सभी विभूतियां मानवमात्र को सुलभ हैं सही, पर वायु परमात्मा का श्वास है और प्रकाश परमात्मा की नेत्रज्योति है, इन दोनों से वाणी की महत्ता कहीं अधिक है, इसलिए ईश्वरीय वाणी का प्रसाद ग्रहण करने के लिए मनुष्य में विशिष्ट पात्रता होनी चाहिए। वेद के पठन-पाठन के निमित्त घोर संयमशीलता की नितान्त आवश्यकता है। वेदवाणी अतिशय गूढ़ और सूत्ररूपिणी है, उसका अध्ययन-मनन वही कर सकता है जो ब्रह्मचारी और तपस्वी हो, सबके लिए वह सुगम नहीं। कलि में ऐसे लोगों का टोटा होने की संभावना समझ भगवान ने वेदों और उपनिषदों का सारभाग ग्रहण करके 'भगवद्गीता' को सर्वलोकोपकारार्थ प्रकट कर दिया। अतः गीता भी भगवद्वाणी ही है। वह सबके लिए सुगम है। सभी वर्णों और आश्रमों के लोग उसे पढ़कर वेदशास्त्रों के पढ़ने का पुण्य अर्जित कर सकते हैं। भगवान ने वैदिक वाङ्मय का विधिवत् मंथन करके जो दिव्य नवनीत निकाला है, वह उसमें संचित है। ज्ञान-विज्ञान के रहस्य के जिज्ञासुओं के लिए वह बोधगम्य भी है। देश की सभी भाषाओं में उसकी सरल टीका प्रकाशित करके जनता में प्रचारित किया जाए जिससे सब श्रेणी की जनता ईश्वरीय वाणी का अमृत-पान कर लाभान्वित हो।' इसके बाद तत्क्षण ही सेठ घनश्यामदास बिड़ला ने उठकर घोषित कर दिया कि मूल और टीका के साथ गीता की लाखों प्रतियां छपवाकर नाममात्र मूल्य में सर्वसाधारण के लिए सुलभ कर दी जाएंगी। सारा सभामंडप महामना की जय-जयकार से गूंज उठा।

कार्तिकेयचरण मुखोपाध्याय

कार्तिकेयचरण मुखोपाध्याय छपरा (सारन) के निवासी थे। उनके पूर्वज उन्नीसवीं सदी में ही छपरा आ बसे थे। उनका मौरूसी मकान सरयू नदी के तट पर—धारा से थोड़ी दूर पर—था। उनके पितृव्य श्री भवानीचरण मुखोपाध्याय ने उन्नीसवीं सदी के अंतिम चरण में छपरा से 'सारन सरोज' नामक हिन्दी-मासिक पत्र निकाला था, जिसके संपादक स्वनामधन्य पंडित अंबिकादत्त व्यास थे। इस प्रकार उनको अपनी वंश-परम्परा से ही हिन्दी-प्रेम प्राप्त हुआ था। मुझे अपने कलकत्ता-प्रवास के समय उनके साहचर्य का सुख-सौभाग्य प्राप्त था। वह वहां 'भारत-मित्र', 'हिन्दू पंच', 'विजय', 'दारोगा-दफ्तर', 'बांसुरी' आदि पत्रों के संपादन का काम करते रहे। कहीं सहकारी रहे और कहीं प्रधान। 'पंच' के

प्रधान संपादक पं० ईश्वरीप्रसाद शर्मा के आकस्मिक निधन के वाद वही उनके स्थान पर काम करने लगे। दफ्तर के तो वही मुख्य संपादक थे।

जिस समय वह श्री वैजनाथ केडिया के वणिक् प्रेस में साप्ताहिक 'विजय' का संपादन करते थे, उस समय मैं भी उसी प्रेस के सचित्र मासिक पत्र 'उपन्यास तरंग' का संपादक था। संध्या अवकाश होने पर आग्रहपूर्वक अपने घर ले जाते और स्वयं 'घमंजा' तरकारी तथा खाजानुमा खस्ता परांठे वनाकर खिलाते। पान खाने और वनाने के भी वड़े शौकीन थे। पान की सेवा करने में उनकी जैसी लगन थी वैसी केवल पं. किशोरीलाल गोस्वामी में ही देखने में आयी। प्रातःकालीन स्नान-ध्यान के वाद सवसे पहले पान और उसके मसाले के सुधारने-संवारने में ही लग जाते थे। वीड़े से भरा डिब्बा लेकर ही लिखने-पढ़ने वैठते थे।

पांडुलिपि और प्रूफ के संशोधन में वह घोर परिश्रम करते थे। इन कामों में वह अत्यंत निपुण माने जाते थे। यों दक्ष तो वह अनेक कामों में थे। रसोई वनाने से लेकर सुगंधित तेल और सावुन वनाने तक में उनकी कुशलता देख दंग रह जाना पड़ता था। करघे पर कपड़े बुनना, कागज और दफ्ती वनाना, जड़ी-वूटियों की वाटिका में तरह-तरह के पौधे उगाना, नाना प्रकार के औषध तैयार करना, मिट्टी के खिलौने गढ़ना, आदि उनके घरेलू उद्योग-धंधे थे। अनेक प्रकार की अर्थकारी विद्या वह जानते थे। जीवन के अंतिम दिनों में अपने घर रहते समय गृहकुटीर-उद्योग ही उनकी जीविका का आधार था। कितनी ही स्वदेशी प्रदर्शनियों में वह कुटीर-शिल्प की वस्तुएं सजाने और प्रदर्शित करने के लिए बुलाए जाते थे। उनके हस्त-कला-कौशल का यथेष्ट विवरण देना शक्य नहीं है।

कलकत्ता में रहते समय तो उनके सत्संग के अवसर मिलते ही रहे, जब मैं छपरा राजेन्द्र कॉलिज में था तब भी उनसे वरावर मिलता-जुलता रहा, क्योंकि मेरा और उनका निवास स्थान पास ही पास था—मेरा रतनपुरा में और उनका कालीबाड़ी में। उनके घर में भगवती दुर्गाजी का मंदिर था, इसलिए कालीवाड़ी कहलाता था। उनके दरवाजे पर रथयात्रा का विशाल रथ देख मैंने एक वार पूछा तो वोले कि मेरे आंगन का यह काली-मंदिर और भव्य रथ मेरा पैतृक धन है। उनके पूर्वजों में कई ऐसे सिद्धपुरुष हो चुके थे, जिन्होंने तंत्र-मंत्र की सिद्धि से समाज में बड़ी प्रतिष्ठा और संपत्ति अर्जित की थी।

उनका शारीरिक सौंदर्य वड़ा आकर्षक था। उनकी रमणीय मुखाकृति और वड़ी-वड़ी आंखें दर्शनानंदवर्धक थीं। 'हिन्दू पंच' कार्यालय में पं० ईश्वरीप्रसादजी उनसे मजाक में कहा करते थे कि व्रह्मा ने संसार में आपके मनोहर रूप को पुरुषावरण में भेजकर वहुतेरों को प्रेम-संकट से वचा दिया, नहीं तो राह चलते कितनी ही दुर्घटनाएं हो जातीं। सच पूछिए तो उनका हृदय और स्वभाव उनके रूप से भी अधिक सुन्दर था। वह केवल अपने सहकर्मियों के ही सुहृदय न थे, जो

कोई उनके संपर्क में आता वह उनकी विनयशीलता और मिलनसारी से प्रभावित हुए बिना न रहता।

उन्होंने लगभग तीस वर्ष तक नियमित रूप से हिन्दी-सेवा का व्रत निवाहा। लगभग तीन दर्जन पुस्तकें भी लिखीं, जिनमें इतिहास, जीवनी, पौराणिक आख्यान, साग-भाजी की खेती, दस्तकारी, कथा-साहित्य आदि अनेक विषय सम्मिलित हैं। अंग्रेजी और बंगला से हिन्दी-अनुवाद करने में वह बड़े सिद्धहस्त थे। श्री रामलाल वर्मा ने अपनी बर्मन कंपनी से 'लन्दन-रहस्य' नामक पुस्तकमाला बड़ी सजधज से प्रकाशित की थी। उसके कई खंडों का अनुवाद कार्तिक बाबू ने अंग्रेजी से ही किया था। उनकी पुस्तकों में अधिकांश उक्त कंपनी से ही प्रकाशित हैं। 'दारोगा-दफ्तर' जासूसी मासिक पत्र था। उसके लिए तो उन्हें सदैव अंग्रेजी और बंगला से ही अनुवाद करके मसाला जुटाना पड़ता था। इन दोनों भाषाओं के कई जासूसी और रोमांचक उपन्यासों का भी उन्होंने हिन्दी में अनुवाद किया था, जो अधिकतर उक्त कंपनी से ही निकले थे। 'हिन्दू पंच', 'विजय', 'बांसुरी' आदि स्वसंपादित पत्रों के लिए वह जो संपादकीय अग्रलेख और टिप्पणियां लिखते थे, उनमें भी सामयिक राजनीति की समस्याओं पर बड़ी निर्भकता से अपने विचार व्यक्त करते थे।

उनके लिखे अक्षर बड़े सुडौल और सुवाच्य होते थे। अर्जित धन के सदुपयोग की भावना से ही वह मितव्ययी थे। घर में ही लिफाफा, निब, स्याहीसोख कागज, चिट्ठी लिखने का कागज, कलम, कपड़े रंगने के रंग आदि बना लेते थे। साहित्य-शिल्पी थे ही, अनेक उपयोगी कलाओं की वस्तुओं के भी शिल्पी थे।

श्री पारसनाथ सिंह

उनसे पहले-पहल कलकत्ता में भेंट हुई थी जब १९२० ई० में असहयोगी होने के बाद मैं मासिक 'मारवाड़ी-सुधार' का संपादक होकर कलकत्ता आ गया था। उस समय वे 'स्वतंत्र' के संपादकीय विभाग में सहायक थे। ऑफिस-टाइम के बाद वे प्रायः पं० जगन्नाथप्रसाद चतुर्वेदी के पास जाया करते थे। पं० ईश्वरी प्रसाद शर्मा और पं० सकलनारायण शर्मा[1] से उनकी बड़ी घनिष्ठता थी। ये दोनों

---

१. पं० सकलनारायण शर्मा उस समय कलकत्ता विश्वविद्यालय में संस्कृत के व्याख्याता थे। वे आरा नगर के निवासी और आरा-नागरी-प्रचारिणी सभा के संस्थापकों में थे। पटना की साप्ताहिक पत्रिका 'शिक्षा' का उन्होंने अनेक वर्षों तक संपादन किया था। वे संस्कृत, हिन्दी और बंगला के उद्भट वक्ता थे।

भी चतुर्वेदीजी के यहां बराबर आते-जाते थे। चतुर्वेदीजी के घर पर सुबह-शाम साहित्यिक जमघट में केवल भाषा-संबंधी विचार-विमर्श होता था। उसमें चतुर्वेदी जी और दोनों शर्माजी के साथ उनकी (पारस बाबू की) जो तर्क-युक्ति-सहित बातचीत होती थी, उससे उनकी मननशीलता का पता लगता था।

एक बार उन्होंने चतुर्वेदीजी के यहां साहित्यिकों की चिट्ठियों की भाषा पर विचार होते समय आचार्य महावीरप्रसादजी द्विवेदी का एक पत्र दिखलाया था। उसमें द्विवेदीजी ने उन्हें बधाई दी थी। उन्होंने (पारस बाबू ने) महाकवि रवीन्द्र-नाथ ठाकुर की एक बंगला-कविता का हिन्दी-पद्यानुवाद किया था। वह कविता 'सरस्वती' में छपी थी। उसका शीर्षक संभवतः 'संध्या का दीप' था। द्विवेदीजी को उनका अनुवाद बढ़िया जंचा था, इसलिए प्रोत्साहन का पत्र लिखा था कि अनुवाद में मौलिक कविता का आनंद मिलता है।

जब मैं सुल्तानगंज (भागलपुर) से प्रकाशित 'गंगा' मासिक पत्रिका का संपादक था, तब उन्होंने 'वैशाली' संबंधिनी एक लेखमाला लिखी थी। गुणग्राही साहित्यकारों ने उस लेखमाला की बड़ी प्रशंसा की थी। उससे उनकी गवेषणात्मक प्रवृत्ति का पता लगता था।

पटना से जब 'हिमालय' निकला, तब फिर मैंने और भाई बेनीपुरीजी ने उनका स्मरण किया। उन्होंने बड़ी कठिनाई से समय निकालकर 'खां साहब' का रेखाचित्र इतनी स्वाभाविकता से अंकित किया था कि 'हिमालय' के सुधी पाठकों ने उनसे और भी लिखवाने का आग्रह किया।

एक बार मैं पटना के 'सर्चलाइट प्रेस' में उनसे मिलने गया, तो देखा कि उनका ज्योतिष-शास्त्र-संबंधी अध्ययन चल रहा है। अंग्रेजी के बड़े-बड़े ग्रंथ उनके चारों ओर पड़े थे। उसी विषय के संबंध में वे कुछ चर्चा करने लगे। उस समय उनके पांडित्य के प्रति मेरे मन में अनायास श्रद्धा उत्पन्न हो आयी।

मेरे चिरपरिचित साहित्यिक मित्र पं० विश्वम्भरनाथ जिज्जा[1] एक बार उनके साथ पटना आये, तो मिलने पर मुझसे कहने लगे कि जब वे बोलकर कुछ लिखवाने लगते हैं, तब उनकी विलक्षण स्मृति-शक्ति देख बड़ा आश्चर्य होता है। सचमुच वे सरस्वती के वरद पुत्र थे।

उन्होंने पंडित पद्मसिंह शर्मा के निबंधों का संग्रह प्रकाशित कराया था। वे साहित्यिकों की कीर्ति-रक्षा के बड़े हिमायती थे। अवसर पाकर साहित्यिकों की सहायता भी किया करते थे। बहुत-से गरीब विद्यार्थियों को अज्ञात रूप से आर्थिक

---

१. हिन्दी के प्रसिद्ध कथाकार और पत्रकार। बहुत दिनों तक प्रयाग के लीडर प्रेस में दैनिक 'भारत' के संपादकीय विभाग में सहकारी।—सं०

सहायता देते थे। मैंने एक बार एक छात्र को उनके पास भेजा था। वह बेचारा सफल-मनोरथ होकर लौटा और उनकी उदारता और सहृदयता की भूरि-भूरि प्रशंसा करने लगा। किंतु उनके परोपकार के काम कभी प्रकाश में नहीं आये। वे कीर्ति और प्रतिष्ठा की कामना से सदा दूर ही रहे।

बिहार-राष्ट्रभाषा-परिषद् से जब उनकी 'जगत्-सेठ' नामक पुस्तक पर एक हजार रुपये का पुरस्कार मिला था, तब मैंने परिषद् के कार्य-विवरण में छापने के लिए उनका सचित्र परिचय मांगा था। उन्होंने बहुत अनुनय-विनय करने पर भी अपना परिचय छपवाना स्वीकार नहीं किया। तब मैंने बहुत आग्रह करके उन्हें इस बात पर राजी किया कि दूसरे किसी सूत्र से प्राप्त करके मैं काम चलाऊं। ऐसे वे निःस्पृह, संकोची और विनयी थे।

परिषद् के वार्षिकोत्सव में पुरस्कार लेने के लिए वे स्वयं आने में बहुत सकुचाते रहे। उस दिन वे पटना के अस्पताल में थे। प्रयत्न करके वे लाये जा सकते थे; पर आत्म-विज्ञापन उन्हें अभीष्ट न था। आखिर मैं ही पुरस्कार-द्रव्य और ताम्रपत्र लेकर उनके पास अस्पताल में गया। उस समय की उनकी कारुणिक मुखमुद्रा और सजल दृष्टि आज भी नहीं भूलती। उनके गद्‌गद् कंठ से कोई वाणी नहीं निकली। ऐसे निष्काम साहित्यसेवी बहुत कम देखने में आते हैं।[1]

आचार्य गुलाबरायजी

जब मैं कलकत्ता के 'मतवाला'-मंडल में था (१९२३-२४), तब श्रीगुलाब रायजी की 'नवरस' नामक प्रसिद्ध पुस्तक का प्रथम संस्करण आरा (बिहार) की नागरी-प्रचारिणी सभा की ओर से मैंने ही छपवाया था।[2] फिर उसका परिवर्द्धित

---

१. पटना के सर्चलाइट प्रेस में १५ अक्तूबर, १९५४ को आठ बजे प्रातःकाल उनका आकस्मिक निधन हुआ। मैंने और परिषद् के प्रकाशनाधिकारी श्रीअनूपलाल मंडल ने साथ जाकर उनके शव पर पुष्पांजलि समर्पित की थी।

२. ' 'साहित्य-संदेश' के लब्धकीर्ति संपादक डॉक्टर गुलाबरायजी को मैं १९१४ से ही जानता था। आरा के 'प्रेम-मंदिर' से कुमार देवेन्द्रप्रसाद जैन ने उनकी दो पुस्तकें पहले-पहल प्रकाशित की थीं—'फिर निराशा क्यों?' और 'मैत्री-धर्म'। इन दोनों पुस्तकों की छपाई मेरी ही देख-रेख में हुई थी। फिर 'मैत्री-धर्म' का नवीन संस्करण भी मेरी ही देख-रेख में 'पुस्तक-भंडार' (लहेरिया सराय) से प्रकाशित हुआ था। इनके छपने से पहले भी मैं श्रीगुलाबरायजी का

संस्करण भी बृहदाकर में प्रकाशित हुआ। इस तरह उनकी कई पुस्तकों का प्रूफरीडर होने के कारण मुझे उनकी विवेचनात्मक और विचारोत्तेजक शैली के अनुशीलन का आनंद उपलब्ध हो चुका था।

श्रीगुलाबरायजी के अंतिम दर्शन का सौभाग्य जयपुर में संभवतः सन् १९४४ ई० में हुआ था। उसके बाद फिर उनके साक्षात्कार का सुयोग सुलभ नहीं हुआ। जयपुर में अखिल-भारतीय हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन का महाधिवेशन गोस्वामी गणेशदत्तजी के सभापतित्व में हुआ था। उस समय सर मिर्जा इस्माइल साहब रियासत के प्रधान मंत्री थे। सभी प्रतिनिधियों के पारस्परिक परिचय का समारोह विशेष आयोजन के साथ हो रहा था। मिर्जा साहब के साथ प्रमुख साहित्यसेवियों का फोटो लिया जा रहा था। राजर्षि टंडनजी, पं० माखनलाल चतुर्वेदी, पं० बनारसीदास चतुर्वेदी आदि मिर्जा साहब के साथ अगली पंक्ति में खड़े थे। मैं श्रीगुलाबरायजी के साथ सभा से निकला तो पंक्तिबद्ध होने के बदले हम लोग आंखें बचाकर बाहर निकल गये। श्रीगुलाबरायजी हंसते हुए कहने लगे कि बहुत-से सज्जन बड़े शौक से कतार में शामिल हो गये हैं और कितने ही लोग पंक्ति के पीछे खड़े उचक-उचककर फोटो खिंचवा रहे हैं।

कवीन्द्र रवीन्द्र

१९२५ : कलकत्ता के 'कला-थियेटर' में संभवतः 'भिखा-दान' नामक एकांकी बंगला-नाटक अभिनीत होनेवाला था। नगर के अन्य थियेटरों के रंगमंच पर भी यही नाटक खेला जा चुका था। फिर भी उत्सुक दर्शकों की भीड़ अपार थी। नाट्यशाला में कहीं तिल रखने की जगह नहीं; टिकट घर के सामने सौ-सौ के नोट दिखाकर लोग हताश लौट आये। रवि बाबू के परिवार की महिलाएं रंगमंच पर उतरनेवाली थीं। विश्वभारती के लिए धन-संग्रह का एक आयोजन था। कलकतिया अखबारों ने विश्वभारती के सहायतार्थ एक-एक पृष्ठ विज्ञापन निःशुल्क

शुभ नाम सुन चुका था। वे छतरपुर-नरेश के साहित्य-मंत्री थे। मिश्रबंधु भी छतरपुर-दरबार में ही थे। उन लोगों की प्रेरणा से महाराज ने बिहार के सुप्रसिद्ध साहित्य-सेवी बाबू व्रजनंदन सहाय 'व्रजवल्लभ' को आमंत्रित करके सम्मानित किया था। व्रजवल्लभजी वहां से लौटने पर कहने लगे कि श्रीगुलाबरायजी की प्रतिष्ठा वहां दर्शनशास्त्र के प्रकांड विद्वान के रूप में है और उन्हीं के कारण वहां साहित्यकारों का आदर-मान होता है। कुमार देवेन्द्रप्रसाद जैन भी श्रीगुलाबरायजी की विद्वता और दार्शनिकता से बहुत प्रभावित थे।"

छापकर चार-चार 'पास' पाये थे।

परदा सादा। रंगमंच सादा। अभिनेतृवर्ग का वेश-विन्यास सादा। कोई टीमटाम नहीं। कोई तड़क-भड़क नहीं। उस सादगी में भी कैसी शोभा थी! इयमधिकमनोज्ञा वल्कलेनापि तन्वी! वैसा अलौकिक नृत्य-संगीत कभी देखा-सुना न गया। अप्सरा-लोक और इन्द्र का अखाड़ा सौ-सौ बार निछावर।

अभिनय का आरम्भ होने के पूर्व। रंगमंच पर एक ऋषि की-सी दिव्य मूर्ति दीख पड़ी। जोगिया रंग का आगुल्फ रेशमी झूल। हरे मखमल का नुकीला जूता। सन-सी सफेद दाढ़ी पर चमकीले चश्मे का काला रेशमी धागा। नयनाभिराम सौम्य रूप। ईश्वर ने अंगों में उनके कितना सौंदर्य छलका दिया था। हृदय में उससे भी अधिक माधुर्य। हृदय की माधुरी मानो नेत्रों में उमड़ आयी थी। एक-एक दृष्टिपात में कितनी मनोज्ञता और सरलता थी! कोमल कंठ से बोले—'पेशेवर कंपनी का खेल नहीं है। गृहदेवियां केवल विश्वभारती के लिए सार्वजनिक रंगमंच पर आयेंगी। शांत चित्त से देखिए, सुनिए, करतल-ध्वनि न कीजिए।'

वाणी की मधुरिमा अनिर्वचनीय। जैसे—कोई देवदूत अमृत छिड़क गया हो। सब लोग भित्तिचित्र-से हो रहे। ललित कला की प्रभामयी प्रतिमाओं से आलोकित वह रंगशाला धरातल पर नंदन-कानन के वसंतोत्सव की चित्रशाला-सी जान पड़ी।

जहां तक याद है, केवल पौन घंटे का अभिनय था। कलकत्ता नगर के सभी थिएटर-भवनों में एक-दो रात वह नाटक खेला गया था। वे स्वयं रंगमंच पर उतरे थे। उस समय भी वे देवांगनाओं और अप्सराओं के मध्य में देवराज इन्द्र के समान शोभा पाते थे। रंगशालाओं में स्थानाभाव के कारण लोग भूमि पर भी बैठते थे। अंतिम दृश्य में मुग्ध दर्शकों ने रंगमंच पर चश्मा, घड़ी, रुपये और स्त्रियों ने आभूषण आदि की राशि एकत्रित कर दी थी। उनका परिवार भी बड़ा दिव्य था। हर तरह से भगवान ने उन्हें आकर्षण का केन्द्र बनाया था। वे अपने युग की एक ईश्वरीय विभूति थे।

हिन्दी के बहुतेरे साहित्य-सेवियों को उनके रचे हुए साहित्य से प्रेरणा मिली है। मुझसे भी ऐसा प्रश्न किया गया था। किंतु दुर्भाग्यवश मैं कवि नहीं हूं, इसलिए महाकवि से मेरे प्रेरणा पाने का प्रश्न ही नहीं उठता। मैंने जीवनभर में जो केवल पंद्रह मौलिक कहानियां लिखी हैं,[1] उनकी रचना में भी मुझे महाकवि से किसी प्रकार की प्रेरणा लेने का सौभाग्य नहीं प्राप्त हुआ। महाकवि के ललित

---

१. ये कहानियां 'विभूति' शीर्षकांतर्गत संकलित होकर बाद में पुस्तक भंडार (लहेरिया सराय) से प्रकाशित हुई थीं।

गद्य के काव्यात्मक सौंदर्य की ओर आकृष्ट होने के कारण उनके कथा-साहित्य और निबंध-साहित्य में मन अवश्य रमा, पर उस अध्ययन का कोई गहरा प्रभाव मेरे गद्य पर न पड़ा, जो आज भी मेरे ध्यान में हो। महाकवि की कल्पना, अनुभूति और अभिव्यक्ति की ऊंचाई या गहराई तक पहुंचने की क्षमता ही मुझमें नहीं थी। यह मेरी निजी धारणा है। यों तो मेरी रचनाएं सुधी समीक्षकों की कसौटी पर कैसा परिणाम उपस्थित करेंगी, यह मेरे कहने की बात नहीं। मैं विशेषतः अपने हिन्दी-जगत् के समर्थ साहित्यकारों की शैलियों से ही प्रभावित हुआ। कूसी (गाजीपुर) के निवासी पं० रामगोविंद त्रिवेदी वेदांतशास्त्री हिन्दी के प्रसिद्ध संस्कृतज्ञ विद्वान् और लेखक हैं। उन्होंने कलकत्ता में भारती प्रेस खोला था। उसी प्रेस से मेरी कहानियों का संग्रह पहले-पहल १९२२ में 'महिला महत्त्व' शीर्षक से निकला था। शास्त्रीजी ने रवि बाबू से उसकी भूमिका लिखवाने का प्रयत्न किया। लेकिन मुझे इतनी बड़ी हिमाकत पसंद न आई। मैंने इसे अपनी अनधिकार चेष्टा समझ शास्त्री से निवेदन किया कि वे ऐसा प्रयास न करें। कलकत्ता-प्रवास के समय कई बार मैंने कवि के दर्शन करने और भाषण सुनने का सुअवसर पाया, पर कभी उनसे लिखवाने का दुस्साहस न किया। जोड़ासांकू (अपर चितपुर रोड) की राजबाड़ी में पं० गांगेय नरोत्तम शास्त्री के साथ कवि के समागम का सौभाग्य प्राप्त हुआ था, जिसमें शास्त्रीजी ने उन्हें संस्कृत-हिन्दी कविताएं सुनाई थीं और उनका हस्ताक्षर भी लिया था। शास्त्रीजी नागराक्षरों में उनके हस्ताक्षर चाहते थे, पर उन्होंने बंगाक्षरों में ही स्वाक्षर देने की इच्छा प्रकट की। उस समय भी मैं उनकी बांकी-झांकी मात्र से ही संतोष करके रह गया।

रवि बाबू से हिन्दी ने बहुत कुछ पाया और रवि बाबू ने भी हिन्दी से बहुत-कुछ ग्रहण किया। अपने पूर्ववर्ती कवियों से प्रभावित होना कोई अस्वाभाविक बात नहीं है। यद्यपि वे हिन्दी नहीं बोलते थे तथापि हिन्दी समझते खूब थे। जब मैं कलकत्ता के 'मतवाला'-मंडल (सन् १९२३-२४) में था, तब 'मतवाला'-संपादक बाबू महादेवप्रसाद सेठ और मुंशी नवजादिकलाल बहुत श्रद्धा से महाकवि के दर्शनार्थ गये थे। उसी यात्रा में चंदर नगर के 'प्रवर्तक'-आश्रम में मोतीलाल बाबू के दर्शनों का भी सुयोग मिला था। मोतीलाल बाबू का रूप और व्यक्तित्व बहुत तेजस्वी और प्रभावशाली था। रवि बाबू का रूप जैसा दिव्य था, व्यक्तित्व भी वैसा ही आकर्षक था। मोतीलाल बाबू एक साधक योगी के समान प्रतीत हुए। रवि बाबू साहित्य और कला के मूर्त रूप-से दिखाई पड़े। सौंदर्य और सौरभ के सघन वातावरण में विराजमान राजर्षि के रूप में उनका मनोमुग्धकर दर्शन वस्तुतः आह्लादकारी था। सेठजी उनसे बंगला में ही बातें करते रहे, अतः उनकी ओर कवि विशेष रूप से उन्मुख रहे। किन्तु मुंशीजी आद्यंत केवल हिन्दी में ही

बातचीत करते रह गये, अतः इनकी ओर कवि का झुकाव कम रहा। इस बात की चर्चा लौटती बार रास्ते में बराबर होती आयी। मुंशीजी को यह बात कुछ खली भी थी।

४

वे कुछ दिन

लखनऊ : १९२४

•

शिवजी अप्रैल, १९२४ में 'माधुरी'-संपादक दुलारेलाल एवं पं० रूपनारायण पांडेय के बार-बार बुलावे पर, कुछ मनमुटाव के कारण 'मतवाला'-मंडल को छोड़कर लखनऊ पहुंचे और 'गंगा-पुस्तक-माला' तथा 'माधुरी' के संपादन-कार्य में सहयोगी बने। 'माधुरी' के संपादक-मंडल में पं० कृष्णबिहारी मिश्र भी थे। शिवजी अमीनाबाद पार्क के पास रॉयल हिन्दू होटल में रहते थे। उनके साथ उसी होटल में उनके सहकर्मी पं० शांतिप्रिय द्विवेदी, श्रीमद्‌भागवत प्रसाद एवं पं० भगवती प्रसाद त्रिपाठी भी रहते थे। सितम्बर, '२४ तक दुलारेलाल के बुलावे पर प्रेमचंदजी भी लखनऊ आ चुके थे, और उनके प्रसिद्ध उपन्यास 'रंगभूमि' की पांडुलिपि के संशोधन-संपादन का कार्यभार शिवजी को मिला था। इस बीच अचानक १३-१४ सितम्बर को लखनऊ में भयंकर हिन्दू-मुस्लिम दंगा मंच गया और शिवजी को अपना सारा सामान—अनेक पांडुलिपियां, डायरियां, नोटबुक, चिट्‌ठी-पत्री आदि बहुमूल्य साहित्यिक सामग्री—होटल में ही छोड़ जान बचाकर भागना पड़ा। लखनऊ में शिवजी का यह प्रवास कुल छह-सात महीनों का ही रहा, यद्यपि नवम्बर १९२४ में पुनः एक बार कुछ दिनों के लिए वे लखनऊ गये थे। किन्तु इसी अवधि में उनका संपर्क 'माधुरी' परिवार के सदस्यों के अलावा पं० बदरीनाथ भट्ट, पं० दयाशंकर दुबे, पं० दशरथप्रसाद द्विवेदी आदि से हुआ। प्रेमचन्द एवं पं० कृष्णबिहारी मिश्र वाले संस्मरणों में उन्हीं दिनों की चर्चा है।

•

प्रेमचन्दजी

बीसवीं सदी की दूसरी बीसी का श्रीगणेश असहयोग-आन्दोलन के साथ हुआ था। मैं उस आन्दोलन के वेग में बहकर कलकत्ता पहुंचा। वहां हिन्दी-पुस्तक-एजेन्सी की दूकान में, जो उस समय हरिसन रोड और चित्तरंजन-पथ के संगम के पास थी, प्रेमचन्दजी के सर्वप्रथम दर्शन का सौभाग्य प्राप्त हुआ था। मेरे साहित्यिक गुरु पंडित ईश्वरीप्रसाद शर्मा ने उनके सामने मुझे 'मारवाड़ी-सुधार' के संपादक के रूप में पेश किया था। उन्होंने अपने प्रथम कहानी-संग्रह 'सप्तसरोज' की एक प्रति मुझे आशीर्वाद-स्वरूप देने की कृपा की।

पहली भेंट एक आकस्मिक घटना थी। दूसरी बार उनके साथ घनिष्ठता बढ़ाने का सुयोग मिला; लखनऊ में। मैं 'माधुरी' के संपादन-विभाग में काम करता था। कुछ दिनों बाद वे भी 'माधुरी' के संपादक होकर आये। उसी समय उनका 'रंगभूमि' नामक बड़ा उपन्यास वहां छपने के लिए आया था। उसकी पूरी पांडुलिपि उन्होंने पहले-पहल देवनागरी-लिपि में अपनी ही लेखनी से तैयार की थी। श्रीदुलारेलालजी भार्गव ने गंगा-पुस्तक-माला के नियमानुसार उसकी प्रेस-कॉपी तैयार करने के लिए मुझे सौंपी। प्रेमचन्दजी ने उतना बड़ा पोथा पहले-पहल नागराक्षर में लिखा था, उसका ऐतिहासिक महत्त्व था। वह पांडुलिपि (प्रेस-कॉपी) यदि आज कहीं सुरक्षित होती!

उस समय 'माधुरी'-संपादन-विभाग अमीनाबाद-पार्क से उठकर लाटूश रोड में आ गया था। पंडित कृष्णबिहारी मिश्रजी भी संपादकीय विभाग में थे। वे बड़ी शान्त प्रकृति के गंभीर साहित्यसेवी थे। उनके विनोद बड़े सरस और हास्योत्तेजक होते थे। वायुमंडल को गुंजानेवाला प्रेमचन्दजी का ठहाका और बात-बात में मिठास भरने वाली मिश्रजी की मुसकान—दोनों अतुलनीय।

वह नागरी-लिपि में लिखा पहला उपन्यास दर्शनीय था। शायद ही कहीं लिखावट की भूल हो, तो हो। भाषा तो उनसे कोई बरसों सीखे। लेखनी का वेग ऐसा कि संयोगवश ही कहीं कट-कुट मिले। कथावस्तु की रोचकता लिपि-सुधार में बाधा देती थी। घटनाचक्र में पड़ जाने पर संपादन-शैली के निर्धारित नियम भूल जाते थे। ध्यान से भाषा पढ़ने के कारण कितने ही सुन्दर प्रयोग सीखने का सुअवसर मिला।

उर्दू के बहुत-से लखनवी लेखक और बाहरी उर्दू-लेखक भी उनसे मिलने और सलाह लेने के लिए प्रायः कार्यालय में आते रहते थे। उर्दू के साहित्य-संसार में उनकी बड़ी धाक और प्रतिष्ठा थी। उर्दू के साप्ताहिक 'प्रताप' (लाहौर) में वे प्रायः कहानी भेजा करते थे। कई कहानियों की फारसी-लिपि मैंने देखी थी। वह बहुत साफ-सुथरी लिखावट थी। उनके अक्षर छोटे थे। वे शिकस्त हरूफ

लिखने के आदी नहीं थे। भाषा तो उनकी चेरी थी।

उस समय पंडित शान्तिप्रिय द्विवेदी भी उसी कार्यालय में थे। हम दोनों साथ ही रहते थे। शान्तिप्रियजी उन दिनों खूब हंसा-हंसाया करते थे। पंडित कृष्णविहारीजी की चुहलें और प्रेमचन्दजी के चुटकुले दोनों का रंग निराला होता। मिश्रजी कभी-कभी हिन्दी के अनूठे दोहे सुनाते और प्रेमचन्दजी उर्दू के ला-सानी लतीफे। उनका अट्टहास सुनकर कार्यालय के कर्मचारी उन्हें एकटक देखने लग जाते। शान्तिप्रियजी को दोनों ही महारथी वहुत प्यार करते थे और उनसे दिल भी बहलाते थे। छुट्टी के दिन प्रेमचन्दजी से मिलने जाने पर 'शिरनी' जरूर मिलती थी। कार्यालय में भी पान उन्हीं का चलता था। घर पर वरावर गुड़गुड़ी पीते रहते थे। चिलम शायद ही कभी ठंडी होती थी। तम्वाकू खूशबूदार खुद खरीद लाते थे। उनका 'सखुन-तकिया' सुनकर मिश्रजी के भी अट्टहास का फव्वारा फूट पड़ता था। उसी तरह काशी में 'प्रसादजी' का भी। राय कृष्णदासजी के शब्दों में—'हिन्दी-संसार के दो अनोखे ठहाकेवाज—प्रसाद और प्रेमचन्द !'

काशी में जव प्रसाद और प्रेमचन्द एकत्र होते, तव मानो ठहाकेवाजी की होड़-सी लग जाती। दोनों दिल खोलकर हंसते। बनारस-कोतवाली के पिछवाड़े नारियल-बाजार में प्रसादजी की लगभग सवा सौ वर्ष पुरानी दूकान है—जर्दा-सुरती-सुंघनी की। उसके सामने के तख्ते पर प्रसादजी की साहित्यगोष्ठी जमती थी। उस समय हिन्दी-संसार का कौन ऐसा साहित्य-महारथी था, जो उस तख्तपोश पर कुछ देर न वैठा हो। (प्रेमचन्दजी ने प्रसादजी के एक ऐतिहासिक नाटक पर अपने 'हंस' में लिख दिया था—'गड़े मुर्दे उखाड़ना' इत्यादि। पर उसके बाद ही जब दोनों मिले, तव पहले की तरह खुले दिल से ही हंसे-वोले। किसी के दिल में कोई मैल नहीं।) वात-बात में खिलखिलाते और उनके जोरदार ठहाके सुनकर वगल की अटारियों से अप्सराओं की मृदु-मन्द-मधुर खिलखिलाहट भी गूंज उठती।

जब काशी में प्रेमचन्दजी ने पहले-पहल सरस्वती प्रेस खोला, तव मैं भी काशी में ही रहता था। काशी-नागरी-प्रचारिणी सभा के पासवाले मैदागिन-पार्क के पश्चिमोत्तर कोने पर एक छोटे-से मकान में प्रेस खुला। छोटे-से खुले ओसारे में आफिस था। लखनऊ के बाद वहीं उनके दर्शन होते रहे। मैं वरावर उनकी सेवा में पहुंचा करता। शाम को प्रेस में दिन-भर की आमदनी का हिसाब जोड़ा जाता। कर्मचारियों को रोज कुछ-न-कुछ देना ही पड़ता। सवकी मांग रोज नहीं पूरी होती थी। किन्तु प्रेमचन्दजी सबके सामने आमदनी का हिसाव रख देते और कहते, इतने पैसे में तुम्हीं लोग अपने और मेरे लिए ब्योंत कर दो, मुझे पान-तम्बाकू और एक्का-भाड़ा-भर देकर वाकी आपस में वांट लो। उनको हंसते-हंसते ऐसा कहते सुनकर सब कर्मचारी भी हंसने लगते। फिर रुपया चाहनेवाला अठन्नी

पर और अठन्नी मांगने वाले चवन्नी पर ही प्रसन्नता से संतोष करते। जिस दिन मजदूरों की मांग पूरी हो जाती, उस दिन प्रेमचन्दजी वहुत प्रसन्न हो जाते थे। अपने कर्मचारियों से उनकी हार्दिक सहानुभूति थी। श्रमिक-वर्ग के लिए अपनी रचनाओं में उन्होंने जो सद्भाव प्रदर्शित किये हैं, वे उनकी वोलचाल और व्यवहारों में भी प्रत्यक्ष दीख पड़ते थे। जरूरतमन्द के सामने वे अपनी जरूरतों को भूल जाते थे।

सव कर्मचारियों को यथायोग्य पैसे दे चुकने के बाद वे बचे-खुचे पैसे लेकर मैदागिन से चौक चले जाते। कई वार मैं भी उनके साथ उधर गया। लखीचौतरा पहुंचकर एक ढोली पान खरीदते। एक तमोली उनका मोदी था। उसी से रोज ढोली लेते। वह भी अच्छी चुनकर देता। छाते को कंधे पर सीधा रखकर उसके पिछले छोर में रूमाल में वंधी ढोली लटका लेते और पिछले छोर में मुश्की तम्वाकू की पोटली। कभी-कभी पैसे कम पड़ जाते तो अपने गांव का एक्का खोजते हुए कुछ दूर पैदल ही चल पड़ते, या पिसनहरिया तक ही किसी एक्के पर जाकर, आगे फिर गांव तक पैदल चलते थे। इस कठिनाई का वर्णन प्रेस में वैठे-वैठे हंस-हंसकर किया करते थे। किसी दिन कहते कि अरदली-वाजार या वरुना-पुल तक पैदल जाने के बाद गांव का एक्का मिला था। एक बार कपड़े का फीतेदार जूता खरीदा तो उसकी एड़ी दवाकर चप्पलनुमा बना ली, और कहने लगे कि एड़ीदार जूते से पैदल चलने में कष्ट होता था, इसलिए उसे चप्पल कर दिया। प्रेस की आर्थिक दशा से वे चिन्तित तो रहते थे, पर उनके स्वाभाविक अट्टहास में कोई अन्तर नहीं पड़ता था।

कुछ दिनों बाद सरस्वती प्रेस जब मृत्युञ्ज-महादेव के पास एक बड़े फाटक के अन्दर प्रशस्त भवन में चला गया, तब आर्थिक स्थिति में कुछ सुधार हुआ। मुद्रण-कला-विशेषज्ञ श्रीप्रवासीलाल वर्मा उस समय प्रेम के प्रवन्धक थे। उन्हीं दिनों मासिक 'हंस' और साप्ताहिक 'जागरण' का प्रकाशन प्रेमचन्दजी के संपादकत्व में चल रहा था। दोनों पत्रों में प्रायः मेरी रचनाएं छपती थीं। मेरे लिखे 'क्षण-भर' (व्यंग्य-विनोद) पर खूब हंसा करते थे। मैं कालभैरव के पास रहता था और बहुधा प्रेस में जाया करता था। मैंने देखा कि प्रेमचन्दजी अपने आश्रितों पर सदैव कृपालु रहे। इसीलिए प्रेस-मजदूर भी उनका बड़ा लिहाज करते थे। किसी के अपराध पर भी वे क्रोध करने के बदले हंसते ही थे। बहुत दिनों तक उनके संपर्क का सौभाग्य रहा, अनेक प्रसंगों पर उनकी उदारता और सहृदयता देखने के सुयोग मिले, पर कभी उन्हें क्रोध करते देखा ही नहीं। साधारण बोलचाल में भी वे सूक्तियां कह जाते थे। एक दफा कहा था—'गुस्सा पी जाने पर आवे-हयात (अमृत) बन जाता है।' उनके लेखों की तो बात ही क्या, उनकी चिट्ठियों में भी सूक्तियां मिल जाती हैं।

उनकी धर्मपत्नी श्रीमती शिवरानी देवीजी का एक गल्प-संग्रह 'नारी हृदय' सरस्वती प्रेस से निकला था। उसकी भूमिका उन्होंने मुझसे लिखवाई। उनका सहज स्नेह उत्साहवर्द्धक था। वे स्वयं दूसरों की लिखी कहानियों का संग्रह तैयार करने लगे, तो उसमें मेरी भी एक कहानी रख दी। वे लेख लिखने के लिए विषय भी बतलाते थे। कभी-कभी प्रेस में बैठे-ही-बैठे लेखादि का संशोधन करते, संपादकीय टिप्पणियां लिखते और पत्रोत्तर देते। किन्तु अधिकतर ये काम घर से ही करके लाते थे। प्रेस में लिखते समय देखा कि बड़ी तेजी से लेखनी चलती, मगर कहीं काटने या बदलने की नौबत नहीं आती। जान पड़ता था कि लेखनी सजग होकर विचारधारा के साथ बेधड़क चल रही है। साप्ताहिक के लिए अग्रलेख भी एक ही सांस में लिख डालते। देश और समाज की सभी समस्याओं पर वे बड़े ठोस और निर्भीक विचार प्रकट करते थे। कोई क्षेत्र उनकी लेखनी से अछूता न बच सका। राजनीति और साहित्य की क्या चर्चा, धर्म का क्षेत्र भी अछूता न रहा।

प्रेमचन्दजी की लेखनी ने हिन्दी को एक लोकप्रिय शैली दी और जनता के जीवन का कोना-कोना छान डाला। राष्ट्र के हृदय की धड़कन का वे अनुभव करते थे। युग की वाणी को उन्होंने स्वर दिया। उनकी रचनाओं ने हिन्दी और उर्दू की अभिन्नता सिद्ध की। किन्तु उनके जीवनकाल में हिन्दी वालों से अधिक उर्दू वालों ने ही उनका सम्मान किया। प्रसिद्ध मुसलमान नेता मौलना मुहम्मदअली एक उर्दू-साप्ताहिक 'हमदर्द' दिल्ली से निकालते थे। उसमें प्रेमचन्दजी की कहानियां प्रायः छपा करती थीं। उनको पुरस्कार के रूप में प्रति कहानी एक गिनी मिलती थी। वह गिनी मखमली 'केस' में पार्सल से आती थी। उन दिनों गिनी का क्या दाम था, मुझे याद नहीं, पर कई बार मैंने गिनी देखी थी। हिन्दी-पत्रों से मिले पुरस्कार पर वे हंसकर चुप रह जाते थे। हां, उन्होंने हिन्दी-साहित्य की चिरस्मरणीय सेवा करके जो प्रचुर पुण्य कमाया, उसका सुफल आज उनके उत्तराधिकारी भोग रहे हैं। हिन्दी के प्रकाशकों से ऊबकर वे एक बार सिनेमा की दुनिया में भी गये थे। परन्तु बम्बई से लौटकर वे विचित्र कहानियां सुनाकर हंसा-हंसाया करते थे। उस दुनिया के उनके अनुभव सुनकर मनोरंजन तो होता था, पर घृणा भी होती थी। वहां के रहस्यों और अनुभवों को सुनाकर उन्होंने प्रसादजी को भी खूब हंसाया था। विनोद का सुअवसर वे कभी चूकते नहीं थे। एक बार हनुमानजी की पूजा में अध्यापक रामदास गौड़ के घर गये थे तो गौड़जी से कहने लगे—'आपका घर सचमुच अजायबघर है—जिसमें हनुमानजी तो रहते ही हैं—भूतप्रेत भी रहते हैं।'

अन्तिम दिनों में तो प्रसादजी का और उनका लगभग रोज का साथ रहा। वे काशी में बेनिया-बाग के पास रहते थे। प्रतिदिन प्रातः संध्या दोनों महारथी

साथ-साथ बेनिया-पार्क में टहला करते थे। चहलकदमी के साथ साहित्यिक चर्चा भी होती चलती थी। वे प्रसादजी के सामने ही उनकी भाषा पर अपने विचार स्पष्ट व्यक्त कर देते थे और प्रसादजी हंसते-मुसकराते सुन भी लेते थे। दोनों साहित्य-सम्राटों के मतभेद कभी आपस में टकराये ही नहीं। दोनों जहां मिल बैठते, उनकी बातें सुनने से जी न भरता।

जब मैं 'मतवाला'-मण्डल से 'माधुरी' के सम्पादकीय विभाग में गया, श्रीदुलारेलालजी भार्गव ने कृपापूर्वक पत्रिका के अतिरिक्त कुछ पुस्तकों के संशोधन का काम भी दिया। पहले 'एशिया में प्रभात' और 'भवभूति' की कॉपियां मिलीं। सौभाग्यवश भार्गवजी मेरी सेवा से संतुष्ट हुए और मुझे प्रेमचन्दजी के सुप्रसिद्ध उपन्यास 'रंगभूमि' की पाण्डुलिपि प्राप्त हुई, जो पहले से भार्गवजी के पास आ चुकी थी।

मैं सहम गया। 'सप्तसरोज', ''सेवा-सदन' और प्रेमाश्रम' कलकत्ता में पढ़ चुका था—साहित्य-जगत् में उनकी जो स्तुति-चर्चा होती रहती थी, उसकी भी धाक मेरे दिल पर काफी थी। मैं उनकी कृतियों और कीर्ति-कथाओं से तो परिचित था, पर उनके नित्य दर्शनों से वंचित ! मैंने यह भी सुना था कि वे पहले उर्दू में कहानी या उपन्यास लिख जाते हैं, फिर किसी हिन्दी के जानकार से नागराक्षरों में लिखवाते हैं। पर जब 'रंगभूमि' की कॉपी मिली, मेरे आश्चर्य और आनन्द का ठिकाना न रहा। सारी कॉपी प्रेमचन्दजी की ही लिखी हुई थी। दो मोटी जिल्दों में खासा एक बड़ा पोथा, छोटे-छोटे अक्षर, घनी लिखावट; कहीं काट-छांट नहीं; मानो पूरी पुस्तक एक सांस में लिखी गयी हो !

भार्गवजी की गंगा-पुस्तक-माला की पुस्तकों का सम्पादन जिन नियमों के अनुसार होता था, उन नियमों को मैं जान चुका था; क्योंकि भार्गवजी के सम्पादकत्व के कारण 'माधुरी' में भी उन्हीं नियमों का पालन करना पड़ता था। जब मैं 'रंगभूमि' की कॉपी पढ़ने लगा, नियमों का ध्यान छूट गया, मन रीझकर भाषा की बहार लूटने लगा। पचासों पन्ने उलट जाने के बाद अचानक उत्तरदायित्व का ज्ञान होता, फिर पीछे लौटकर नियमों की पाबंदी करनी पड़ती। कुछ हिन्दी-शब्दों की लिखावट में भूल मिलती थी और कुछ के उपयुक्त प्रयोग में भी। वाक्यावली और वर्णन-शैली तो गंगा की धारा-सी स्वच्छ और सवेग थी। बंधे नियमों के अनुसार कुछ अक्षर बदलने पड़े। कुछ मात्राएं इधर-उधर हुईं, कुछ प्रसंगानुकूल यथोचित शब्द चस्पां किये गये। प्रेस-कॉपी तैयार हो गयी। भार्गवजी ने देखकर पास किया। छपाई के काम में हाथ लगा।

उसी समय प्रेमचन्दजी का शुभागमन हुआ। प्रथम दर्शन में ही मेरे चित्त पर उनके हृदय की महत्ता की सत्ता स्थापित हो गयी। खास तौर से उनकी सुविधा के लिए लाटूश रोड में एक नया मकान लिया गया था। उसी में

श्रीमैथिलीशरणजी गुप्त भी लगभग एक-डेढ़ मास ठहरे थे—किसी वयोवृद्ध कुटुम्वी की चिकित्सा करा रहे थे। 'माधुरी' का सम्पादन विभाग भी, अमीनावाद-पार्क के गंगा-पुस्तक-माला-कार्यालय से उठकर, उसी मकान में चला गया। वह अमीनाबाद से थोड़ी ही दूर था। रास्ते में भार्गवजी का मकान पड़ता था और पंडित वदरीनाथ भट्ट का भी। उन दिनों पंडित कृष्णविहारी मिश्रजी भी 'माधुरी' के सम्पादकीय विभाग में थे। प्रेमचन्दजी, मिश्रजी और भट्टजी का जब समागम होता था, हंसी के फव्वारे आकाश चूमने लगते थे।

मिश्रजी की रईसी हंसी सामने की मेज पर ही उछलती थी और प्रेमचन्दजी का ठहाका ऊंची छत से टकराकर खिड़कियों की राह सड़क पर निकल जाता था—भट्टजी की हंसी उसे पकड़ न पाती थी। दिल खोलकर तीनों हंसते थे। वह हंसी कितने ही दिमागों में गूंज रही होगी। उनकी स्मितपूर्वाभिभाषिणी मुखमुद्रा और उनका अक्लांत अट्टहास, जो कभी आंखों और कानों में औत्सुक्य और उल्लास भर देते थे, अविस्मरणीय बन गये।

कितनी ही संध्याएं अमीनावाद-पार्क में हरी घास पर वैठे वीतीं—पार्क के एक कोने में उस कचालू-रसीलेवाले की दूकान पर, जहां ताल्लुकेदारों और रईसों की मोटरें भी खड़ी होती हैं, दही-बड़े और मटर की कितनी ही दावतें हुईं—'रंगभूमि' में 'सूरदास' का स्वांग रचनेवाले प्रकृत व्यक्ति की सच्ची कहानियों पर कितने ही कहकहे उड़े—जितने दिन लखनऊ में रहे, बड़े सुखावह दिन वीते।

जब कभी 'माधुरी'-सम्पादक पंडित रूपनारायणजी और प्रोफेसर दयाशंकर दुवे—जो उन दिनों लखनऊ-विश्वविद्यालय में थे—पहुंच जाते, प्रेमचन्दजी की हंसी से खासी टक्कर लेते। और एक बार तो कविवर गुप्तजी के सम्पर्क से मुंशी अजमेरीजी भी पहुंच गये, जिन्होंने तरह-तरह की हंसी हंसकर प्रेमचन्दजी के अट्टहास का दम तोड़ दिया। पंडित कृष्णबिहारीजी यह पूछे बिना न रह सके—'आज दोनों मुंशी हंसी के दंगल में भिड़े। आखिर कौन चित हुआ?' प्रेमचन्दजी नुमाइशी हंसी हंसते हुए पहले ही वोल उठे—'मैं पीठ के वल नहीं, (मूं) मुंह के वल गिरा।' इस पर खूब कहकहा मचा।

लखनऊ के दंगे के बाद[1] मैं पुन: 'मतवाला'-मण्डल में कलकत्ता आ गया था। कभी-कभी चिट्ठी-पत्री होती रही—विशेषत: उस समय, जब वणिक प्रेस और हिन्दी पुस्तक एजेंसी के मासिक 'उपन्यास-तरंग' का मैं सम्पादन करने लगा।

---

१. लखनऊ के दंगे एवं उससे बचकर भागने का पूरा विवरण शिवजी ने काशी पहुंचकर 'मतवाला' में प्रकाशनार्थ भेजा था जो २० सितम्वर, १९२४ के अंक में प्रकाशित हुआ था।—सं०

चिट्ठियों का तांता उस समय खूब बंधा, जब वे 'माधुरी' के सम्पादक थे और बनारस में उनके 'सरस्वती-प्रेस' का प्रवन्ध-भार ग्रहण करने के लिए श्रीप्रवासी-लाल वर्मा मालवीय के निमित्त मैं पत्र-व्यवहार कर रहा था। उस समय मैं भी काशी में ही रहकर लहेरियासराय के पुस्तक-भण्डार का साहित्यिक कार्य-सम्पादन कर रहा था; और कई पुस्तकें सरस्वती-प्रेस में भी छपती थीं। उन दिनों श्रीगुरुराम विश्वकर्मा 'विशारद'—जो प्रेमचन्दजी के गांव के पड़ोसी थे, और उनको 'भैया' कहा करते थे, प्रेस के प्रवन्धक थे।

लखनऊ चले जाने के पहले प्रेमचन्दजी जव तक घर पर रहे, नित्य इक्के से प्रेस आया करते थे। मैं भी भण्डार की पुस्तकों की देख-रेख के लिए प्राय: नित्य ही प्रेस में जाता था। कम्पनीवाग (मैदागिन पार्क) के पूरबी छोर पर काशी-नागरी-प्रचारणी सभा है और पच्छिमी छोर पर सड़क के किनारे सरस्वती-प्रेस था। पुराना मकान, अंधेरा, गन्दा—बड़ी रद्दी हालत थी प्रेस की। रोज ही वे प्रेस की फिक्र में परेशान रहते थे। मेरे हाथ में पुस्तक भण्डार का जो काम था, उसमें से जितना उनका प्रेस सहूलियत से कर सकता था, उतना तो मैं दे ही देता था, और भी परिचितों से काम दिलवाता था। किन्तु प्रेस और हाथी का पेट—दोनों बरावर। पोसाता न था। चिन्ता-चक्र चल ही रहा था कि वे लखनऊ चले गये। तव प्रवासीलालजी की बात छिड़ी। मैं भी बीच में पड़ा। लिखा-पढ़ी होते-होते बात तय हो गयी।

वर्माजी प्रेस को मध्यमेश्वर से उठाकर मृत्युञ्जय-महादेव रोड पर ले गये। स्वनामधन्य कलाविद् श्रीरायकृष्णदासजी का एक नया मकान था। वह प्रेस के लिए वड़ा शुभ एवं लाभप्रद सिद्ध हुआ। कम-से-कम प्रेस की ओर से प्रेमचन्दजी निश्चिन्त हो गये। वर्माजी के काम से संतुष्ट भी रहे। एक सुयोग्य मनुष्य के साथ सम्वन्ध स्थापित कराने में सहायक होने के कारण मुझ पर भी अत्यधिक स्नेह रखते थे। यदि लखनऊ से कभी एक दिन के लिए भी आते, तो तुरन्त प्रेस का आदमी मुझे बुलाने पहुंच जाता। एक बार तो वर्माजी की नियुक्ति के समय लखनऊ से सीधे मेरे मकान पर आ धमके। उस समय मैं काल-भैरव की चौमुहानी पर रहता था और वर्माजी भी मेरे पड़ोसी ही थे। प्रेमचन्दजी ने किसी प्रकार का सन्देह या असमंजस नहीं प्रकट किया; खुले दिल से वर्माजी को अपनाया। जाते समय वनारसी पान का चौघड़ा मुंह में लेते हुए कहने लगे—'आज सुख की नींद सोऊंगा, वड़ा भारी बोझ उतर गया, प्रेस वला हो गया था।'

जव वे लखनऊ में ही थे, तव 'हंस' निकालने का आयोजन होने लगा। साहित्य जगत् के यशोधन कलाकार श्रीजयशंकर प्रसादजी ने 'हंस का नामकरण किया और प्रेमचन्दजी की स्वीकृति लेकर वर्माजी ने उसके प्रकाशन का श्रीगणेश कर दिया। प्रेमचन्दजी लखनऊ से ही कहानियां और टिप्पणियां भेजा करते थे। किन्तु

प्रसादजी की योजना के अनुसार 'हंस' में केवल दो ही स्तम्भ रह सके—'मुक्ता-मंजूषा' और 'नीर-क्षीर-विवेक'। प्रसादजी की स्कीम में कहानियों की प्रधानता नहीं थी। पर प्रेमचन्दजी के सम्पादकत्व में तो कहानियों की ही प्रधानता हो सकती थी; अतएव 'हंस' वहुत दिनों तक कथा-साहित्य का ही मुखपत्र रहा।

वीच में एक-डेढ़ साल मैं काशी से बाहर रहा, यद्यपि आने-जाने का सम्बन्ध बना रहा। उस अवधि में 'गंगा' मासिक पत्रिका का सम्पादक रहा। जब कहानी के लिए प्रेमचन्दजी को पत्र लिखा, स्पष्ट उत्तर मिला कि 'आप मेरे 'हंस' के लिए मुफ्त लिखा करते हैं, इसलिए मैं राजा[1] की पत्रिका के निमित्त मुफ्त नहीं लिखूंगा, काफी पुरस्कार दिलवाइए।' मैं परिस्थिति देखकर चुप रह गया; क्योंकि जब मैं 'माधुरी' के सम्पादकीय विभाग में था, तब प्रेमचन्दजी को फी पेज चार रुपये के हिसाव से पुरस्कार दिया जाता था। उतना पुरस्कार देकर उनकी कहानी लेना 'गंगा' ने पसंद नहीं किया, यद्यपि 'भारत-भारती' की समालोचना लिखने पर प्रोफेसर रामदास गौड़ को फी पेज पांच रुपये के हिसाब से पुरस्कार दिया गया था!

'गंगा' का सम्पादन-कार्य छोड़कर मैं फिर काशी चला आया। तब तक प्रेमचन्दजी भी 'माधुरी' को छोड़कर काशी आ गये थे। इस वार उन्होंने 'मुक्ता-मंजूषा' का भार मुझे सौंपा और यथासाध्य पुरस्कार देना भी स्वीकृत किया; क्योंकि मैं बेकार था। वेकारी में उनके प्रेस से बड़ी सहायता मिली—पारिश्रमिक के रूप में ही सही। कभी-कभी हंसी में कह भी देते थे—'आप वेकार हैं, मैं निराकार हूं!'

सरस्वती-प्रेस में घंटों वैठकवाजी होती थी। पान की गिलौरियों का दौर चलता रहता था। लखनऊ के विचित्र पान की चर्चा करते हुए खूब हंसा करते थे—अपने मशहूर 'सखुन-तकिया' की बौछारों से लखनवी पान का खूब सम्मान करते थे। खुद कहते भी थे—'मेरा यह 'तकिया-कलाम' तो उर्दू-साहित्य-गोष्ठी का प्रसाद है। गनीमत है कि बोलने की तरह लिखने में यह नहीं टपक पड़ता। कहीं किसी के खत में लिख जाय, तो दोनों की मिट्टी खराव हो।'

अपने प्रेस की पुस्तकों के विज्ञापन के लिए वे वहुत दिनों से एक साप्ताहिक पत्र निकालने का इरादा कर रहे थे। पुस्तक-मन्दिर (काशी) द्वारा प्रकाशित शुद्ध साहित्यिक 'जागरण' जब मेरे सम्पादकत्व में छः महीने तक पाक्षिक निकलकर बन्द हो गया, तब उन्होंने अपने सम्पादकत्व में उसे साप्ताहिक रूप

---

१. भागलपुर जिले के गंगातटस्थ कृष्णगढ़ (सुलतानगंज) से बनैली-राज्य के कुमार कृष्णनन्दन सिंह 'गंगा' से संचालक थे।

में निकालना शुरू किया। तब मेरे साथ और अधिक घनिष्ठता बढ़ी। प्रेस में काफी देर तक वे भी बैठते थे और मैं भी वहीं बैठकर अखबार पढ़ता या प्रूफ-करेक्शन करता। प्रेस में मेरी कोई नौकरी न थी; पर कुछ-न-कुछ साहित्यिक काम करते रहने का व्यसन तो था ही। सबसे बड़ा लाभ था उनका सत्संग। उनकी बातचीत से कोई-न-कोई नई बात रोज सीखने को मिल जाती थी—नया मुहावरा, नयी शैली, कोई नया शब्द, कोई नयी युक्ति वा उक्ति। बोलने लगते थे तो जबान लड़खड़ाती न थी और चूकती भी न थी। उर्दू के पंडित थे, हिन्दी के गढ़ में बचपन से रहते आये। अध्ययन और अनुभव भी कम नहीं। कलम उठाते ही मंजी भाषा की धारा चल पड़ती।

उनकी चिट्ठी भी कहानी का मजा देती थी। कभी-कभी पोस्टकार्ड की दस-बीस लाइनों में ही बड़े-बड़े सिद्धान्त और तत्त्व-महत्त्व की बातें कह जाते थे; बीच में कहीं मधुर विनोद का पुट भी धर देते थे। कमाल की लेखन-शैली थी। पढ़ने लगने पर मालूम होता था कि लेखक की लेखनी कहीं सांस न लेकर सरपट दौड़ी जा रही है और मन अनायास उसके पीछे लगा चला जाता है।

'जागरण' के लिए प्रतिमाह अग्रलेख और सम्पादकीय नोट, 'हंस' के लिए भी प्रतिमास वही, कभी-कभी एक कहानी भी, अन्य पत्रों की मांग पूरी करने के लिए कम-से-कम महीने में एक-दो कहानी जरूर, उपन्यास लिखने का सिलसिला अलग। इतना अधिक लिखने पर भी अकीर्त्तिकर कुछ भी न लिखा। जिस विषय को लेखनी छू देती, वही मानो सजीव हो उठता था। लेखनी अथ से इति तक एक-सी शान से चलती थी। मस्तिष्क में सोचने की शक्ति जैसी तीव्र, वैसी ही उंगलियों में लिखते रहने की। तो भी पैसे का अभाव दूर न हुआ। 'हंस' और 'जागरण' में बराबर घाटा ही रहा। पुस्तकें काफी बिकती न थीं। हिन्दी के प्रकाशकों से कुछ मिलता न था। 'भारत-भारती' के बराबर उनकी किसी पुस्तक के संस्करण न हुए! बल्कि हिन्दी वालों से उर्दू वाले कहीं अधिक गुणग्राहक निकले, क्योंकि उनकी उर्दू-पुस्तकों का बाजार पंजाब में बहुत अच्छा था, ऐसा वे स्वयं प्रायः कहा करते थे। यह भी कहा करते थे कि मौलाना मुहम्मद अली अपने 'हमदर्द' के लेखों पर मुझे जितना पुरस्कार देते थे, उतना हिन्दी-पत्रों के सम्पादक नहीं दे सकते। अकसर मौलाना मनीआर्डर न भेजकर गिनी ही पार्सल में भेजते थे।

पं० कृष्णबिहारी मिश्र

सन् १९२४-२५ की बात है। 'मतवाला'-मंडल (कलकत्ता) से मैं 'माधुरी' कार्यालय (लखनऊ) के सम्पादकीय विभाग में चला गया था। वहीं श्रद्धास्पद

मिश्रजी के प्रथम दर्शन और सत्संग का सौभाग्य प्राप्त हुआ। मिश्रजी 'माधुरी' में प्रकाशनार्थ प्राप्त रचनाओं को स्वीकृत एवं अस्वीकृत किया करते थे। यही उनका मुख्य काम था। उनके द्वारा स्वीकृत लेख पंडित रूपनारायण पांडेय ('माधुरी'-सम्पादक) के पास भेज दिये जाते थे। अस्वीकृत लेख, डाक-टिकट साथ होने पर, लौटा दिये जाते थे। मिश्रजी सभी रचनाओं को बड़े ध्यान से पढ़ते थे। कभी-कभी अस्वीकृत लेखों या कविताओं पर अपनी सम्मति भी लिख देते थे।

'माधुरी' में यदा-कदा ब्रजभाषा की कविताएं भी छपती थीं। उनका सम्पादन मिश्रजी ही करते थे। प्रायः ब्रजभाषा-साहित्य सम्बन्धी निबन्धों को भी उन्हें शोधना पड़ता था। ब्रजभाषा काव्य-ग्रंथों और तद्विषयक आलोचनात्मक पुस्तकों की समालोचना भी प्रायः वही लिखते थे। ब्रजभाषा के काव्य-साहित्य पर उनका असाधारण अधिकार था। ब्रजभाषा-कवियों की रचनाओं का उन्होंने बड़ा गम्भीर अध्ययन-मनन किया था। आज हिन्दी में ब्रजभाषा-साहित्य के जो गिने-चुने मर्मज्ञ और विशेषज्ञ रह गए हैं, उनमें मिश्रजी का आदरणीय स्थान है। हिन्दी के स्वनामधन्य साहित्य-सेवी मिश्र-बन्धुओं से उनका कौटुम्बिक सम्बन्ध था। उनके अपने कई पूर्वज भी ब्रजभाषा के यशस्वी कवि थे। देव, मतिराम, बिहारी, सेनापति आदि कवियों के सम्बन्ध में उनके साथ वार्तालाप करने पर अविरल आनन्द का अनुभव होता था।

मिश्रजी बड़े सूक्ष्मदर्शी आलोचक और अनुभवी पत्र-सम्पादक भी थे। उन्होंने 'समालोचक' नामक एक मासिक पत्र स्वयं निकाला था। उसके प्रथम अंक के लिए उन्होंने एक आलोचनात्मक कहानी लिखने का मुझे आदेश दिया। मैंने 'मानमोचन' शीर्षक एक कहानी लिखी, जिसे उन्होंने पसन्द करके प्रकाशित भी किया। मैं बराबर उनका स्नेहभाजन बना रहा।

मिश्रजी ने रईस तबीयत पायी थी। उनकी वेशभूषा और बातचीत से रईसी टपकती थी। उनके व्यवहार में पग-पग पर शिष्टता झलकती थी। उनकी शालीनता में आकर्षण था। उनका व्यक्तित्व और शील बड़ा प्रभावशाली था। एक प्रतिष्ठित सरदार की तरह वह सौम्य और शान्त थे। उनके साहित्यिक विनोद बड़े सरस होते थे।

मेरे साथ 'माधुरी'-कार्यालय में एक नवयुवक सज्जन थे। वह प्रायः मिश्रजी के सामने हास्य-विनोद के प्रसंग उपस्थित किया करते थे। उनसे मिश्रजी का विशेष मनोरंजन हुआ करता था। एक दिन कार्यालय के संचालक किसी कर्मचारी को बड़े जोर से डांटने लगे। उन्हें क्रोधावेश में मेज पर मुट्ठी पटककर दांत पीसते देखकर नवयुवक महाशय वहां से हट गए। संचालकजी के चले जाने पर नवयुवक महोदय आकर मिश्रजी से बोले, 'मैं तो संचालकजी को मेज पर मुट्ठी मारते देखकर डर गया कि कहीं उस बेचारे कर्मचारी के सिर पर न मुट्ठी

मारने लगें।' यह वात सुनकर मिश्रजी इतना हंसे कि कुर्सी पर बैठे-ही-बैठे हिलने लगे और हंसते-हंसते उनकी आंखों से आंसू तक निकल आए। चश्मा निकालकर रूमाल से पोंछते समय भी उनकी हंसी नहीं रुकी। उनकी हंसी में किसी तरह की आवाज नहीं होती थी। हंसते भी थे तो गम्भीरता से। वैसी संयत हंसी कहीं नहीं दीख पड़ी। हम लोग हंसी का कोई कारण नहीं समझ सके। कई दिन बाद उन्होंने नवयुवक सज्जन के वाक्य का व्यंग्यार्थ स्पष्ट किया। तब फिर उनकी हंसी उमड़ी। कार्यालय-भर में उसकी लहर उमड़ी। बस, मिश्रजी एकाएक मौन हो गए।

एक बार की बात है कि पंडित रूपनारायण पाण्डेयजी को मिश्रजी ने एक देहाती नौकर ला दिया था। उसके विषय में एक दिन पाण्डेयजी से मिश्रजी ने पूछा कि कैसा काम करता है। पाण्डेयजी बोले, 'वह (नौकर) तो मेरे तलवे में तेल-मालिश करते समय सितार बजाता है; सितार की सुन्दरियों पर अंगुलियां नचाने की तरह मेरे तलवे में धीरे-धीरे गुदगुदाता-भर है; मेरी तो तबीयत नपुंसक पति की युवती सुन्दरी पत्नी की तरह झुंझला उठती है।' इस पर भी मिश्रजी उसी दिन की तरह इतना हंसे कि सामने की मेज भी पीक की बौछार से न बच सकी। पाण्डेयजी सदा अपने घर पर रहकर ही सम्पादन-कार्य करते थे; पर जब कभी कार्यालय में आते थे, मिश्रजी के साथ कुछ क्षण विनोद कर ही लेते थे। दोनों ही सरस-हृदय साहित्य-रसिक थे, अतः उन दोनों के आस-पास के लोग भी उनके द्वारा सदा आनन्द का ही अनुभव करते थे।

एक बार तो मिश्रजी इतना अधिक हंसे कि दुर्घटना हो गयी। हंसते-हंसते आंखों को पोंछने के लिए चश्मा उतारकर रूमाल से उसे साफ करने लगे। इतने में हंसी के वेग से हिलते हुए हाथों से चश्मा छूटकर फर्श पर जा गिरा और चूर हो गया। तब भी कुर्सी पर उनकी देह हिल-डुल रही थी। हम हंसनेवाले तो अचकचा-कर मौन हो रहे। बात ऐसी हुई कि बातचीत के सिलसिले में एक शब्द ऐसा आ गया जिसका अर्थ सुनकर मिश्रजी खुले दिल से हंसने लग गए। 'माधुरी'-कार्यालय अमीनाबाद पार्क से लाटूश रोड में चला गया था। वहां सम्पादन-विभाग में प्रेमचन्दजी भी काशी से आ गए थे। उनसे मिलने के लिए उर्दू के साहित्य-सेवी प्रायः आते रहते थे। एक नौजवान शायर उस दिन आ गए, जो बड़े खूबसूरत और शौकीन भी थे। उनके चले जाने पर पं० बिहारीलाल गुजराती ने प्रेमचन्दजी को उनका परिचय दिया, जिससे प्रेमचन्दजी भी अट्टहास कर उठे।

गुजरातीजी पुस्तक-प्रचारक थे। बातें करने की कला में बड़े निपुण थे। गर्मियों में मसूरी, नैनीताल, शिमला आदि पहाड़ी नगरों में ही अड्डा जमाये रहते थे। राजा-रईसों और ताल्लुकेदारों का दरबार करके उन्हें कहानी-उपन्यास की पुस्तकें पढ़ने को देना उनका खास काम था। उनकी लखनवी जबान और

लखनवी तबीयत रईसों तथा सेठों को बरबस रिझा लेती थी। इसी हुनर की बदौलत वह पुस्तक-प्रचार में काफी सफलता पा लेते थे। पहाड़ी नगरों में मौज करने के लिए आनेवाले धनी-धोरी लोगों के बारे में वह तरह-तरह के किस्से सुनाया करते थे। उस दिन गुजरातीजी ने जो मनचले शायर का किस्सा सुनाया, उसका सम्बन्ध एक नवाब साहब से भी था। वही उसके नायक थे। उस किस्से में आये हुए 'हथेली-टेक' शब्द पर ही प्रेमचन्दजी ठठाकर हंस पड़े थे। उस क्षण तक मिश्रजी की ओर हंसी की लहर नहीं आयी थी। जब प्रेमचन्दजी की प्रेरणा से गुजरातीजी ने उन्हें शब्द की व्याख्या सुनायी तब शब्दार्थ का भाव समझकर वह हंसते-हंसते लोटपोट हो गए। उसी हंसी के झकोरे में चश्मा चकनाचूर हुआ।

मिश्रजी को भद्रता और शिष्टता का बहुत ध्यान रहता था। वह पदे-पदे सौजन्य की मर्यादा का पालन करने में तत्पर दीखते थे। वह कभी फालतू बात नहीं करते थे। हंसते भी थे तो मर्यादित ढंग से। चलते भी थे तो रईसी चाल। उनके किसी काम में उतावली नहीं थी। संयत भाव से ही सब काम करते थे।

मिश्रजी सीतापुर (अवध) जिले के सिधौली-गंधौली स्थान के निवासी थे। उनके धनी पूर्वज सन् १८५७ के सैनिक विद्रोह में लखनऊ से वहां आ बसे थे। मिश्र-बन्धुओं ने अपने 'मिश्रबन्धु-विनोद' नामक प्रसिद्ध ग्रंथ के तृतीय भाग में मिश्रजी के पूर्वजों का वृत्तान्त लिखा है। मिश्रजी अपनी वंश-परम्परागत परिपाटियों की रक्षा करते रहने में बड़े सजग रहा करते थे। पहले उन्होंने सीतापुर में वकालत भी शुरू की थी, पर साहित्य-सेवा में बाधा पड़ते देख वह एकमात्र साहित्य के ही हो रहे। उनको नौकरी करने की आवश्यकता भी न थी। घर पर काफी स्थावर सम्पत्ति थी, सुन्दर मकान और आम का कलम बाग था। लखनऊ में जब मलीहाबादी और सफेदा आमों की फसल चलती थी तब वह अपने मित्रों को भी अपने बाग के मीठे आम खाने को आमन्त्रित करते थे। उनका निवास-स्थान एक ताल्लुकेदार की रियासत का ठाट-बाट प्रदर्शित करता था। पंडित रूपनारायण पाण्डेय और श्री प्रेमचन्दजी भी वहाँ जाते थे। ये दोनों साहित्य-महारथी वहां शतरंज खेलने बैठ जाते थे तो मिश्रजी भी बैठे-बैठे बाजियों का आनन्द लेते थे।

चुस्त पाजामा और बटनदार अंगरखा, गांधी टोपी और चश्मा, घड़ी और छड़ी, मझोला कद, पान से रंगे दांत, अंगूठिया बालवाली मूंछों में डूबी मुसकान, बातों में मार्मिक सूझ, भाषा में आडम्बरशून्यता, रहन-सहन में कुलीनता की छाप, स्वभाव में मिलनसारी की मिठास, यही मिश्रजी का अत्यन्त संक्षिप्त परिचय है।

मिश्रजी अपने कान्यकुब्ज समाज की नीति-रीति का पालन करने में सदा सावधान रहते थे। भारतीय सभ्यता के बड़े हिमायती थे। आर्य-संस्कृति में उनका नैसर्गिक अनुराग था। अंग्रेजी की पूरी शिक्षा पाकर भी पाश्चात्य प्रभाव से अछूते

थे । आधुनिक युग उन पर हावी नहीं हो सका था । साहित्यानुशीलन में उन्होंने अतीत और वर्तमान तथा प्राच्य और पाश्चात्य का समन्वय कर लिया था ।

सीतापुर की हिन्दी-सभा ने मिश्रजी को एक सुन्दर अभिनन्दन-ग्रंथ समर्पित करने का निश्चय किया था । सभा के संचालक कुंवर चन्द्रप्रकाशसिंह बहुत कुछ सामग्री भी जुटा चुके थे, पर मिश्रजी के आकस्मिक निधन से वह ग्रंथ अप्रकाशित ही रह गया । मिश्रजी के समान सहृदय साहित्य-सेवी बहुत कम दिखाई देते हैं ।

५

ते हि नो दिवसा गताः !

काशी : १९२६—

लखनऊ से दंगे में भागकर शिवजी काशी होते हुए अपने गांव चले गये थे। वहां से पुनः नवंबर, १९२४ में कुछ दिनों के लिए वे लखनऊ गये, किंतु जनवरी, १९२५ में वे फिर कलकत्ता 'मतवाला'-मंडल में लौट गये। वहीं मार्च में दूसरी पत्नी से हुई एकमात्र संतान वासंती का शीतला से देहांत हो गया तथा पत्नी का स्वास्थ्य भी काफी गिर गया। कुछ इस कारण भी शिवजी का मन कलकत्ता से उचट गया और वे 'पुस्तक भंडार' के वालोपयोगी मासिक 'बालक' एवं उसकी अन्य साहित्यिक पुस्तकों को छपवाने के लिए मार्च, १९२६ में काशी चले आये तथा कालभैरव मुहल्ले की दण्डपाणि गली में एक मकान लेकर रुग्णा पत्नी के साथ रहने लगे। नवंबर १९२६ में इस दूसरी पत्नी का देहांत हो गया तथा मित्रों के दवाव पर मई, १९२८ में तीसरा विवाह हुआ। शिवजी की इस बारात में काशी की पूरी साहित्यिक मंडली गई थी। १९३० के अंत में पं० रामगोविंद त्रिवेदी के आग्रह पर सुलतान-गंज (भागलपुर) से प्रकाशित होने वाले मासिक पत्र 'गंगा' के संपादक होकर काशी से वहां चले गये और पूरे एक साल तक 'गंगा' का संपादन करने के बाद पुनः काशी लौट आये। फरवरी, १९३२ में काशी के 'पुस्तक मंदिर' से शिवजी के संपादन में 'जागरण' (साहित्यिक पाक्षिक) प्रकाशित हुआ जो जुलाई, १९३२ में प्रेमचंदजी के संपादकत्व में सरस्वती प्रेस से साप्ताहिक रूप में निकलने लगा और शिवजी पुनः 'पुस्तक भंडार' का काम करने लगे। १९३२-३३ में ही कुछ महीने

इंडियन प्रेस, प्रयाग में रहकर आपने 'द्विवेदी अभिनंदन ग्रंथ' का संपादन किया एवं १९३३ के उत्तरार्द्ध में 'बालक' के संपादक होकर लहेरिया सराय (दरभंगा) चले गये। काशी-प्रवास के लगभग आठ-नौ वर्षों में आपका संपर्क प्रेमचंदजी एवं प्रसादजी से विशेष प्रगाढ़ हुआ। काशी में उन दिनों साहित्यिकों का एक विशाल जमघट था: 'प्रसाद', प्रेमचंद, रायकृष्ण दास, लाला भगवानदीन, रत्नाकरजी, आचार्य रामचंद्र शुक्ल, बाबू श्यामसुंदर दास, आचार्य ललिताप्रसाद सुकुल, विनोदशंकर व्यास आदि हिंदी के शीर्षस्थ साहित्य-सेवियों का दैनंदिन संपर्क हुआ करता था। इसी कालावधि के संस्मरण प्रस्तुत हैं इस परिच्छेद में।

•

मृदंगाचार्य पं० भोलानाथ पाठक

मृदंगाचार्य पाठकजी के प्रथम दर्शन का सौभाग्य मुझे सन् १९२६ ई० में प्राप्त हुआ। उसी साल मैं कलकत्ता के 'मतवाला'-मंडल से काशी आया। दंडपाणि भैरव की गली में मैं रहता था। मकान के सामने ही पंडित चुन्नीलाल वैद्य रहते थे[1]। वे साहित्य और संगीत के सच्चे अनुरागी थे। गुजराती होते हुए भी हिन्दी-साहित्य के अच्छे जानकार थे। गुणियों का सत्कार करने में एक ही थे। किसी कला का जानकार उनके पास पहुंचकर निराश नहीं होता था। मंजीरा (जोड़ी) वजाने में वे अद्वितीय थे। पाठकजी में उनकी बड़ी श्रद्धा थी। पाठकजी की कला के वे सच्चे पारखी थे। दोनों कलाविद् परस्पर पड़ोसी भी थे, इसलिए पाठकजी प्रायः दिन-रात उन्हीं के यहां जमे रहते थे। कोई ऐसा गुणी काशी में न आता, जो इन दो अभिन्न मित्रों के स्वागत-सत्कार से वंचित रहता। एक बार गया-निवासी, हारमोनियम के प्रसिद्ध उस्ताद, सोनीजी पधारे। पाठकजी के घर पर जलसा हुआ। पड़ोस में रहने के कारण उस सत्संग का आनंद मुझे भी प्राप्त हुआ। मैंने देखा, इन गुणियों की संगीतज्ञता तो चूडांत थी ही, इनकी संगीत-साहित्य-मर्मज्ञता भी अपार थी। उपर्युक्त वैद्यजी और पाठकजी जब संगीत-सम्बन्धी चर्चा

---

१. इनसे पूछताछ कर मैंने काशी के दंगली लावनीवाजों और गवैयों तथा बजवैयों का विस्तृत परिचय लिखा था, पर खेद है वह लेख कहीं मिला नहीं। जहां तक याद है, वह काशी के दैनिक 'सूर्य' में छपा था।

में रस-लीन हो जाते, तब ऐसा जान पड़ता कि ये कोरे कलाविद् नहीं, संगीत-शास्त्र के मर्मज्ञ भी हैं । पंडित चुन्नीलालजी के साहित्य-संगीतानुराग से विशेप परिचित दो सुप्रतिष्ठित विद्वान् उनके निकटवर्ती पड़ोसी थे—साहित्याचार्य पंडित बटुकनाथजी शर्मा और साहित्याचार्य पंडित वलदेव उपाध्यायजी, (हिन्दू-विश्वविद्यालय के प्रोफेसर)। खेद है कि वहुत-सी ऐसी चीजें पंडित चुन्नीलालजी के साथ ही चली गईं, जो साहित्य और संगीत के प्रेमियों के लिए सर्वथा अमूल्य थीं ।

जव मैं काशी के महाशक्ति-साहित्य-मंदिर के मकान में रहने लगा, तव उसके अध्यक्ष पंडित हनुमानप्रसाद शर्मा वैद्यशास्त्री के यहां भी पाठकजी और वड़े वावू का अड्डा देखा । श्री हनुमान प्रसादजी काशी के सुप्रसिद्ध वैद्यराज पं० छन्नूलालजी के दौहित्र थे । इन्होंने आयुर्वेद-संवंधी कई अच्छी पुस्तकें स्वयं लिखीं और प्रकाशित की थीं, जिनमें 'कामकुंज' सबसे वड़ी थी और जिसकी वड़ी लंबी भूमिका डॉक्टर भगवानदासजी ने लिखी थी । इनके एक मकान में वहुत दिनों तक मैं किरायादार था। इन्हीं के अनुरोध से मैंने काशी के आचार्य-कोटि के धुरन्धर विद्वानों की जीवनियां लिखी थीं । काशी के वेदांग-महाविद्यालय में जिन महापंडितों के चित्र लगे हुए थे, उनकी जीवनियां लिखी जा चुकी थीं, किंतु पुस्तक-रूप में उनका प्रकाशन नहीं हो सका; क्योंकि वैद्यजी की असामयिक मृत्यु हो गई । वहुत दिनों तक ये रोग-शय्या पर रहे, इसलिए मैं उनसे पांडुलिपि भी न ले सका । फिर उनके निधन के वाद पांडुलिपि किसी तरह न मिल सकी ।

वैद्यजी के यहां भी दिन-रात साहित्यिक वैठकवाजी होती रहती थी । वाहर का शायद ही कोई ऐसा साहित्यसेवी आता, जो यहां तक न पहुंचता । यहीं मुझे पाठकजी की सहृदयता का पता लगा था । घंटों आपसे वातें होती थीं । आपके विनोद ठेठ वनारसी तर्ज के वड़े रसीले होते थे ।

पं० किशोरीलाल गोस्वामी

गोस्वामीजी का प्रथम दर्शन तो 'मतवाला'-मंडल (कलकत्ता) में हुआ था—सन् १९२३ ई० में, जिस साल 'मतवाला' निकला था, और गोस्वामीजी संभवतः अपने किसी शिष्य के यहां (कलकत्ता) पधारे थे, सो अचानक पहुंच गये सम्पादक को बधाई देने—'भाई ! क्या खूब निकला 'मतवाला' ! वाह ! शावास ! जीते रहो, दूध-बताशा पीते रहो ।' यही बनारसी वानी कहकर सम्पादक सेठजी की पीठ ठोकी और मुंशी नवजादिकलालजी की भी । मैं अलग वैठा प्रूफ पढ़ रहा था, सेठजी ने परिचय दे दिया—मेरी पीठ का भी भाग्य जग गया ! 'निराला' जी से मिलने के लिए उन्होंने वहुत उत्सुकता प्रकट की, पर संयोगवश वह कहीं वाहर

निकल गये थे; और उन्हें उसी दिन काशी लौट जाना था ।

'मतवाला' को शाबासी देने बड़े-बड़े साहित्यसेवी पहुंचते थे— श्रीपुरुषोत्तमदासजी टंडन, पंडित पद्मसिंहजी शर्मा, विद्यार्थी गणेशशंकरजी इत्यादि और सबका यथोचित आदर-सत्कार भी किया जाता था; किन्तु गोस्वामीजी तो 'निम्वार्क-कुल के आचार्य गोसाईंजी' थे—कहीं पान-पत्ता तक नहीं छूते थे, कैसे स्वागत-सत्कार की श्रद्धा पूरी की जाती ? उन्होंने स्वयं ही अपने गिलौरीदान से निकालकर हम तीनों को दो-दो बीड़े पान दिये—साथ ही इत्र और इलायची भी। ये चीजें उन्हें बहुत प्यारी थीं ।

दूसरी बार उनके दर्शन एवं सत्संग का सुअवसर मिला—सन् १९२३ में काशी में। काशी में देखा था कि तकिया में भी इत्र लगाते थे, जहां खिड़की के सामने छोटे गद्दे पर बैठते थे वहां की दीवार और खिड़की के किवाड़ तक में इत्र—लिहाफ की तो बात न पूछिए, मशहरी में भी इत्र ! आखिरी बुढ़ापे में यह हाल था, जवानी में राम जाने कैसे सौरभ-विलासी रहे होंगे ।

सच तो यह है कि वे कभी बूढ़े हुए ही नहीं । शरीर पर बुढ़ापे के लक्षण व्यक्त हो गये थे; पर मन में नौजवानों-जैसी उमंग भरी थी—भरी ही नहीं थी, उबलती-उफनाती रहती थी। देह जितनी ही फुर्तीली, वाणी उतनी ही रसीली । आवाज पक्की और बुलन्द, ठहाका सचमुच गगनभेदी । न बातें करने से थकते, न हंसने से । किसी हिन्दी-प्रेमी कामकाजू आदमी को भी, मिल जाने पर, जल्दी छोड़ते न थे। उनसे पिण्ड छुड़ा लेना आसान काम न था । यद्यपि उनकी बातें बड़े मजे की और बड़े पते की होती थीं—किसी-न-किसी प्रकार का साहित्यिक अथवा बनारसी चमत्कार उनमें अवश्य होता था, तथापि उनके समान सबके पास फालतू समय नहीं था । सच कहा जाय तो फालतू समय उनके पास भी नहीं था, मगर किसी साहित्यानुरागी अथवा साहित्यसेवी के मिल जाने पर कमल-कोष का मधुप बन जाते थे ।

काशी में, नन्दन साहू की गली में, उनका अपना खास मकान था—छोटा-सा, सुन्दर, सजीला, आरामदेह—एक शिष्य का दिया हुआ । ऊपरवाले कमरे की खिड़की पर सुमिरनी लिये बैठे रहते थे । मजाल नहीं कि कोई साहित्यिक व्यक्ति उनकी आंखें बचाकर निकल जाय ! 'राम झरोखे बैठकर सबका मुजरा लेय'—गली से गुजरनेवाले हरेक व्यक्ति पर उनकी पैनी निगाह पड़ती थी और किसी परिचित साहित्यिक को कन्नी दबाकर निकलते देख दूर ही से ललकारते थे—'का हो ! ऐसे भौं बचा के सरके जात हौ ?' फिर तो इस तरह उलझ जाते कि लाख जरूरी काम से कोई जाता हो, एकाध घंटा ठिठका ही लेते ।

मेरे मित्र—संस्कृत मासिक 'सुप्रभातम्' के सम्पादक पंडित केदारनाथ शर्मा सारस्वत—का मकान उनके पड़ोस में (भिखारीदास की गली में) था, जिसमें

नागरी-नाटक-मंडली के प्रसिद्ध अभिनेता पंडित मंगलीप्रसाद अवस्थी भी रहते थे, और बगल के मकान में रहते थे सेंट्रल-हिन्दू-स्कूल के अध्यापक साहित्यरसिक श्रीसांवलजी नागर। मैं प्रायः इन लोगों के पास जाया करता और जब कभी हमलोग एक साथ उनकी ओर होकर निकलते, दूर ही से बनारसी बोली में आवाज देते—'क्यों राजा ! इस तरह आंख चुराकर बुढ़वा को झांसा दोगे ?'

उनके आवाज कसने के कई निराले ढंग और लटके थे। उनकी छेड़खानियों में विशुद्ध स्नेहपरायणता और सहृदयता होती थी। पुकारकर झट नीचे उतर आते और दरवाजा खोलकर ऊपर के बैठकखाने में ले जाते—अपने हाथों पान बनाकर खिलाते, कभी-कभी अपने ही हाथों इत्र भी लगा देते, फिर साहित्यिक पंवारा शुरू हो जाता ! भारतेन्दुजी के दरबार की बातें सुनाते, जहां वह दस-बारह वर्ष के बालक के रूप में अपने नाना के साथ जाया करते थे; 'सरस्वती' पत्रिका के जन्म की कहानी सुनाते, जिसके आदि-सम्पादकों में वे भी एक थे; कभी मौज आ जाती तो अपना बस्ता खोलकर पोथा निकालते, जिसमें से अपनी सतसई के दोहों की चाशनी चखाते—समस्यापूर्तियां सुनाते—कवित्त-सवैयों को रसानुकूल स्वर में पढ़कर चित्र खड़ा कर देते। नयी-नयी चीजें भी तैयार करते रहते थे। जब जैसी तरंग आ गई, तुरन्त लिखकर रख छोड़ा। कभी संस्कृत के श्लोकों में, कभी व्रजभाषा के विविध छन्दों में, कभी खड़ीबोली के पद्यों में, कभी-कभी ललित गद्य में भी, अपने सरस उद्‌गारों और हृदयोच्छ्वासों को संचित करके रखते जाते।

हम लोग नीचे उतरकर आपस की बातचीत में कहते—'यह बूढ़ा न जाने केशवदास का अवतार है या पंडितराज जगन्नाथ का ! रसिकता इसकी नस-नस में समायी हुई है—बोटी-बोटी इसकी फड़कती रहती है।' मैं तो उनकी जिन्दादिली और उमंग-तरंग देखकर हैरान रहता। हर घड़ी बुढ़ापा के पीछे लट्ठ लिये पड़े रहते। हम जवान भी उनके हौसले देख दंग रह जाते। उनके स्फूर्तिशाली अंगों की भावभंगिमा भी देखते ही बनती थी। बोलते समय के अंगसंचालन से भी थकते न थे। हम लोग उन्हें जरा-सा छेड़ देते, बस वे सजीव ग्रामोफोन बन जाते। न जाने ईश्वर ने उन्हें लगातार बोलते रहने और लिखते जाने की कितनी शक्ति दी थी। फागुन और सावन में तो साहित्यिक होली और कजली भी गाकर सुनाने लगते थे—'यह भारतेन्दु की बनाई हुई है, अब एक 'प्रेमघन' की भी सुन लो ! अरे, अम्बिकादत्त व्यास और प्रतापनारायण मिश्र की भी एकाध सुनते जाओ।' इस तरह, ऐसा लासा लगाकर कम्पा भिड़ाते कि लाख पंख फड़फड़ाने पर भी सहसा बच निकलना कठिन हो जाता। कभी-कभी हम लोग समयाभाव-वश उनके शिकंजे से बचने के लिए उधर का रास्ता ही छोड़ देते। पर जब कभी दो-चार घंटे का निश्चिन्त अवकाश मिलता, हम लोग मनसूबा बांधकर उनसे मिलने जाते।

मगर गली के नुक्कड़ पर पहुंचते ही जान-बूझकर छिप निकलने का नाट्य करते; क्योंकि उनका, आवाज कसना सुनने का यही तरीका था।

प्रायः अपराह्न में ही वह अपनी खिड़की पर बैठते थे—संध्यावन्दन के पहले तक। पूर्वाह्न में कभी-कभी एकाध घंटे के लिए मेले-तमाशे की मौज लेने बैठ जाते थे। इसलिए प्रायः पूर्वाह्न में उधर का रास्ता खतरे से खाली रहता; क्योंकि उस समय अगर देख भी लेते तो ऊपर से ही दो-चार बातें करके छुट्टी दे देते। कारण, प्रातःकाल से मध्याह्नकाल तक स्नान-ध्यान और खान-पान का क्रम चलता रहता। श्रीमद्भागवत और भगवद्गीता का पाठ रोज करते थे। स्वयंपाकी थे, रेशमी कपड़ा पहनकर एक ही जून चौका चेतते और रात में सिर्फ दूध लेते। निम्वार्क-सम्प्रदाय में भोजन की स्वच्छता और विविधता का क्या कहना! स्वयं चावल अमनिया करते, साग-भाजी सुधारते और मगही पान को बड़े प्रेम से पोसते थे। उनसे नाना प्रकार के भोज्य पदार्थों की नामावली सुनने में बड़ा आनन्द आता था। षट्रस भोजन के उतने प्रकार निम्बार्क-सम्प्रदाय में भी कम लोग जानते होंगे, और जानते भी हों तो असंख्य नाम याद रखना सबका काम नहीं।

गोस्वामीजी तो मीठा-नमकीन के अनगिनत भेद बतलाने लगते थे। उनके गोपाललालजी को अन्नकूट के दिन क्या-क्या भोग लगता है, यह गिनाने लगते थे तो जान पड़ता था कि भोजन-विषयक कोई 'अमरकोष' घोख गये हैं। इतना ही नहीं, गोपाललालजी कितने प्रकार के खिलौने खेलते हैं, कितने प्रकार के फूलों की माला पहनते हैं, अपनी गायों और उनके बछड़ों को कैसे-कैसे सुघड़-सलोने नामों से पुकारते हैं—इत्यादि बातें भी पूरे विवरण के साथ कह जाते थे। उस वृद्धावस्था में उनकी स्मृतिशक्ति देखकर आश्चर्य होता था। उन्हें वस्तुओं के नाम गिनाते देख 'जायसी' की याद आ जाती थी। मिठाइयों, गहनों, खिलौनों और फूलों के नामों की असंख्यता तो आश्चर्यजनक थी ही, एक बार किसी नवाब साहब के साथ मुलाकात की चर्चा करते हुए घोड़ों की किस्में लक्षण-सहित गिनाने लगे तो दंग रह जाना पड़ा!

मैंने देखा कि उनके पास 'हिन्दी शब्दसागर' का एक छपा हुआ फार्म था, जिस पर आदि से अन्त तक बहुत ही घनी लिखावट में अनेक प्रकार के संशोधन और परिवर्द्धन अंकित थे—मुद्रित शब्दों के अर्थों में भी वृद्धि की गई थी और बहुत-से नये शब्द भी अर्थसहित जोड़े गये थे। वे शायद मंगलाप्रसाद पारितोषिक अथवा देव पुरस्कार के निर्णायक भी थे—ठीक याद नहीं किसके। मगर देखा कि बहुत-से ग्रंथों में जगह-जगह निशान लगाकर रखे हुए थे, जिन्हें देखते ही सहसा ध्यान में आ जाता था कि इन स्थलों में अमुक अशुद्धि अथवा भ्रान्ति है। आज मुझे बहुत ग्लानि हो रही है कि उस समय अज्ञातावश मैंने कुछ नोट नहीं लिये, अन्यथा

आज वे कितने अनमोल एवं उपयोगी होते ! उनके लिखाये हुए कुछ श्लोक और शेर मेरे पास लिखे हैं ; पर 'पुस्तकस्था विद्या' का क्या भरोसा ! बस एक ही श्लोक याद है—

'राधे त्वमधिकधन्या हरिरपि धन्यो भवतारकोऽपि
मज्जति मदनसमुद्रे तव कुचकलशावलम्बनं कुरुते'

मुझ पर उनकी अकारण कृपा थी। एक दफा जब छत से गिरने के कारण बनारस में ही मेरा दाहिना पैर टूट गया था,[1] तब मुझे देखने के लिए शहर से दूर बरुना नदी के पास, तेलियाबाग की एक फुलवाड़ी में पहुंच गये थे—यद्यपि कहीं भी आते-जाते न थे, यहां तक कि साल-भर में शायद ही कभी अपने घर से बाहर निकलते हों। फिर जब बनारस में रहते हुए ही मेरी तीसरी शादी हुई, खास तौर से बुलाकर दाम्पत्य जीवन-सम्बन्धी अनेक सरस एवं हितकर उपदेश दिये, जो मेरे वैवाहिक जीवन में सचमुच बड़े आनन्ददायक और फलप्रद सिद्ध हुए।

वे ज्योतिष के भी अच्छे ज्ञाता थे। मेरे प्रथम पुत्र के जन्म के समय मेरी पत्नी की अवस्था अत्यन्त संकटापन्न हो गई तो मैं दौड़ा हुआ उन्हीं के पास गया; क्योंकि एक मास पूर्व से ही उनके बतलाये हुए उपचार लाभ पहुंचा रहे थे। मुझे उदास देखकर भी बहुत प्रसन्न हुए और फूल की थाली में एक मंत्र लिखकर दिया कि तुरन्त ले जाकर उसे दिखा दो। ज्योंही मैं थाली लेकर नीचे गली में उतरा, पुकारकर कहा—'यह बधाई लेते जाओ', और गुलाब का एक फूल मेरे हाथ की थाली में गिरा दिया। झटपट घर पहुंचकर मैंने वैसा ही किया जैसा उन्होंने कहा था। रामबाण-सा असर हुआ। दस-पन्द्रह मिनट से ज्यादा देर न लगी। मैं फिर उनकी सेवा में पहुंचा। देखते ही ठठाकर हंसे। एक लड्डू मेरे हाथ पर रखते हुए बोले—'इसे प्रसूती को खिला देना और यह मंत्र सूतिकागृह के द्वार पर लटका देना।' इसके बाद एक दिन बच्चे को आशीर्वाद देने भी आये और जन्म का मुहूर्त्त आदि पूछकर तत्काल ही भविष्य-कथन किया, जो सच ही साबित हुआ।

मेरे जिले (शाहाबाद) के सदर शहर 'आरा' में वे अनेक वर्षों तक रह चुके थे। जेलखाने के तालाब के पास नारायणदासजी अग्रवाल के गोपाल मन्दिर में वे पुजारी थे। उनसे पहले उनके पिता भी उसी पद पर थे। संयोग की बात, उसी मन्दिर के उत्तराधिकारी बालक का शिक्षक बनकर मुझे भी डेढ़-दो साल उस मन्दिर में ही रहना पड़ा था—सम्भवतः १९०९-१० में, जब मैं हाईस्कूल का छात्र था। उसी समय सुना था कि इसी मन्दिर में रहकर गोस्वामीजी ने संस्कृत पढ़ी थी और साहित्यसेवा भी शुरू की थी। उनके एकमात्र पुत्र पंडित छबीलेलाल

---

१. यह दुर्घटना २३ नवंबर, १९२७ (बुधवार) को घटी थी।—सं०

जी गोस्वामीजी का जन्म यहीं हुआ था। आरा में उन्होंने, १८८१ में, आर्य-पुस्तकालय की स्थापना की थी, जो इस देश में हिन्दी का सबसे पहला सार्वजनिक पुस्तकालय था; क्योंकि बाबू गदाधरसिंहजी का आर्यभाषा-पुस्तकालय १८८४ में स्थापित हुआ था, पर उसका रूप सार्वजनिक नहीं था—एक प्रकार से वह घरेलू पुस्तकालय था, जो १८९३ में काशी-नागरी-प्रचारिणी सभा के स्थापित होने पर १८९६ में उसमें मिलकर ही सार्वजनिक हो सका। इस प्रकार, गोस्वामीजी का स्थापित किया हुआ आर्य-पुस्तकालय ही हिन्दी का सर्वप्रथम सार्वजनिक पुस्तकालय जान पड़ता है। कम-से-कम बिहार में वह पहला ही सार्वजनिक हिन्दी-पुस्तकालय था।

जो हो, बिहार में बहुत दिनों तक रहने के कारण—विशेषतः भोजपुरी-क्षेत्र के केन्द्र में—वे भोजपुरी बोली से खूब परिचित थे। कभी-कभी मेरे साथ उसी बोली में धड़ल्ले से बातें करने लग जाते थे और कभी-कभी विनोद-वश चिढ़ाने के लिए भी बोल जाते थे। 'भोजपुर की ठगी', 'कुंवरसिंह', 'जगदीशपुर की गुप्त कथा', 'रोहतासगढ़ की रानी', 'बिहार-रहस्य' आदि उनके उपन्यासों के पढ़ने से इस बात की झलक मिल जाती है कि यहां के सामाजिक जीवन का उन्होंने कितनी गहराई से अध्ययन और निरीक्षण किया था।

पूज्य हरिऔधजी की तरह उन्होंने भी गद्य में दो तरह की शैलियां अपनायी हैं। उनकी शैली में उनकी असीम रसिकता और उनकी चहकती हुई प्रकृति बोलती है। बुढ़ापे को उनका रसीलापन खदेड़े फिरता था। पके बाल संवारे, रोली का टीका दिये, जब खिड़की पर छैला बने बैठते तब साक्षात् रसराज-से जान पड़ते थे। नाटा कद, गोरा बदन, मंद मुसकान, इठलाती चाल और छूटते ही मजाक करने की प्रवृत्ति देखकर कुछ लोग उन्हें ठीक समझ नहीं पाते थे। अपनी रचनाओं में भले ही वे बहुत बड़े रसिया दीख पड़ते हों, पर उनकी विद्वत्ता हरेक मिलनेवाले व्यक्ति पर धाक जमाने वाली थी। जिन्हें उनके सत्संग का कभी सौभाग्य प्राप्त हुआ, वे ही उनके प्रकर्ष पांडित्य का अनुमान कर सकते थे।

पूज्य पराड़करजी

पूज्य बाबूराव विष्णु पराड़करजी के प्रथम दर्शन का सौभाग्य प्राप्त हुआ था १९२४ या २५ में। जहां तक स्मरण है, लखनऊ के साम्प्रदायिक दंगे से बचकर मैं काशी आया था। मेरे साथ पंडित शान्तिप्रिय द्विवेदी भी थे। हम दोनों ही 'माधुरी' के सम्पादकीय विभाग में साथ ही काम करते थे। काशी पहुंचने पर भाई उग्रजी ने मुझे पराड़करजी की सेवा में उपस्थित किया। उन दिनों मुंशी कालिकाप्रसाद (मेरे बहनोई) भी 'आज' के सम्पादन-विभाग में काम करते थे। उनसे पराड़कर-

जी ने मेरा बयान लिखने को कहा, मेरे प्राण-संकट का वृत्तान्त सुनकर बड़ी सहानुभूति भी दिखाई। कुछ ऐसा स्मरण होता है कि मुझसे कुछ आंखों-देखा वर्णन लिखवाकर छापा भी था।

विहार के 'पुस्तक-भंडार' की साहित्यिक पुस्तकमालाओं को सम्पादित करके छपवाने के लिए सन् १९२६ या २७ में मैं काशी में रहने लगा था। अधिकतर पुस्तकें ज्ञानमण्डल प्रेस में ही छपती थीं। पराड़करजी के छोटे भाई पंडित माधवरावजी प्रेस के मैनेजर थे। मैं वरावर प्रेस में जाया करता था। प्रायः पराड़करजी के घर पर भी जाना पड़ता था। उन्हीं दिनों उनके निकट सम्पर्क का सुअवसर मिला। किन्तु वे वहुत कम बोलते थे। वातचीत भी वहुत कम करते थे। काम की वात कहकर मौन हो जाते थे। उनका सारा समय स्वाध्याय में ही लगता था। दो-चार वातें कहकर अध्ययन-मनन में लीन हो जाते थे। फिर उन्हें छेड़ने की हिम्मत नहीं होती थी। उनके पास कभी फालतू समय था ही नहीं।

प्रथम दर्शन के समय जब भाई उग्रजी ने उनको मेरा परिचय दिया, तब उन्होंने हंसकर पूछा था—'तुम तो शान्त स्वभाव के मालूम होते हो, 'मतवाला' के योग्य लेख कैसे लिख लेते थे?' जैसे पहाड़ के सामने जाते ही ऊंट अपनी ऊंचाई भूल जाता है, वैसे ही मैं सकुचाकर रह गया—कुछ उत्तर देते न वना। तव भी उन्होंने सलाह दी कि पंडित वालकृष्ण भट्ट, पंडित प्रतापनारायण मिश्र, वाबू बालमुकुन्द गुप्त आदि की रचनाएं पढ़ जाओ।

मैं दण्डपाणि भैरव की गली में रहता था। मेरी दूसरी पत्नी मृत्यु शय्या पर थी। मैं पीयूषपाणि वैद्यराज पं० त्र्यम्वक शास्त्री से दवा कराना चाहता था। छोटे पराड़करजी कभी-कभी प्रेस जाते समय मेरे घर पर आ जाते थे—प्रूफ लेने के लिए। उन्होंने मुझे दुःखी और व्यग्र देखकर बड़े पराड़करजी से कह दिया कि संकोच के मारे शिवजी आपसे नहीं कहते—उनको शास्त्रीजी के नाम एक सिफारिशी चिट्ठी चाहिए। दूसरे दिन मैं प्रेस में गया तो पराड़करजी ने मुझे पास बुलाकर हाल पूछा और झिड़का भी कि तुम संकोचवश वेचारी की जान से खिलवाड़ कर रहे हो। झट एक पत्र लिखकर दे दिया। शास्त्रीजी के पास गया तो पत्र देखकर उन्होंने कहा कि पराड़करजी की चिट्ठी लाये हो तो तुमसे फीस या दवा का दाम नहीं लूंगा। पराड़करजी ने आधी फीस और दवा की आधी कीमत लेने के लिए लिखा था। शास्त्रीजी जव रोगियों को देखने निकलते थे, तव मेरे घर भी आ जाते थे। 'आज'-कार्यालय जाते-आते समय दो-तीन वार स्वयं भी हाल-चाल पराड़करजी पूछने आये थे। उस समय चमरगलिया में उनका मकान था।

शास्त्रीजी की दवा से पत्नी अच्छी हो चली। तव उसके पिता उसे बक्सर

(बिहार) में गंगातट पर रखने के लिए ले गये। वहां चरित्र-वन के एक मठ में उसका देहान्त हो गया। मैं ज्ञानमण्डल में बैठा प्रूफ शोध रहा था कि तार आ गया। छोटे पराड़करजी मुझे अधीर देख उनके पास ले गये। उन्होंने अपना दृष्टान्त देकर तोष-बोध दिया। फिर 'आज' में समवेदना भी प्रकट की। साधारणजन से इतनी सहानुभूति, छुटभैयों पर इतना स्नेह कौन रखता है ?

शोकोद्वेग से मेरा स्वास्थ्य कुछ लच गया। मैं क्वीन्स कॉलेज के पास तेलियाबाग के एक बगीचे में स्वास्थ्य सुधारने गया। गृह-प्रवेश करते ही छत से अचानक गिर गया। दाहिने पैर की हड्डी टूट गयी। पराड़करजी दोनों भाई मुझे देखने पधारे। महीनों बाद चंगा होने पर जब उनका चरण-स्पर्श करने गया, तब सिर पर हाथ फेरते हुए बोले—'दुर्घटना से बचा हुआ मनुष्य दीर्घायु होता है, तुमसे ईश्वर को अभी कुछ काम लेना है।' मैं हाथ जोड़े आशीर्वाद सुनता रहा।

मैं फिर शहर में आकर काल-भैरव के पास, भुतही इमली की गली में रहने लगा। मेरे मकान के सामने से रोज पराड़करजी प्रेस आते-जाते गुजरते थे। संयोगवश एक दिन दरवाजे पर मुझे देखा। मेरे दोनों पैरों में, घुटने से पावपीठ तक उकवथ (सरस दाद) हो गया था। कुछ क्षण ठिठककर घाव का हाल पूछा और शाम को अपने घर बुलाया। उनके किसी कुटुम्बी या सम्बन्धी को कभी यह रोग हुआ था। मैं गया तो उस व्यक्ति के अनुभव सुनाने लगे। उस व्यक्ति का रोग जिस दवा से छूटा था, वह उनको याद थी (पर मुझे याद नहीं रही !)। उन्होंने नुस्खा लिखवा दिया। यह भी बतलाया कि प्रतिदिन शुद्धता से सूर्य-नमस्कार करना होगा और रविवार को नमक छोड़ना पड़ेगा। तब से रविवार को अलोना भोजन करता रहा और फिर वह रोग मुझे नहीं हुआ।

श्रद्धेय श्रीलक्ष्मणनारायण गर्देजी जब कलकत्ता से काशी आये, तब लक्ष्मीनारायण प्रेस से 'श्रीकृष्ण-सन्देश' फिर निकाला[1]। उस समय श्रीगणपति कृष्ण गुर्जरजी प्रेस के मैनेजर थे। उन्होंने 'मतवाला'-शैली के व्यंग्य-विनोद लिखने के लिए बड़ा आग्रह किया। गर्देजी ने भी आदेश दिया। मैं प्रायः लिखने लगा। कुछ दिनों बाद जब वह पत्र बन्द हो गया, तब एक दिन पराड़करजी के घर पर गुर्जरजी अकस्मात् मिल गये। उन्होंने हंसते-हंसते वह भेद खोल दिया।

---

१. पहले यह पत्र गर्देजी के संपादन में प्रसिद्ध औषध-व्यवसायी डॉ० एस० के० बर्मन की ओर से कलकत्ता से ही निकला था। उनका स्वरूप-चित्र—

'मंझोला कद, गौर वर्ण, चन्दन या रोली का तिलक, किश्तीनुमा काली टोपी, मराठी बगलबन्दी और चादर तथा मराठी चप्पल···दूध-जलेबी ओर मगही पान के बनारसी बीड़े खाने के बड़े शौकीन।'

पराड़करजी ने छूटते ही उनसे कहा—'तुम पत्रकार नहीं हो, इसलिए यह रहस्य पचा नहीं सके, सम्पादक अपने गुमनाम लेखक का पता कभी नहीं देता; कुशल है कि पत्र बन्द हो चुका है।'

काशी के प्रसिद्ध साहित्य-सेवी पंडित विनोदशंकर व्यास ने मेरे सम्पादकत्व में साहित्यिक पाक्षिक 'जागरण' निकाला था। मैं आशीर्वाद के लिए पराड़करजी के पास गया। प्रोत्साहन हेतु 'आज' में टिप्पणी लिखने के लिए भी निवेदन किया। उन्होंने बड़ी मिठास के साथ समझाया—'आज' में पत्र-परिचय छप सकता है, पर टिप्पणी लिखने की बात दो वर्ष की गतिविधि देख लेने के बाद ही सोचूंगा।' मैं सहम गया। मुझे कदराया देख उन्होंने ढाढ़स बंधाया—'दूसरों के प्रोत्साहन का आसरा छोड़कर अपने परिश्रम का भरोसा करो। जो सम्पादक अपने पत्र के लिए सम्मति मांगता फिरता है, उसको लेख की भीख भी नहीं मिलती और जो अपने बल-बूते पर लगन से पत्र को उपयोगी बनाता है, उसके पास अनायास लेख पहुंचते रहते हैं।'

मेरी तीसरी शादी की बात चलने लगी। छोटे पराड़करजी से उनको भनक मिली। मेरी आनाकानी का भी उन्हें पता लगा। संयोगवश एक दिन प्रेस से लौटती बार भेंट हो गयी। बातचीत करते अपने घर ले गये। कहने लगे—'अगर तुम्हारे मन में विवाह की वासना है, तो दम्भ मत करो; कोई सन्तान नहीं है और चालीसा नहीं लगा है, तो सयानी लड़की से ब्याह करो, ब्याह की उम्र रहते जबरदस्ती अपनी वासना को दबाना और कमजोरी छिपाना खतरनाक है, वैराग्य हार्दिक होना चाहिए।'

ब्याह के बाद जब उन्हें भोज का निमन्त्रण देने गया तब उन्होंने हंसकर कहा—'प्रौढ़ के विवाह का भोज तृप्तिकर नहीं होता, पुत्र-जन्म का जेवनार ही रुचिकर होता है।' मैं लज्जित तो हुआ, पर उनके विनोद को आशीर्वाद ही माना। सचमुच साल के भीतर ही उनका आशीर्वाद सफल हुआ। तब उन्हें सादर पधराकर मुंह मीठा कराया।

बिहार में जो प्रलयकारी भूकम्प सन् १९३४ में हुआ था, उसमें काशी भी डोली थी। मैं उस समय लहेरियासराय (दरभंगा) में था। किन्तु मेरा परिवार काशी में था। विश्वनाथजी की कृपा से मेरी पत्नी और मेरे छोटे बच्चे सकुशल रहे। पर मैं उनके लिए बहुत चिन्तित था। बिहार की बरबादी सुनकर मेरी पत्नी ने मेरे नौकर को पराड़करजी के पास भेजा। उन्होंने नारी-हृदय की व्यग्रता का अनुमान करके अपने छोटे भाई माधवरावजी को मेरे घर पर सान्त्वना देने के लिए भेजा। इतना ही नहीं, पचीस रुपये भी भेज दिये और मेरी कुशलता का संवाद भी भेज दिया।

जब एक सप्ताह बाद मैं किसी तरह काशी पहुंचा तब देखा कि पराड़करजी का एक पुर्जा आया था, जिसमें मेरे सुरक्षित होने का आश्वासन दिया गया था। उस समय रेल-तार के नष्ट हो जाने से उत्तर बिहार का कोई निश्चित समाचार नहीं मिलता था। फिर भी उन्होंने अनजाने ही अन्दाज से वैसा लिख दिया था। उस पुर्जे ने मेरी अधीर पत्नी की प्राण-रक्षा की, नहीं तो घबराहट के मारे कोई दुर्घटना हो जाती। जब मैंने उनके पास जाकर चरण-स्पर्श किया, तब हंसकर कहने लगे कि 'हमने जान-बूझकर तुम्हारी सुरक्षा की सूचना दे दी थी, हमें आशा थी कि हमारा अनुमान ठीक निकलेगा। हम धैर्य छोड़कर तुम्हारे परिवार को हताश कर देते, तो अनर्थ हो सकता था।'

उनका धैर्य तो अटल था ही, उनकी सूझ भी बड़ी अनोखी रही। मेरे विषय में कुछ न जानते हुए भी उन्होंने एक अनाथ परिवार को ढाढ़स देने के लिए अनिश्चित बात को निश्चित रूप में लिख दिया। उसका मनोवैज्ञानिक प्रभाव हुआ। मेरे लौटने में देर होने पर भी उन्होंने मेरे घर में कोई आशंका न पैदा होने दी। कितना दृढ़ उनका आत्मविश्वास था!

१९५४ में जब मेरे बड़े लड़के का ब्याह काशी में हुआ, तो मेरा निमंत्रण पाकर वे बारात में भी आये। उनका शरीर सर्वथा शिथिल था, आंखों की ज्योति बहुत मंद हो गयी थी, सहारा देने पर ही चल सकते थे। फिर भी उन्होंने हिन्दी के नाते मुझे बड़ाई दी। जब दूल्हे ने उनका चरण-स्पर्श किया और मैंने याद दिलाया कि यह वही लड़का है, जिसके जन्म में आपने मिठाई खायी थी, तब हंसकर बोले कि ऐसे ही नव-विवाह की मिठाई स्वादिष्ट होती है।

वास्तव में उन्होंने मिठाइयों से भरी तश्तरी पर भरपूर कृपा की। जनवासे से कन्यागृह तक मेरे साथ रिक्शा पर गये। कुछ दूर पतली गली में पैदल भी चलना पड़ा। दूसरों के कंधे पर हाथ रखकर चले। मैंने जब कहा कि आपको बहुत क्लेश पहुंचा रहा हूं, तो बोले कि मुझे तो सुख का ही अनुभव हो रहा है। भला उनकी सहृदयता की महिमा कौन बखानेगा?

जनवासे में एक बात उन्होंने मार्मिक वेदना के साथ कही थी। वही उनकी अंतिम वाणी थी इन कानों में। बोले—'देखो जी, काशी के महाराष्ट्र-समाज में एक ही व्यक्ति मुझसे उम्र में बड़ा है। ज्योतिषी ने मुझसे कहा था कि आप दीर्घजीवी होंगे। यह दीर्घ जीवन मेरे लिए अभिशाप बन गया। मुझसे सब छोटे तो आगे चले गये और मैं स्थाणु बन गया हूं। प्रियजनों का वियोग सहने के लिए ही मैं दीर्घायु पैदा हुआ!'

पं० विनोदशंकर व्यास

मैं हिन्दी-पुस्तक-भंडार (लहेरियासराय, दरभंगा) के साहित्यिक प्रकाशन-विभाग की ओर से काशी में रह रहा था। एक दिन मकान के तीसरे तल्ले की खिड़की पर बैठा था। नीचे से किसी ने पुकारा—शिवपूजनजी हैं?' देखा—नीचे गली में एक गोरा-गोरा-सा खूबसूरत सफेदपोश नौजवान खड़ा है, जिसकी विहंसी हुई वड़ी-बड़ी आंखें ऊपर की ओर, मेरी तरफ देख रही थीं। लम्बे-लम्बे बाल नयी धज से संवारे हुए थे। सलोना-सा मुखड़ा, पतले-पतले होंठों पर पान की सुर्खी। मोती-से चमकीले दांत, मूंछें घुटी हुईं, हाथ में पतली-सी नफीस छड़ी, पैरों में आवदार पम्प-शू, चुनी धोती, चुना कुर्त्ता—वड़ी वांकी फवन थी! किन्तु उस छैल-छवीलेपन में भी साहित्यिक छटा थी। फिर सोचा—इस अपरिचित चेहरे में इतना आकर्षण क्यों है! खैर, बुलाया, बैठाया, आरम्भिक शिष्टाचार सम्पन्न हुआ। आते ही ऐसे मिले, मानो वरसों की घनिष्ठता है। मैं अवाक् था। मन में सोचता था—ईश्वर ने जैसी अलवेली सूरत दी है, वैसी ही खुलासा तवीयत भी। वार-वार मेरी ओर देखकर मुसकराते, पर कहते कुछ नहीं। ऐसी प्रसन्न आत्मा—उस समय तक—मैंने दो-चार ही देखी थी। मालूम होता था जैसे आभ्यन्तरिक आनन्दानुभूति आंखों की खिड़की से झांक रही है। चेहरे पर वेफिक्री की रोशनी थी, वातों में वेतकल्लुफी और रोम-रोम में उछलता हुआ आन्तरिक आनन्दोल्लास!

स्पष्ट परिचय के वाद मुझे यह जानकर बड़ा सन्तोष हुआ कि यही हैं पंडित विनोदशंकर व्यास, जिनकी कहानियां मैं 'इन्दु' और 'गल्प-माला' में पढ़ा करता था। वाह! छोटे-छोटे भावपूर्ण वाक्यों में कैसी मर्मभेदी कहानियां लिखते हैं, मानो गठीले वदनवाले भोटिया-जवानों की सजीली कतार खड़ी कर देते हैं।

मैं अनायास कह उठा—'व्यासजी, आपकी कहानियों में मनोवैज्ञानिकता और स्वाभाविकता एक खास सिफ्त होती है। भाषा और भाव पर आपकी निजी छाप पड़ी होती है।' व्यासजी वहुत सकुचाये। कुछ वोले नहीं। मैंने भ्रमवश पूछा—'आप शायद स्वर्गीय साहित्याचार्य पं० अम्बिकादत्त व्यास के वंशधर हैं?' कुछ देर थमकर हंसते हुए वोले—'मैं भारतेन्दु-सहचर स्वर्गीय पं० रामशंकर व्यास का पौत्र हूं।' वही रामशंकर व्यास, जो भारतेन्दुजी के अंतरंग मित्रों में थे और जिन्होंने कई साल तक 'कविवचन-सुधा' और 'आर्य-मित्र' का सम्पादन किया था। बावू हरिश्चन्द्र को 'भारतेन्दु' की पदवी देने का पहले-पहल इन्हीं ने प्रस्ताव किया था। इनकी 'बात की करामात' जिसने पढ़ी है, वह कभी इन्हें भूल ही नहीं सकता।

व्यासजी के पिता पं० कालीशंकर व्यास भी हिन्दी के लेखक और कवि थे।

इन्होंने पं० अम्बिकादत्त व्यास के 'पीयूष-प्रवाह' को दुबारा नये रंग-ढंग से निकाला था; किन्तु पचीस-छब्बीस वर्ष की अवस्था में ही स्वर्गवासी हो जाने के कारण ये अपनी प्रतिभा का विशेष चमत्कार न दिखा सके। 'सरस्वती' आदि में ये प्राय: लिखा करते थे। इनकी मृत्यु के समय व्यासजी केवल तीन-चार-वर्ष के थे—जिनका जन्म २० अक्टूबर, १६०३ को हुआ था और उनके पिता पं० कालीशंकरजी ८ मई, १६०७ को स्वर्गवासी हुए थे।

असल में पंडित रामशंकर व्यास के कोई सन्तान न थी। पं० कालीशंकरजी उनके सगे चचेरे भाई पं० देवीप्रसादजी के पुत्र थे। किन्तु कालीशंकरजी को ही रामशंकरजी पुत्रवत् मानते थे—और उनकी असामयिक मृत्यु के वाद उन्हीं की औलाद को अपनी करके मानते थे, और ऐसा मानते थे कि शायद ही कोई अपनी औलाद को वैसा मानेगा। परन्तु विश्वनाथजी की ऐसी मर्जी कि यह व्यासजी जिस समय बारह-तेरह वर्ष के थे, रामशंकरजी भी चल बसे। आखिर उनकी वृद्धा एवं विदुषी पत्नी ने इनके पालन-पोषण एवं शिक्षण का भार ग्रहण किया।

स्कूली कोर्स की किताबों में खोपड़ी खपाने की प्रवृत्ति व्यासजी में लड़कपन से ही न थी। इसलिए स्कूल और युनिवर्सिटी के सर्टिफिकेट को इन्होंने ताश और गुड्डी से अधिक महत्त्व नहीं दिया। यद्यपि वे स्कूल में भी बड़े होनहार छात्र थे और उनकी प्रतिभा यहां भी बारूद ही बनी रही; पर खा-पीकर ठीक समय पर स्कूल जाना और निश्चित समय पर घर आना उनके स्वतंत्र स्वभाव के सर्वथा विपरीत था। वे कुछ ऐसे उद्दण्ड भी न थे कि घरेलू शासन न मानें, पर सैलानी तबीयत जरूर थी—क्रिकेट के मैदान में जितना जी लगता, उतना पढ़ाई के क्लास में नहीं—हारमोनियम और वंशी के साथ चित्त जितना एकाग्र होता, उतना कुत्ते-बिल्ली की कहानियोंवाली पुस्तकों के साथ नहीं। जिस समय उनके टोले-मुहल्ले के सहपाठी किताब लेकर घोखने बैठते, उस समय वे हारमोनियम पर उंगलियों को नचाने में निमग्न रहते। जब उनके संगी-साथी कहीं लेक्चर और मीटिंग में जाकर स्कूली नोटिस की पाबन्दी पूरी करते, तब वे वंशी लेकर गंगा के उस पार वालू की चिकनी रेत पर एकान्त में मौजें लेने चले जाते। हारमोनियम और वंशी—यही दो उनकी चिरसंगिनी थीं। इन्हीं को लेकर सावन में बगीचे की बहार लूटते, इन्हीं के साथ चांदनी में किश्ती पर गंगा की हिलोरों के साथ डोलते, इन्हीं के संग मान-मन्दिरघाट के अपने गंगातटवाले ऊंचे मकान की ऊपरी छत पर हवा को गुंजाया करते। भला कहां ऐसा एकान्तप्रिय संगीतमय जीवन और कहां वह स्कूल का बीहड़ तोता-रटन्त !

इस स्वच्छन्द जीवन का परिणाम क्या हुआ? वंशानुगत संस्कृति ने जोर मारा, व्यासजी हिन्दी-साहित्य की ओर झुके, और सहारा मिला बाबू जयशंकर

'प्रसाद' जी का, जो हिन्दी-संसार के प्रथितयशा कहानी-लेखक, स्वनामधन्य नाटककार और सुकवि हुए। व्यासजी के साहित्यिक जीवन पर उनकी मृदु-मधुर साहित्यिकता की छाप खूब पड़ी। यही कारण है कि व्यासजी उन्हें अपना पथ-प्रदर्शक मानते रहे। उनके सत्संग से व्यासजो ने जो अमूल्य धन पाया, वह इनके जीवन की एक निधि रही। यहीं यह दोहा याद आता है—

पारस मो अरु सन्त मो, बड़ो अन्तरो जान।
यह लोहा कंचन करै, करै सो आपु समान ॥

महाकवि जयशंकर 'प्रसाद'

बनारस चौक की कोतवाली के पीछे मस्जिद के सामने नरियरी बाजार में
'प्रसाद'जी की लगभग सवा सौ वर्ष की पुश्तैनी दुकान जर्दा-सुरती की है। उनके
सामने के तख्ते पर सफेदा विछवाकर वह प्रायः नित्य संध्योपरान्त रात्रि में बैठते
थे। उसी पर एक कोने में पानवाला भी अपनी चंगेली लिये बैठता था। उसके
बीड़े और दुकान के जाफरानी जर्दे का दौर लगभग दस-ग्यारह बजे रात तक चलता
रहता था। हिन्दी-साहित्य के बड़े-बड़े धुरन्धर महारथी वहीं आकर उनसे काव्य-
शास्त्र-विनोदेन समय-यापन करते थे। हिन्दी-संसार के सुप्रसिद्ध कलाविद्
रायकृष्ण दासजी, श्री प्रेमचन्द, महाकवि रत्नाकर, प्राध्यापक लाला भगवानदीन,
आचार्य रामचन्द्र शुक्ल आदि महानुभाव वहां प्रायः आसन ग्रहण करके साहित्य
की शास्त्रीय समस्याओं पर विचार-विमर्श और भाव-विनिमय करते थे। रायसाहव
प्राचीन भारतीय शिल्पकला और मूर्तिकला पर, लाला भगवानदीन शब्दों की
व्युत्पत्ति और निरुक्ति पर, रत्नाकरजी ब्रजभाषा-साहित्य की बारीकियों पर,
आचार्य शुक्लजी संस्कृत-साहित्य की विविध प्रवृत्तियों पर तथा प्रेमचन्दजी कथा-
साहित्य के मनोवैज्ञानिक पक्ष पर जब बातें करने लगते थे तब 'प्रसाद'जी की
सरस्वती का मुखर होना देखकर चकित रह जाना पड़ता था।

वैदिक ऋचाएं और उपनिषदों के लच्छेदार वाक्य तो उन्हें कण्ठस्थ थे ही,
संस्कृत-महाकवियों ने किस शब्द का कहां किस अर्थ में कैसा चमत्कारपूर्ण प्रयोग
किया है, इसको भी वह सोदाहरण उपस्थित करते चलते थे। शालिहोत्र और
आयुर्वेद-शास्त्रों के महत्त्वपूर्ण प्रकरणों पर उनके प्रवचन सुनने से उनके विस्तृत
ज्ञान पर आश्चर्य होता था। हाथी, घोड़ा, गाय आदि के लक्षणों की परख और
उनके स्वामियों पर उनके शुभाशुभ लक्षणों के अनिवार्य प्रभाव का वर्णन उनसे
सुनने पर एक अत्यन्त रोचक और विस्मयकारी प्रसंग उपस्थित हो जाता था।
इसी प्रकार हीरा, मोती, मूंगा आदि रत्नों के गुण-दोषों के प्रभाव का वर्णन भी
शास्त्रीय प्रमाणों के साथ करते थे। एतद्विषयक ग्रन्थों के मौखिक उद्धरण सुनकर

उनकी स्मरण-शक्ति की प्रखरता पर बड़ा कुतूहल होता था।

'प्रसाद'जी हलवाई-वैश्य थे। अपने हाथों बहुत ही स्वादिष्ट भोजन बनाते थे। भोज आदि में यदि एक सौ अतिथियों को भोजन कराना है तो बादाम और पिस्ते की बर्फी बनवाने में कितना मेवा और मावा लगेगा, कितनी चीनी और केसर-इलायची पड़ेगी, इसका चिट्ठा भी तैयार करा देते थे और जबानी ही बोलकर लिखवाते थे। इसी तरह और-और मिठाइयों के सामान की मिकदार बतला देते थे। भोटानी सौदागर जब शिलाजीत, पहाड़ी शहद, कस्तूरी आदि बेचने आते थे तब उनकी चीजों की परीक्षा करने में अद्भुत कौशल का परिचय देते थे। भंग-बूटी तो स्वयं बहुत अच्छी बनाते और मित्रों को पिलाते थे। अपने घरेलू व्यवसाय के लिए जर्दा, किमाम, इत्र आदि भी अपनी देख-रेख में बनवाते थे। अधिकतर देशी रजवाड़े और जमींदार रईस ही उनके बंधे ग्राहक थे। किमाम और इत्र के तैयार होने पर छोटी-सी शीशी में अन्तरंगी मित्रों को प्रेमोपहार भी दिया करते थे। जाड़े में जो मुश्क अम्बर (कस्तूरी का इत्र) बनाते थे वह लिहाफ में लगने पर पूस-माघ के जाड़े में भी पसीना पैदा करके अपना कमाल दिखाता था। उत्तम श्रेणी का किमाम भी वैसा ही जौहर दिखाता था। बीड़े पर सींक से उसकी लकीर खींच देने से जाड़े की रात में भी ललाट पर पसीना आ जाता था और गरम पोशाक उतार देनी पड़ती थी। काष्ठोधियों और जड़ी-बूटियों के गुणों को बखानते समय वैद्यक ग्रन्थों के श्लोक कहने लगते थे तो वैद्यराज ही प्रतीत होते थे।

बनारस के पुराने रईसों, पंडितों, नर्तकों, लावनीबाजों, गुण्डों, गायिकाओं और फक्कड़ों की बहुत-सी अद्भुत कहानियां सुनाया करते थे, जो मनोरंजक होने के साथ-साथ शिक्षाप्रद भी होती थीं और जिनसे पता चलता था कि उस अतीत युग के गुणी और कलावन्त कितने उदार तथा निष्ठावान होते थे। रईसों की गरीबनिवाजी, पंडितों का स्वाभिमान, नर्तकों की नृत्य-निपुणता, लावनीबाजों की रचना-चातुरी, गुण्डों का निर्बलों की सहायता में सहयोग, गायिकाओं का मर्यादा-पालन और फक्कड़ों की गरीबपरवरी उनसे सुनकर उस युग का दृश्य मनश्चक्षुओं के सामने आ जाता था। मासिक 'हंस' का जो 'काशी-अंक' निकला था उसमें उनके लिखवाये हुए कई ऐसे लेख छपे थे। उनके अभिन्न मित्रों में भारत कला-भवन के जन्मदाता श्री रायकृष्ण दासजी के पास भी पुराने संस्मरणों का खजाना था, परन्तु रायसाहब से लेकर उसे साहित्य-भंडार में संचित करने वाला कोई नहीं।

मैं जब 'हिमालय' का सम्पादक था तब मैंने रायसाहब से 'प्रसाद' जी के सम्बन्ध में संस्मरणात्मक लेखमाला लिखवायी थी, पर सम्पादन-कार्य से मेरे विरत होने के बाद यह लेखमाला अधूरी रह गयी। 'प्रसाद'-सम्बन्धी संस्मरण लिखने के

एकमात्र अधिकारी रायसाहब ही थे। हिन्दी-संसार को उनसे यह साहित्यिक धरोहर ले लेनी चाहिए थी।

'प्रसाद' जी अपनी जवानी में कुश्ती भी लड़ चुके थे। उनका कसरती शरीर बड़ा गठीला था। उन्होंने मल्ल-विद्या का भी अध्ययन किया था। पहलवानों के अजीब किस्से तो सुनाते ही थे, दांव-पेंच के बहुतेरे नाम भी उन्हें याद थे। कई व्यापार-क्षेत्रों के दलालों की बोली में कैसे-कैसे विचित्र अर्थबोधक शब्द हैं और उनका रूप कितनी सावधानी से गढ़ा गया है, यह भी वह बतलाते थे। सुनारों और मल्लाहों की बोली के रहस्य भी वह जानते थे। खेद है कि उस समय उनकी बातचीत का महत्त्व ध्यान में नहीं आया। विशिष्ट व्यक्तियों के जीवन की दिनचर्या लिखते चलने का काम साहित्य की समृद्धि के लिए किया जाना चाहिए। यदि 'प्रसाद'जी की बातें उस समय टांक ली गयी होतीं तो आज वे साहित्य की अमूल्य सम्पत्ति समझी जातीं। किन्तु उनके जीवनकाल में ही उनका उत्कर्ष बहुतों को असह्य हो गया था। उनकी रचनाओं की कटु-से-कटु आलोचना होती रही, पर उन्होंने कभी उस पर ध्यान न दिया। वह स्वान्तःसुखाय लिखते थे, अर्थ या यश की कामना से नहीं।

इस निर्मम संसार ने जीते-जी न प्रेमचन्द को परखा, न 'प्रसाद' को और न 'निराला' को ही। जब ये संसार से चले गये तब इनके गुणगान के साथ यह भी अनुभूत होने लगा कि साहित्य-क्षेत्र में ये अमोघ मेधाशक्ति लेकर आये थे। 'प्रसाद'जी की जो अवज्ञा और उपेक्षा हुई वह किसी से छिपी नहीं है। पर हिन्दी को 'प्रसाद'जी कविता, कहानी, उपन्यास, नाटक, निबन्ध आदि के रूप में जो निधि दे गए उसका मूल्यांकन करके आज गौरव का अनुभव किया जा रहा है। जगत् की यही परम्परागत रीति जान पड़ती है कि वह युग की विभूति को उसके विलीन हो जाने के बाद ही पहचानता है।

'प्रसाद'जी कभी किसी कवि-सम्मेलन में नहीं जाते थे। मित्र-गोष्ठी में सस्वर कविता-पाठ करते थे। गंगा में बजड़े पर मित्र-मंडली को बड़ी उमंग से गाकर अनेक कविताएं सुनाते थे, पर सार्वजनिक सभाओं में कभी नहीं। गोरखपुर में अखिल भारतीय हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन का अधिवेशन 'प्रताप'-सम्पादक श्री गणेशशंकर विद्यार्थी के सभापतित्व में हुआ था। वहां के कवि-सम्मेलन की अध्यक्षता के लिए 'प्रसाद' जी के पास तार आया। तार में सभापति विद्यार्थीजी और राजर्षि टंडनजी के नाम अंकित थे। उसे पाते ही अन्यमनस्कता से उसको अलग रखकर बातें करने लगे। उनके परम स्नेहभाजन और हिन्दी के प्रसिद्ध कथाकार पंडित विनोदशंकर व्यास वहीं बैठे थे। व्यासजी ने उनसे बड़ा आग्रह किया कि स्वीकृति-सूचना भेजकर अवश्य गोरखपुर चलिए, हम लोग साथ चलेंगे। पर वह हंसकर बात टाल गए। किन्तु काशी-नागरी-प्रचारिणी-सभा के कोशोत्सव-

स्मारक के अवसर पर जीवन में केवल एक ही बार उनको सार्वजनिक समारोह में कविता-गान करना पड़ा था। हिन्दी शब्द-सागर के सम्पादकों का सम्मान करने का जो आयोजन हुआ था और उसके साथ जो कवि-सम्मेलन हुआ उसके अध्यक्ष थे प्रसादजी के साहित्य-गुरु महामहोपाध्याय देवीप्रसाद शुक्ल कविचक्रवर्ती। आचार्य श्यामसुन्दरजी के आग्रह पर भी जब 'प्रसाद'जी कविता-पाठ करने को तैयार न हुए तब उनके गुरु के अध्यक्ष-पद से आदेशानुसार उन्हें कविता-गान करना पड़ा। उनके ललित-मधुर कंठ-स्वर से सारी सभा मन्त्रमुग्ध हो रही। अपनी कविता गाते समय वह स्वयं भी भाव-विभोर हो जाते थे।

उस समय काशी में हिन्दी-साहित्य के धुरन्धर महारथियों का बड़ा अच्छा जमघट था। सबके साथ उनका सद्भावपूर्ण सम्बन्ध था। एक बार प्रेमचन्दजी ने अपने 'हंस' में उनके ऐतिहासिक नाटकों पर सम्पादकीय मत प्रकट करते हुए लिख दिया था कि 'प्रसाद'जी प्राचीन इतिहास के गड़े मुर्दे उखाड़ा करते हैं। किन्तु जिस समय यह मत प्रकाशित हुआ उस समय भी प्रेमचन्दजी सदा की भांति 'प्रसाद'जी के साथ बैठकर निर्विकार चित्त से साहित्यिक संलाप करते रहे। दोनों महारथियों में कभी किसी प्रकार का मनोमालिन्य अथवा वैमनस्य नहीं हुआ। उनकी तीव्र आलोचना करने वाले सज्जन भी उनके पास पहुंचकर यथोचित आदर-मान ही पाते थे। किसी के प्रति उनके मन में कोई रागद्वेष न था। उनकी अभ्यर्थना करने के लिए कई संस्थाओं से अनुरोध होते रह गए, पर वह सम्मानित होने के लिए कभी कहीं काशी के बाहर नहीं गये। एकान्त भाव से साहित्य-समाराधन में संलग्न रहकर ही सारा जीवन बिता दिया।

'प्रसाद'जी छायावाद और रहस्यवाद के युग में उत्पन्न हुए थे। खड़ी बोली हिन्दी में ही कविता करते थे। किन्तु प्राचीन ब्रजभाषा-काव्य के भी मर्मज्ञ थे। पुरानी कविताएं काफी कण्ठस्थ थीं। ब्रजभाषा-साहित्य के बड़े अनुरागी और प्रशंसक थे। काशी में होली के बाद 'बुढ़वा मंगल' का महोत्सव गंगा की मध्य धारा में हुआ करता था। चैत की चटकीली चांदनी में प्रशस्त बजड़ों पर सजीले शामियानों में नृत्य-गान का दर्शनीय आयोजन होता था। उन सुसज्जित बजड़ों के चारों ओर दर्शकों और श्रोताओं की नौकाएं रातभर डटी रहती थीं। 'प्रसाद'जी की नाव पर उनके साहित्यिक बन्धु भी संगीत का आनन्द लूटते थे। काशी की सुप्रसिद्ध गायिकाएं सूर और तुलसी के विनय-पद जब गाने लगती थीं, 'प्रसाद'जी भाव-विह्वल हो उठते थे। एक दिन काशी-नरेश के बजड़े पर विद्याधारी ने जब सूर का एक पद (अब मैं नाच्यो बहुत गोपाल) गाया तब 'प्रसाद'जी के सजल नेत्रों से अनवरत अश्रुधारा प्रवाहित हो चली।

उनके घर पर दरवाजे के सामने ही जो शिव-मन्दिर है उसमें फाल्गुनी महाशिवरात्रि को महोत्सव हुआ करता था। उनके परिवार की यह पुरानी

परम्परा थी। उसमें अधिकतर साहित्यसेवियों का ही समागम होता था। उस गान-वाद्य के समारोह में भी काशी की कोई सर्वश्रेष्ठ गायिका केवल शास्त्रीय संगीत सुनाने आती थी। नृत्य नहीं होता था, पर गेय पद शुद्ध साहित्यिक आनन्द देने वाले ही होते थे। बड़े शान्त भाव से और बड़ी शिष्टता के साथ वह उत्सव सम्पन्न होता था। इसी प्रकार अपने वंश की मर्यादा का निर्वाह वह प्रत्येक पर्व पर करते थे। श्रावणी-पूर्णिमा (रक्षावन्धन) के दिन चांदी और तांवे के सब तरह के बड़े-छोटे सिक्कों की राशि अपने आगे लेकर वैठते थे। अधिकांश ब्राह्मणों की दक्षिणा वंधी-वंधाई थी, जिन्हें पूर्ववत् अपना अंश मिल जाता था। होली, दीवाली, दशहरा—सब त्योहारों में उनके परिवार की पुरानी प्रथा का पालन विधिवत् होता था। उनका घराना काशी में वहुत प्रतिष्ठित माना जाता रहा और उससे लाभान्वित होनेवाले लोग उसे दरवार की संज्ञा देते थे। 'प्रसाद'जी को देखते ही अनेक काशी-निवासी 'हर-हर महादेव' मात्र कहकर उन्हें करवद्ध प्रणाम करते थे। यह प्रतिष्ठा वनारस में केवल काशी-नरेश को ही प्राप्त है। किन्तु बड़े राग-रंग वाले धनी घराने में पैदा होकर भी अपने निष्कलंक चरित्र के प्रभाव से ही वह इस प्रतिष्ठा के आजीवन अधिकारी बने रहे।

'प्रसाद'जी संस्कृत-साहित्य के स्वाध्याय के अतिरिक्त अंग्रेजी साहित्य के इतिहास ग्रन्थों का भी अनुशीलन करते रहते थे। नागरी-प्रचारिणी पत्रिका में उनके जो शोध-प्रधान ऐतिहासिक निवन्ध प्रकाशित हुए थे उन्हें पढ़कर स्वनामधन्य इतिहासज्ञ विद्वान् डॉक्टर काशीप्रसाद जायसवाल ने श्री रायकृष्णदास के घर पर उनका हार्दिक अभिनन्दन किया था।

'प्रसादजी' महान् साहित्यकार के अतिरिक्त और भी वहुत कुछ थे। उनकी स्मृति-शक्ति विलक्षण थी। उनमें स्वजातीय गुण भी पर्याप्त मात्रा में था। वह अनेक कलाओं के मर्मज्ञ थे। काशी की विशेषताओं के भी विशेषज्ञ थे। विभिन्न व्यवसायों की पारिभाषिक शब्दावली का भंडार उनके पास भरपूर था। वैदिक वाङ्मय और प्राचीन इतिहास में उनकी गहरी पैठ थी। संस्कृत-साहित्य के प्रमुख अंगों का अध्ययन-मनन करने में तो वह निरन्तर तत्पर रहते ही थे, कई भारतीय शास्त्रों में भी उनकी वड़ी गहन गति थी। अपने पैतृक व्यापार में वह पूरे दक्ष थे। विद्याव्यसनी ऐसे थे कि जब सारा संसार निद्रा-निमग्न हो जाता था तब उनको स्वाध्याय में तन्मय होने का अवकाश मिलता था।

रायबहादुर हीरालालजी

काशी-नागरी-प्रचारिणी सभा का वार्षिकोत्सव था[1]। उसी महोत्सव में महामना मालवीयजी द्वारा भारत-कला-भवन की आधार शिला रखी गयी थी। शिलान्यास महोत्सव के दिन महामहोपाध्याय रायबहादुर पंडित गौरीशंकर हीराचन्दजी ओझा सभापति थे। किन्तु वार्षिकोत्सव के सभापति रायबहादुर हीरालालजी थे। उस अवसर पर प्रयाग-विश्वविद्यालय के यशस्वी इतिहासाचार्य डॉक्टर रामप्रसादजी त्रिपाठी ने 'सम्राट् अकबर' पर बड़ा महत्त्वपूर्ण भाषण दिया था। हिन्दू-विश्वविद्यालय के पुरातत्त्वाचार्य श्रीराखालदास बंद्योपाध्याय ने 'मोहनजोदड़ो' की अद्भुत कहानियां सुनाकर चकित कर दिया था। विद्वद्वर श्री जयचन्द विद्यालंकारजी का भी भाषण हुआ था।

मैंने उस वार्षिकोत्सव का विस्तृत विवरण 'मतवाला' (कलकत्ता) में लिख भेजा था, जो 'मतवाला' के दो-तीन अंकों में छपा था। पर रहता था मैं काशी में ही। वार्षिकोत्सव बड़े समारोह से चार-पांच दिनों तक होता रहा। मैं उसकी सब बैठकों में शामिल हुआ और देखता रहा कि प्रधान सभापति श्री हीरालालजी कितनी शांति और गंभीरता से सभा-संचालन कर रहे हैं।

उसी अवसर पर श्रद्धेय बाबू श्यामसुन्दरदासजी को 'कोशोत्सव-स्मारक-ग्रंथ' अर्पित किया गया था। कोश (हिन्दी-शब्द सागर) के अन्य सम्पादकों को भी सुनहली घड़ी, फाउण्टेनपेन, दुशाला आदि दिया गया था। प्रधान कोश-सम्पादक बाबू साहब को जब ग्रंथ अर्पित हो चुका, तब हीरालालजी और बाबू साहब में कुछ विनोद भी हुआ, पर उस विनोद का रस दोनों अभिन्न मित्रों में ही रह गया। मैं केवल दोनों वयोवृद्ध साहित्य-सेवियों की मुसकान का ही आनन्द ले सका। जान पड़ा कि हीरालालजी की गंभीरता में विनोद प्रियता का भी पुट है। उनकी शीतल हंसी में साहित्य की मृदु सुगंध थी। उनकी वाणी की मंथर गति इस बात को सिद्ध करती थी कि वे सच्चे 'रिसर्च स्कॉलर' हैं—अपनी ही लगन में लीन रहने वाले पुरातत्त्वान्वेषी हैं।

वे अपने साथ 'फोनोग्राफ' के बहुत से 'रेकार्ड' लाये थे, जिन्हें सुनाकर उन्होंने उपस्थित सज्जनों का बड़ा मनोरंजन किया था। प्रत्येक रेकार्ड सुनाने से पहले वे उसका पूरा विवरण कह देते थे। मध्यप्रदेश की जंगली जातियों की बोलियों का अनुसंधान, संग्रह और विश्लेषण करने में उन्होंने कितना परिश्रम किया था—यह उस सभा में उपस्थित सज्जनों की विस्मय-वृद्धि का कारण बन गया। जब

---

१. यह शायद १९२८-२९ की बात है।—सं०

वे 'गोंड' जाति की स्त्रियों के गीतों का भाव समझाने लगते थे, तब मंडप में अट्टहास गूंज उठता था। पर स्वयं वे केवल मुसकराकर ही रह जाते थे।

जब मैं 'माधुरी' के संपादकीय विभाग में काम करता था तब श्रीदुलारेलालजी भार्गव के पास आये हुए उनके पत्रों को पढ़कर आश्चर्य होता था। जिस अध्ययनशील विद्वान् को अन्तर्राष्ट्रीय ख्याति प्राप्त थी, जो पुरातत्वेतिहास का मर्मज्ञ माना जाता था, वह इतना नम्र था कि आधुनिक लेखकों को उससे सबक लेना चाहिए। मुझे उनके एक पत्र का यह वाक्य याद है—'मेरे ऐसे एकांत प्रिय ग्रंथकीट से अच्छी लिखावट की आशा न कीजिएगा।' अब ऐसा कौन लिखेगा ?

जिस समय मैं इंडियन प्रेस में रहकर द्विवेदी-अभिनंदन-ग्रंथ का काम करता था, उस समय उस ग्रंथ में छपने के लिए आये हुए उनके एक लेख के विषय में उनसे पत्र-व्यवहार करने का सौभाग्य प्राप्त हुआ था। वह लेख शायद उनके क्लर्क या नकलनवीस का लिखा हुआ था। उसे पढ़ने पर मुझे कुछ भ्रम हुआ; किन्तु पत्र लिखने पर उस भ्रम का उन्होंने संशोधन कर दिया। फिर एक पत्र लिखकर पूछा कि और कोई भ्रम हो तो सूचित कीजिए अथवा बाबू श्यामसुन्दर-दासजी से शंका-समाधान कर लीजिए। उनका वह लेख 'ठाकुर जगन्मोहन सिंह' अभिनंदन-ग्रंथ में छपा।

महामना मालवीयजी

वर्तमान बीसवीं शती की दूसरी और तीसरी दशाब्दी में अपने काशी-प्रवास के समय मुझे कई बार हिन्दू विश्वविद्यालय के कला महाविद्यालय में एकादशी के दिन पूज्य मालवीयजी के गीता-प्रवचन सुनने का सौभाग्य प्राप्त हुआ था। काशी-निवासी 'सुप्रभातम्'-सम्पादक पंडित केदारनाथ शर्मा सारस्वत के साथ ही वहां जाता था। महामना जब व्यासासन पर विराजमान होते थे तब उनके तेजस्वी रूप की कांति-छटा देखते ही बनती थी। ललाट पर चंदन-तिलक, रेशमी रामनामी चादर, पुष्पहार आदि से उनका दिव्य रूप साक्षात् वेदव्यास के समान ही जान पड़ता था। एक बार उन्होंने श्रोताओं को बतलाया था कि उनके पुण्यश्लोक पिता भी बड़े अच्छे कथावाचक थे और श्रीमद्‌भागवत महापुराण के प्रसिद्ध वक्ता भी। अपने पिता के सम्बन्ध में संस्मरण सुनाते हुए उन्होंने कहा था कि पिताजी को भागवत का दशम स्कंध प्रायः समग्र कंठस्थ था और रास-पंचाध्यायीप्रकरण का सस्वर पाठ करते हुए उनका अश्रुप्रवाह रुकता न था।

महामना मालवीयजी कभी-कभी भागवत की कथा कहा करते थे। उन्हें भी अधिकांश कथा-प्रसंग के श्लोक कंठस्थ थे। पोथी देखे बिना ही वे आनन्दगद्‌गद

कंठ से श्लोक कहकर उसकी व्याख्या में धाराप्रवाह भाषण करते चले जाते थे। एक-एक श्लोक पर उनकी अमृतमयी वाणी जो चमत्कारपूर्ण प्रवचन करती थी वह कर्णपुट को तो पवित्र करती ही थी, हृदय को भी आह्लादित करके तृप्त कर देती थी। जैसे हिमालय से धरातल पर उतरकर 'वसुधाश्रृंगारहारावली' गंगा का प्रखर प्रवाह समुद्राभिमुख प्रधावित होता है, जान पड़ता था, वैसे ही उनके श्रीमुख से भक्तिरस की अखंड धारा श्रोतृवृंद में फैलकर सबको भक्ति-भावना में रसमग्न कर देती थी। वैसी ललित और सरल भगवत्कथा कहीं फिर सुनने में न आयी। बीच-बीच में सूरदास और नंददास के प्रकरणानुकूल पद भी कहते जाते थे, जिससे कथा की रोचकता और भी बढ़ जाती थी।

लीलापुरुषोत्तम भगवान श्रीकृष्णचन्द्र की बाललीला का दृश्य वर्णन करते समय उनके सजल नेत्रों में भगवद्भक्ति का रस उमड़ता दीख पड़ता था और श्रोता मंत्रमुग्ध होकर उनके भक्तिविह्वल रूप को अनिमेष नयनों से देखते रह जाते थे। उनकी भाषा और भावाभिव्यंजना में उनकी अनुभूति तथा तल्लीनता से विलक्षण माधुर्य और आकर्षण उत्पन्न हो जाता था। कभी-कभी ईश्वरानुराग की गहनता और भगवत्प्रेम की महिमा पर बोलते हुए वे अंग्रेजी, फारसी और उर्दू की कविताएं भी सुनाकर श्रोताओं को आनन्द विभोर कर देते थे। उनकी स्मृतिशक्ति कितनी प्रवल थी! उनकी भावुकता कैसी चित्ताकर्षिणी थी! उनकी वाणी की मधुरिमा का तो कहना ही क्या!

प्रवचन की एक बैठक में गीता के दो-चार श्लोकों का भाष्य करते-करते समय वीत जाता था। व्याख्यान के क्रम में आधुनिक समाज, धर्म और राजनीति के ज्वलंत प्रश्नों पर भी अपने सुचिंतित विचारों को व्यक्त किया करते थे। जिस अध्याय पर भाषण होता था उसके कुछ प्रमुख श्लोकों के अंतर्निहित भावों का मर्मोद्घाटन करके सम्पूर्ण अध्याय का वास्तविक अभिप्राय समझा देते थे और उस अध्याय में भगवान ने कौन-सा संदेश दिया है, यह भी बतला देते थे। उनका मत था कि भगवद्गीता का प्रचार घर-घर में होना चाहिए। श्रोताओं को उनका यह सत्परामर्श बराबर मिला करता था कि प्रत्येक गृहस्थ परिवार में नित्य गीता-पाठ का नियमित रूप से अभ्यास चलना अत्यावश्यक है।

महामना के प्रवचन और व्याख्यान हिन्दू-विश्वविद्यालय के अतिरिक्त विशुद्धानन्द महाविद्यालय (कलकत्ता) में, त्रिवेणी-संगम पर माघ मेले में, बनारस के टाउनहॉल में, दिल्ली की कांग्रेस में और हिन्दू-महासभा (कलकत्ता) में अनेक वार सुनने का सौभाग्य प्राप्त हुआ था। यहां केवल विश्वविद्यालय के गीता-प्रवचन से ही, अपनी स्मरण-शक्ति के आधार पर, करीव-करीव महामना के ही शब्दों में जो आज भी हृत्पटल पर अंकित हैं, कुछ बातें लिखने की चेष्टा कर रहा हूं।

भगवद्गीता कर्मयोगशास्त्र तो है ही, भक्तियोगशास्त्र भी है। भगवान श्रीकृष्ण ने द्वापर युग के अन्त के बाद ही आनेवाले कलिकाल के मनुष्यों की प्रकृति और प्रवृत्ति का ध्यान रखकर उनके उद्धार का एकमात्र उपाय भगवदाश्रय ही बतलाया है। भगवद्भक्ति में हार्दिक अनुरक्ति ही गीता की मुख्य शिक्षा है। गोस्वामी तुलसीदास ने भी गीता के भगवद्वचनों से ही प्रभावित होकर 'रामचरितमानस' में कलियुगी जीवों के निस्तार के लिए केवल ईश्वर-भक्ति पर ही विशेष वल दिया। भगवान ने अपने को उसी के लिए सुलभ वताया है जो सदा उनका स्मरण करता रहता है। इसी कारण भगवन्नाम-स्मरण पर ही गोस्वामी तुलसीदास ने सर्वापेक्षा अधिक वल दिया है। गीता के बल पर ही गोस्वामीजी ने 'विनयपत्रिका' में लिख दिया है कि जिसने अहर्निश रामनामामृत पान किया उसने तपस्या, यज्ञ, दान आदि सभी शुभकर्म कर डाले। गीता में भगवान ने भगवद्भक्त को योगी, तपस्वी, दानी आदि से भी वड़ा वतलाया है। अतः भगवत्प्राप्ति के सभी साधनों से वढ़कर भगवच्चरणारविंद में आत्मसमर्पण ही है। शारीरिक, वाचिक और मानसिक तप अथवा यज्ञादि से भगवान शीघ्र वैसे ही आकृष्ट नहीं होते जैसे अनन्य प्रेम से। भगवान ने अपने विश्वरूप-दर्शन का भी एकमात्र उपाय अनन्य भक्ति को ही घोषित किया है। यहां तक कि निर्गुण ब्रह्म भी अनन्य भक्ति से ही प्राप्तव्य है। अनन्य उपासक के योगक्षेम का सारा भार भगवान स्वयं वहन करते हैं। पापजन्मा और पापजीवी भी यदि निश्चित संकल्प के साथ भगवान की शरण में अपने आपको अर्पित कर देता है तो भगवान उसका उद्धार कर देते हैं। अतः गीतानुसार भगवद्भजन ही आत्मोद्धार का सर्वोत्तम मार्ग है।'

गीता-प्रवचन में महामना विशेषतः ईश्वर-भक्ति, ईश्वर-प्रार्थना और ईश्वरोपासना पर ही जोर देते थे। गीता का अमर संदेश यही बतलाते थे कि निष्कपट भाव से मनुष्य भगवद्भजन में दत्तचित्त हो रहे। साथ ही उनका यह भी कहना था कि भगवत्प्रीत्यर्थ कर्म करते हुए ही भजन सुमिरन होना चाहिए। जीवदया और लोकोपकार की प्रेरणा से किये हुए सभी कर्म भगवान को संतुष्ट करते हैं। अतः भक्ति और भजन के वहाने लौकिक कर्मों से उदासीन या विरक्त होना उचित नहीं। फलासक्ति को त्यागकर किये हुए लोकहितकर कार्य भगवान द्वारा अवश्य पुरस्कृत होते हैं। सच्ची निष्ठा के साथ किया गया कोई कर्म आज तक भगवान से अपुरस्कृत नहीं रहा। जो कुछ करो-धरो, भगवान को समर्पित करते चलो, यही मानव-जीवन की सार्थकता है।

मालवीयजी इस युग के महर्षि थे। उनके विना भारतीय संस्कृति आज अनाथा दीख पड़ती है। गोमाता के तो वे सचमुच 'मदनमोहन' थे। दिल्ली कांग्रेस में अध्यक्ष पद से अंतिम मौखिक भाषण करते समय स्वागताध्यक्ष हकीम

अजमलखां के कंधे पर हाथ रखकर गोरक्षा की उपेक्षा पर बिलख-बिलखकर रो पड़े। कैसा कारुणिक हृदय था उनका ! हिन्दीमाता को भी उनका अभाव बहुत खलता है। सरकारी दफ्तरों में नागरी-प्रचार के लिए उनका प्रयत्न सर्वविदित है। बम्बई में जब वे दूसरी बार अखिल भारतीय-हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन के अध्यक्ष हुए तो परम्परागत रीति के अनुसार उनके मनोनीत नाम का प्रस्ताव उपस्थित करते हुए पंडित जगन्नाथप्रसाद चतुर्वेदी ने ठीक ही कहा था कि 'मद न मोह न' अर्थात् मालवीयजी में मद या मोह नहीं है, निर्विकार महापुरुष हैं। वस्तुतः वह सौम्यमूर्ति दर्शनीय और वंदनीय थी। श्री एंड्रूज साहब ने अपने एक संस्मरण में लिखा था—'महात्मा गांधी के साथ मैं शिमला में टहल रहा था, आगे-आगे मालवीयजी और मद्रास उच्च-न्यायालय के न्यायाधीश श्रीशंकरन् नैयर चल रहे थे। मैंने महात्माजी से कहा कि आपका असहयोग आंदोलन खूब सफल हुआ। महात्माजी ने मालवीयजी की ओर छड़ी से इशारा करते हुए कहा कि जब तक इस महापुरुष पर असहयोग का रंग नहीं चढ़ता तब तक चालीस करोड़ भारतवासियों के असहयोगी हो जाने से भी मैं अपनी सफलता नहीं मानूंगा।'

काशी-नागरी-प्रचारिणी सभा में कोशोत्सव के अवसर पर भारत-कलाभवन का शिलान्यास-महोत्सव भी हुआ था। कला-भवन की नींव पूज्य मालवीयजी के यशस्वी हाथों से पड़नेवाली थी। मध्याह्न का समय निश्चित था। महोत्सव के अन्तिम दिन महामहोपाध्याय रायबहादुर पं० गौरीशंकर हीराचन्दजी ओझा अध्यक्ष थे। सब कार्यवाही समाप्त हो गयी, केवल पूज्य मालवीयजी की प्रतीक्षा थी। प्रतीक्षा में लगभग दो घंटे का समय व्यतीत हो गया। हताश होकर श्रद्धेय बाबू श्यामसुन्दरदासजी ने अध्यक्षजी से शिलारोपण के शुभ कृत्य को पूरा करने के लिए अनुरोध किया। अध्यक्षजी बार-बार यही कहते थे कि कुछ देर और बाट जोहना चाहिए। अन्त में वे भी निराश हो गये; बाबू साहब का अनुरोध-पालन करने उठे। ज्यों ही अध्यक्षजी ने मोजा निकालकर पैर धोने का उपक्रम किया, पूज्य मालवीयजी की मोटर दौड़ती हुई आ पहुंची। रेशमी धोती, ऊनी शाल, नंगे पांव, ललाट पर रोली और दधि-अक्षत का तिलक। मोटर से हंसती हुई एक मूर्ति उतरी। घोर प्रतीक्षा के उपरान्त दिव्य दर्शन बड़ा आनन्दप्रद प्रतीत हुआ। खुले बदन में दधीचि की हड्डियों को देखकर एक सज्जन कहने लगे—'इस कृश शरीर के अस्थि-पंजर में न जाने कैसी ज्योतिष्मती आत्मा बंद है !'

मालूम हुआ, राजा मोतीचन्द के यहां किसी लड़के का उपनयन-संस्कार था। उस अवसर पर आशीर्वाद देने के लिए गए थे। वहीं के कृत्य सम्पन्न करने में विलम्ब हो गया। मोटर ही से मुगलसराय जाएंगे। दिल्ली में कांग्रेस-

कार्यकारिणी की वैठक है। मोटर के आगे-पीछे विस्तर आदि के वंडल वंधे हुए थे।

भारत-कला-भवन की नींव डालने का यश उन्हीं हाथों को प्राप्त हुआ, जिन्हें हिन्दू विश्वविद्यालय के अतिरिक्त अनेक महामहिम संस्थाओं के संस्थापन का सुयश प्राप्त है। इसे भारत-कला-भवन का ही सौभाग्य कहना चाहिए।

हिन्दू विश्वविद्यालय से जिस समय साप्ताहिक 'सनातनधर्म' निकला, उस समय मैं काशी में था। लगभग दो साल से वेकार वैठा था। मेरे मित्र पंडित रामानुग्रह शर्मा व्यास[1] ने एक दिन आकर कहा कि पूज्य मालवीयजी ने तुम्हें बुलाया है। मुझे बड़ा आश्चर्य हुआ। सहसा विश्वास न हुआ। परन्तु व्यासजी पर पूज्य मालवीयजी की बड़ी कृपा रहती थी। वे अखिल भारतीय सनातनधर्म-महासभा (हिन्दू विश्वविद्यालय) के उपदेशक और कथा-वाचक थे। इसलिए उनकी बात को सत्य मानकर मैं गया। इसी व्याज से एक विश्ववंद्य महापुरुष के दर्शन करने गया। मन में बहुत सकुचाया था, पर मित्र का आग्रह टालना भी कठिन था।

पूज्य मालवीयजी ने पहला ही प्रश्न पूछा—'तुम्हारी योग्यता क्या है?' मैंने स्पष्ट निवेदन किया—'आपके समक्ष कहने योग्य कोई योग्यता मुझमें नहीं है।' अब व्यासजी कहने लगे। बहुत-कुछ कह गए। आज्ञा हुई, दूसरे दिन फिर आओ। व्यासजी के साथ पुनः गया। इस वार स्वार्थ-त्याग का उपदेश मिला। पर उसके लिए मुझमें शक्ति नहीं थी। कभी स्वार्थ-संचय किया ही नहीं, स्वार्थ-त्याग की शक्ति आये कहां से? फिर भी व्यासजी ने पीछा न छोड़ा। दो वार और साथ ले गए। इस तरह चार बार वहुत समीप से पूज्य चरणों के दर्शन सुलभ हुए। बातें जो हुईं उनसे ज्ञात हुआ कि इस महान् मस्तिष्क में कितनी बड़ी-बड़ी योजनाएं भरी हुई हैं।

आचार्य द्विवेदीजी

मैं केवल एक बार आचार्य द्विवेदीजी के आराध्य चरणों का स्पर्श कर कृत-कृत्य

---

१. व्यासजी वलिया जिले के निवासी थे। इन्होंने हिन्दी में 'कर्तव्यशास्त्र' नामक एक बड़ी पुस्तक लिखी और प्रकाशित की थी। बड़े प्रभावशाली कथावाचक थे। जहां कथा बांचते थे, वहां बड़े समारोह से यज्ञ भी करते थे। इनकी कथा में कई जगह मालवीयजी भी पधारे थे।

हुआ था—काशी की नागरी-प्रचारिणी सभा में[1]। अचानक, कुछ घंटों के लिए वे काशी आ गए थे। काशी के सहृदय कलाविद् राय कृष्णदासजी के आदेश से बड़ी शीघ्रता में एक अभिनन्दन-पत्र लिखा गया। श्री प्रवासीलालजी वर्मा के सहयोग से, प्रेमचन्दजी के 'सरस्वती प्रेस' में, दो घंटे के अन्दर ही, उसे छपवा लाया। तुरन्त वह पढ़ा गया। द्विवेदीजी तांगे पर सवार हुए। मैंने साहित्यिक ऋषि के चरण-रेणु का अमृतांजन आंखों में लगाया। फिर कभी वैसा सौभाग्य प्राप्त न हुआ। पहले तो कभी हुआ ही न था।

एक धुंधली स्मृति और है। अखिल भारतवर्षीय हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन का छठा अधिवेशन प्रयाग में हुआ था। बाबू श्यामसुन्दरदासजी सभापति थे। भारतेन्दु-सखा 'प्रेमघनजी' पधारे थे। दूर ही से एक सज्जन ने बतलाया, वहीं द्विवेदीजी भी बैठे हैं—बगलबन्दी और पंडिताऊ टोपी तथा चमरौधा पहने, साहित्यिकों के पुरोधा की तरह! वही प्रथम दर्शन एकलव्य की साधना बन गया।

आरा की नागरी-प्रचारिणी सभा में 'सरस्वती' की पुरानी और नयी प्रतियां बराबर पढ़ा करता था; मेरे साहित्यिक गुरु पंडित ईश्वरीप्रसाद शर्मा का यही आदेश था। इसलिए मन में 'सरस्वती'-सम्पादक के दर्शन की बड़ी उत्कट लालसा थी। तीर्थराज प्रयाग में दर्शन तो हुए; पर चरण-स्पर्श का साहस न हुआ। बार-बार दूर से ही मन-ही-मन प्रणाम किया।

इस प्रथम दर्शन से भी पहले स्वप्न-दर्शन! प्रयाग ही में। उस समय इंडियन प्रेस विश्वविद्यालय के अति निकट था—आज के स्थान पर नहीं। मित्रवर कुमार देवेन्द्रप्रसाद जैन की 'प्रेमकली', 'प्रेम-पुष्पांजलि' आदि प्रसिद्ध पुस्तकें इंडियन प्रेस में ही छप रही थीं। मैं उनके साथ वहां महीनों रहा। प्रायः नित्य प्रेस में जाना पड़ता। एक दिन देखा—बरसाती में बग्घी खड़ी है; प्रेस के मालिक चिन्तामणि बाबू साफ कपड़े की एक गठरी हाथ में लिये एक देहाती ब्राह्मण को घोड़ागाड़ी में चढ़ाने जा रहे हैं। मैं कविवर सत्यनारायणजी की 'प्रेमकली' कविता का प्रूफ देखने में लीन था। गाड़ी चली गयी। चिन्तामणि बाबू की ओर संकेत कर कुमार साहब मुझसे बोले—'देखा आपने, कैसे गुणग्राही हैं, पीछे-पीछे चपरासी खाली हाथ गया, द्विवेदीजी की गठरी स्वयं अपने हाथों ले गये!' कलम छोड़कर मैंने सिर थामा—'अरे, यह द्विवेदीजी थे? मैं अच्छी तरह दर्शन भी न कर सका!' कुमार साहब ने आश्वासन दिया—'पुस्तकें निकल जाएं तो उनके घर चलकर मिलेंगे भी।' पर गांठ की छूटी मणि फिर कहां मिलती है! वह झलक-

---

१. संभवतः १९२९ में।—सं०

झांकी सपने की सम्पत्ति हो रही।

हां, उपर्युक्त अभिनन्दन-पत्र लेकर जब द्विवेदीजी चले गए तब रायसाहब से मैंने निवेदन किया कि 'सभा' की ओर से द्विवेदीजी को एक सर्वांगसुन्दर अभिनन्दन-ग्रंथ दिया जाना चाहिए। रायसाहब के मन की बात सामने आयी। उन्होंने भगीरथ प्रयत्न किया। उनके उद्योग-रथ में मेरे दुर्बल कंधे भी भिड़े। वह कई महीनों के लगातार परिश्रम की बड़ी लम्बी कहानी है। मैं महीनों इंडियन प्रेस में बैठकर अभिनन्दन-ग्रंथ तैयार कराता रहा; पर जब उसके समर्पण का समय आया तब मेरे पांच वर्ष के पुत्र (अर्द्धेन्दुशेखर आनन्दमूर्ति) पर शीतला भवानी का भयंकर आक्रमण हुआ। काशी से तार पाते ही मैंने प्रेस से प्रस्थान किया। उस दिन से एक-डेढ़ महीने तक दरवाजे के बाहर न निकला। काशी में अभिनन्दन-समारोह हो रहा था, मैं व्यग्र बच्चे की सुश्रूषा में व्याकुल था। वर्तमान 'सरस्वती'-सम्पादक शुक्लजी मेरा बकस-बिस्तर प्रेस से लाकर दे गए; पर मैं उन्हें प्रणाम करने के सिवा धन्यवाद भी न दे सका। उत्सव का केन्द्र सभा-भवन मेरे मकान से सौ गज से अधिक दूर न था। पर मैं तो दूसरी ही दुनिया में था। महीनों से पूजा के फूल संजोता रहा, पर पूजा के समय 'देवता' के दर्शन से भी वंचित रहा। 'प्रसादजी' से सुना कि ओरछा-नरेश मोटर-बोट से रायसाहब के गंगा-तटस्थ भवन में द्विवेदीजी के दर्शन करने आते थे। पर उस समय का कोई भी आनन्द मेरे भाग्य के बांटे का नहीं था। श्री मैथिलीशरणजी और रायसाहब, द्विवेदीजी का लिखा हुआ एक श्लोक मुझे दे गए और कह गए कि आचार्य का हृदय सहानुभूति से विह्वल है; पर अस्वस्थ हो जाने से यहां तक आने में असमर्थ हैं—बच्चे को यह आशीर्वाद दिया है। उस श्लोक में बच्चे के आरोग्य-लाभ के लिए जगदम्बा की प्रार्थना थी। 'रंक की निधि' की तरह उसे जुगाकर रख लिया।

द्विवेदीजी जब काशी से घर चले गये तब एक पत्र लिखकर बच्चे का समाचार पूछा। मैं अभाग्यवश प्रयाग के 'द्विवेदी-मेला' में भी न पहुंच सका। क्योंकि शीतला के कोप से बच जाने पर भी बच्चा साल भर शय्याग्रस्त रहा। तब भी द्विवेदीजी ने दौलतपुर जाकर कृपापत्र भेजा कि प्रयाग क्यों नहीं आये—सुना है कि आर्थिक कष्ट में हो, क्या बात है, निःसंकोच लिखो। उनकी ममता जब याद आती है, हिन्दी-संसार सूना नजर आता है।

अभिनन्दन-ग्रंथ की छपाई जब समाप्त हो चली तब द्विवेदीजी के कुछ खास चित्रों के सम्बन्ध में उनसे पत्र-व्यवहार करना पड़ा। उन्होंने बड़ी उदासीनता से उत्तर दिया कि शुक्लजी (वर्तमान 'सरस्वती'-सम्पादक) से सबका परिचय मिल जाएगा—मुझसे बार-बार पूछकर मेरे भागवद्भजन में बाधा देना ठीक नहीं। अभिनन्दनग्रंथ के विषय में उनको एकदम विरक्त देखा। बहुत आग्रह और अनुनय

विनय करने पर उन्होंने प्रश्नावली मांग भेजी और प्रश्नों के सामने 'हां' या 'नहीं' लिखकर भेज दिया। जान पड़ता था कि अभिनन्दन-ग्रंथ उन पर लादा जा रहा है। उन्होंने एक बार स्पष्ट ही लिख दिया कि आत्मविज्ञान और आत्मश्लाघा के काम में मुझे घोर मानसिक ग्लानि हो रही है—इस विषय में मुझे अब और न छेड़ो।

जिस समय मैं अभिनन्दन-ग्रंथ का काम कर रहा था उसी समय रायसाहब ने श्रीमान् बाबू श्यामसुन्दरदासजी से अनुमति दिला दी कि 'सभा' में द्विवेदीजी का जो निजी संग्रहालय है उसमें से कुछ खास चीजें मैं देख सकूं। मैं केवल पाण्डुलिपियों के बंडलों को देखने लगा। जितने दिनों तक द्विवेदीजी 'सरस्वती' के सम्पादक रहे, उतने दिनों की 'सरस्वती' की प्रेस-कॉपी उन्होंने 'सभा' में दे दी है। प्रति वर्ष का बंडल अलग-अलग है। एक बंडल में हर महीने की नत्थी अलग-अलग है। उसमें आजकल के बड़े-बड़े साहित्य-सेवियों की रचनाओं की दयनीय दशा देखकर मेरी तो आंख खुल गई। अब कौन सम्पादक उतना परिश्रम करेगा। द्विवेदीजी की प्रकाशित पुस्तकों की पाण्डुलिपियां भी 'सभा' को मिली हैं। 'हिन्दी-महाभारत' की हस्तलिखित कॉपी का विशाल बंडल देखकर द्विवेदीजी की लगन और सुव्यवस्था पर बड़ा विस्मय हुआ। पांडुलिपियों के अतिरिक्त चिट्ठियों और अखबार की कतरनों के भी कई बंडल हैं। खेद है, मुझे एक पखवारे से अधिक अवकाश न मिल सका। वहां महीनों 'रिसर्च' (अनुसन्धान) करने की जरूरत है। हरेक बंडल से एक-एक लेख तैयार हो सकता है। मैं थोड़े समय के अन्दर जो कुछ नोट कर सका, उससे एक बड़ा लम्बा-सा लेख तैयार हो गया, जो प्रेमचन्दजी के 'हंस' में दो-तीन महीने तक छपता रहा। उसे पढ़कर द्विवेदीजी ने बड़े खेद के साथ मुझे एक पत्र लिखा कि हमारे जीते-जी वह लेखमाला न छपती तो हम बड़ी शान्ति से अपने जीवन का अन्तिम भाग बिता पाते। मैंने अपने नोटों को जरूरी कागजों के बंडल में डाल दिया— लेखमाला यहीं समाप्त हो गई। इस तरह मैंने देखा कि द्विवेदीजी अपनी बड़ाई सुनना तनिक भी पसंद नहीं करते। मैं उन नोटों के आधार पर 'अभिनन्दन-ग्रंथ' के लिए लेख लिखनेवाला था। रायसाहब की आज्ञा मिल चुकी थी। पर ईश्वर की कुछ ऐसी इच्छा हुई कि अपने पुत्र की बीमारी के कारण मैं लिख न सका। अगर कहीं मेरा वह लेख छप जाता तो द्विवेदीजी 'अभिनन्दन-ग्रंथ' को देख-देखकर अन्तराल तक मानसिक क्लेश पाते रहते। परमात्मा ने एक बड़े भारी दुखदायक कर्म से मुझे बचाया। ईश्वर जो करता है, अच्छा ही करता है।

६

खंड-प्रलय !

दरभंगा : १९३४—

•

'माधुरी' के संपादकीय विभाग से लौटकर जब शिवजी १९२५ में दुबारा कलकत्ता पहुंचे तो उन्होंने 'मतवाला'-मंडल में रहते हुए 'मौजी,' 'समन्वय', 'गोलमाल' आदि पत्रिकाओं का संपादन किया और उसी अवधि में वहां के वणिक प्रेस से निकलने वाले 'उपन्यास-तरंग' के भी संपादक हुए। 'पुस्तक-भंडार,' लहेरियासराय (दरभंगा) के अधिष्ठाता रामलोचनशरण उन दिनों अपने प्रकाशन की पुस्तकों का मुद्रण कलकत्ता या काशी में कराते थे। रामवृक्ष वेनीपुरी के सह-संपादन में १९२५ में उन्होंने 'वालक' का प्रथमांक वणिक प्रेस में ही शिवजी की देख-रेख में मुद्रित कराया। उन्हीं दिनों से लगातार शरणजी शिवजी को अपने प्रकाशनों के संपादन-कार्य से सम्बद्ध करना चाहते रहे और अंततः उन्हीं के विशेषाग्रह पर शिवजी कलकत्ता से काशी गये जहां शरणजी के प्रकाशन की पुस्तकें एवं 'वालक' के अंक शिवजी की देखरेख में छपने लगे। तीसरे विवाह (१९२८) के वाद शिवजी पहले कालभैरव मुहल्ले में और फिर बुलानाला मुहल्ले में रहने लगे थे जहां १९२९ में उनके ज्येष्ठ पुत्र, १९३३ में प्रथम पुत्री एवं १९३५ में द्वितीय पुत्री का जन्म हुआ था। (कनिष्ठ पुत्र का जन्म लहेरियासराय में १९३७ में हुआ) काशी प्रवास (१९२६-३५) के इन्हीं आठ-नौ वर्षों की अवधि में, जब ये मुख्यतः 'पुस्तक-भंडार' के प्रकाशन कार्य से

सम्बद्ध रहे, पहले १९३०-३१ में सुलतानगंज में 'गंगा'-संपादक के रूप में एक वर्ष रहे, फिर १९३२ में 'जागरण' पाक्षिक का संपादन किया, १९३२-३३ के कुछ महीने प्रयाग में 'द्विवेदी-अभिनंदन-ग्रंथ' के संपादन में व्यतीत किये, और अंततः १९३३ के उत्तरार्द्ध में 'पुस्तक-भंडार' (लहेरियासराय) की सेवा में चले गये, यद्यपि इस पूरी अवधि में परिवार काशी में ही रहा और संभवतः १९३४ के अंत में ही शिवजी अपना परिवार लहेरियासराय ले गये। जनवरी, १९३४ में बिहार में भूकम्प की जो भयंकर विपत्ति आयी उस समय शिवजी 'पुस्तक-भंडार' (लहेरियासराय) में थे, किन्तु परिवार काशी में था। भूकंप के उस प्रलय-तांडव का रोमांचकारी चित्र इस संस्मरण में प्रस्तुत है।

●

दरभंगा में खंड-प्रलय !

१५ जनवरी, १९३४, सोमवार : उस दिन मैं लहेरियासराय में था, जो दरभंगा नगर का एक हिस्सा है। लगभग सवा दो बजे दिन में अचानक भूकम्प आया। मैं 'बालक' के सहकारी सम्पादक श्री अच्युतानन्द दत्त के साथ 'पुस्तक-भण्डार' के अहाते में फूस की एक झोंपड़ी में बैठकर 'टाइम्स ऑफ इंडिया' का वार्षिक विशेषांक देख रहा था। जब एकाएक मेज हिलने लगी, मैं अपनी चौकी से झट नीचे कूद पड़ा। दत्तजी भी अपनी कुर्सी छोड़कर मेरे साथ ही मैदान में भागे। इतने में भूकम्प का वेग बहुत बढ़ गया। 'पुस्तक-भंडार' के अहाते में चारों ओर भगदड़ मच गयी। 'भंडार' की विशाल इमारत से सब कर्मचारी हड़बड़ाकर निकल आये। प्रेस के मकान से, दफ्तरीखाने से, टिड्डीदल की तरह आदमी निकल भागे। किन्तु कोई अहाते के फाटक से बाहर न निकला। सब-के-सब अहाते के सहन में त्रस्त और चकित खड़े होकर 'भंडार' के भव्य भवन का थिरकना देखने लगे। जैसे कोई बालक अपनी हथेली पर गेंद को उछालता है, वैसे ही वह भड़कीली इमारत पृथ्वी पर उछलने लगी। दो-चार ईंटों का खिसककर गिरना तो स्पष्ट दीख पड़ा, पर उसके बाद सारी इमारत धूल के अंधकार में छिपने लगी। देखते-ही-देखते, निमिष-मात्र में, दीवारें अरराकर धमाधम गिर पड़ीं। धूल के अन्धकार से आगे का सहन भर गया। इसी बीच में प्रेस का दोमंजिला

मकान भी बिखरी हुई ईंटों का ढेर वन गया। अहाते की चारदीवारी भी जड़ से कटे रूख की तरह जमीन पर आ रही।

आदमी जितने थे, सब उसी सहन में तितर-बितर कांपते हुए खड़े थे। मगर जब पृथ्वी तूफानी तरंगों पर नाचती हुई किश्ती की तरह डोलने लगी—'चढ़े मत्त गज जिमि लघु तरणी'—तव किसी आदमी के लिए खड़ा रहना असम्भव हो गया। पैरों के डगमगाने से देह में कंपकंपी लग गयी। व्याकुलता के मारे सव लोग वैठ गये। लेकिन जमीन में हाथ टेके विना वैठना भी असम्भव था। और वैठने पर दूसरी आफत नजर आयी। धरती फटने लगी। अब तक लोगों की जबान पर केवल 'राम'नाम था, पर जमीन का दरकना देखकर सव लोग जोर-जोर-से 'त्राहि भगवन् ! त्राहि भगवन् !' पुकारने लगे। मालूम होने लगा, पृथ्वी नीचे धंस रही है। अचानक पाताल-प्रवेश का प्रसंग उपस्थित देखकर सब लोग करुणार्द्र नेत्रों से आकाश की ओर ताकने लगे। 'सीताराम', 'सीताराम' की रट लग रही थी। भय-कातर आंखों के अंचल पसारकर लोग परमात्मा से प्राणों की भीख मांग रहे थे। वैसा दिल दहलानेवाला दृश्य इन आंखों ने कभी देखा न था। वैसा भयंकर आर्त्तनाद भी इन कानों ने कभी सुना न था। दिल के अन्दर धड़कनों का तांता बंधा था। जीभ की सुवुद्धि ऐसी जगी कि क्षण-भर भी 'राम'नाम के सुमिरन से विलग न हुई। कानों में लोगों के करुण कंठ से निकला हुआ 'त्राहि-त्राहि' का ऊंचा स्वर तो भर ही रहा था, एक प्रकार का और गम्भीर नाद भी सुन पड़ता था। मालूम होता था, सैकड़ों हवाई जहाज एक साथ ही उड़ते आ रहे हैं, या तेजी से दौड़ने के लिए हजारों फौजी मोटरों के इंजिन एक साथ ही खोल दिये गये हैं। रह-रहकर यह भी मालूम होता था कि पैरों के नीचे से पृथ्वी बड़ी तेजी से सरकती जा रही है। जैसे दौड़ती हुई डाकगाड़ी पर चढ़े हुए मुसाफिरों को वाहर की दुनिया भागती नजर आती है, वैसे ही हम लोगों को भी चारों ओर की चीजें दनादन सरकती नजर आती थीं। सूर्य भी चक्कर खाता हुआ दीख पड़ता था। ठीक प्रलय का दृश्य था।

उस समय भविष्य का ध्यान न था, जीवन का भरोसा न था, लोक-परलोक की चिन्ता न थी, अगर कुछ था तो केवल ईश्वर का सहारा ही था। उस समय ऐसे लोगों के मुंह से भी राम-नाम सुन पड़ा, जो कभी सपने में भी राम का नाम नहीं लेते थे। उसी समय जान पड़ा कि ईश्वर अगर सबसे वड़ा मारनेवाला है, तो वचानेवाला भी वही है। ईश्वर ने क्षण भर में ही अपनी विचित्र लीला की खूवी दिखला दी। घोर नास्तिक भी उस समय कट्टर आस्तिक नजर आया ! जीभ और तालु के असमर्थ एवं शुष्क हो जाने पर भी हृदय में केवल ईश्वर ही के सुमिरन का तार लगा हुआ था।

धरती फटने से जो हड़कम्प छा गया था, वह जल के सोते फूट निकलने से और भी बढ़ गया। चारदीवारी के गिर जाने से बाहर के मैदान में फूटे हुए सोते भी दीख पड़ने लगे। चारों ओर जगह-जगह फव्वारे फूट पड़े। उनके अन्दर से बड़े वेग के साथ बालू और मिट्टी मिला हुआ जल निकलने लगा। फाटक के सामने वाली सड़क से लोग वेसुध दौड़े जा रहे थे। गिरते-पड़ते, डगमगाते-डोलते, फिसलते-चिल्लाते, लोग अन्धाधुन्ध भाग रहे थे। कचहरी से भागे हुए एक वकील के एक ही पैर में जूता था।

ईश्वर की दया से कुछ ही मिनट बाद भूकम्प का प्रचंड प्रकोप शान्त हुआ। किन्तु जल के सोते शाम तक मटमैला पानी उगलते रहे। 'भंडार' के दफ्तरीखाने में ऐसा जबरदस्त सोता फूटा कि सैकड़ों रिम छपे हुए कागज और भंजे हुए फॉर्म कीच में लथपथ सन गये।

अब बाहर से भी बड़ी-बड़ी डरावनी खबरें आने लगीं। कोई आकर कहता—अदालत-दीवानी की दो-मंजिला इमारत चकनाचूर हो गयी, बहुत-से लोग दब मरे और घायल हो गये। किसी ने आकर कहा—अस्पताल के गिर पड़ने से पचासों रोगी घायल हो गये और चंप गये। एक ने सुनाया—बाजार की सड़क फट जाने से इक्के का घोड़ा धंस गया है, लोग निकाल रहे हैं। इसी तरह के भयावने समाचारों का तांता बंध गया। शाम तक खबरों का तार न टूटा। आतंक छा गया। 'धीरज हू कर धीरज भागा।' हर घड़ी यही आशंका होती थी कि धरती डोल रही है। जो कोई आता था, यही पूछता था—'बाल-बच्चे बच गये? कोई आदमी तो नहीं मरा?' उस समय सिर्फ जिन्दगी की भूख थी। धन की कोई चिन्ता या चर्चा नहीं करता था। प्रायः धन की ओर से सब विरक्त दीख पड़ते थे। सब आकर यही कहते थे कि जान बच गयी तो धन फिर हो जाएगा।

मास्टर साहब[1] के उद्विग्न मस्तिष्क पर लोगों की इस मनोवृत्ति का बड़ा प्रभाव पड़ा। जब उन्होंने सब पर एक ही तरह की विपत्ति देखी, तब उनका चित्त कुछ शांत हुआ। वे अपने कर्मचारियों की खोज-पूछ करने लगे। सबका पता लग गया, पर 'बालक'-कार्यालय के एक असिस्टेंट क्लर्क का पता न मिला। वह विद्यापति-पुस्तकालय का लाइब्रेरियन भी था। इसलिए लाइब्रेरी की ओर झांककर देखा गया। वहां भी न था। बड़ी चिन्ता छा गई। आशंका होने लगी

---

१. 'पुस्तक-भंडार'(लहेरियासराय)के संपादक श्री रामलोचनशरणजी जो अपने आरम्भिक जीवन में बहुत दिनों तक शिक्षक होने के कारण बाद में भी 'मास्टर साहब' ही कहे जाते रहे।

कि हो-न-हो, वह मलवे के नीचे दब गया। आखिर अनुमान सत्य निकला। दूसरे दिन सवेरे जब मलवा हटाया जाने लगा, क्लर्क वेचारे की लाश मिली। देखने से पता लगा कि भागते समय वह सबसे पीछे निकला और बाहरी द्वार की अन्तिम सीढ़ी तक पहुंचते-पहुंचते उसके ऊपर दीवार गिर पड़ी। उसकी मृत्यु से सबको बड़ा भारी अफसोस हुआ।

दो-तीन दिनों तक मैं कहीं बाहर घूमने न गया। प्रायः सब लोग एक जगह उदास बैठकर ईश्वर की अद्भुत शक्ति पर आश्चर्य और भय प्रकट करते थे। रातें आंखों में कटती थीं, दिन घबराहट में बीतते थे। उस समय तुलसीदासजी के ये पद बार-बार याद आते थे—'भृकुटि-विलास जासु लय-होई' और 'जेहि राखे रघुबीर, ते उबरें तेहि काल महं।' ऐसा जान पड़ता था कि क्षण भर में ही ईश्वर ने धन-जन का विध्वंस ही कर डाला और बचे हुए को वेदांत और वैराग्य का पाठ भी पढ़ा दिया। फिर भी उस समय प्राणों की भूख बड़ी तीखी थी, अन्न की भूख काफूर हो गई थी। जब लोग आकर कहते थे कि लहेरियासराय और दरभंगा मिलाकर चार हजार से ऊपर आदमी मरे हैं तब रूह कांप उठती थी। प्रत्यक्षदर्शी लोग जब रोमांचकारी वर्णन सुनाने लगते थे तब देह सुन्न हो जाती थी।

दो-चार दिन तक रात-रात-भर स्त्री-पुरुषों का रोना-चिल्लाना सुनाई पड़ता रहा। पहली और दूसरी रात (रविवार और सोमवार) अत्यन्त भयावह मालूम हुई। ठीक यही भासता था कि महाश्मशान में रह रहे हैं। मुसलमान भाई रात-भर सम्मिलित प्रार्थना में बड़े जोर-जोर से 'अल्ला हो अकबर' पुकारते थे। हिन्दू भी जहां-तहां हरिकीर्तन के सहारे जागरण करते थे। इतने पर भी नर-नारियों के शोकोद्गारपूर्ण चीत्कार से रात बड़ी ही भयावनी मालूम होती थी। भूकम्प के समय का गगनभेदी आर्त्तनाद भी उतना भयावना न था।

लोग कहते हैं कि अफवाहें प्रायः झूठी ही होती हैं; पर दुर्दिन में ऐसा नहीं होता—इसका तो प्रत्यक्ष अनुभव हुआ। जो लोग जाकर लहेरियासराय और दरभंगा के मुहल्लों और बाजारों की दुर्दशा अपनी आंखों देख आये, वे कहने लगे कि निन्नानवे फीसदी मकान चौपट हो गये हैं और आदमियों का कहीं पता नहीं है। दो-चार दिन के बाद देहाती लोग भी आने-जाने और अजीब खबरें सुनाने लगे। कहीं धरती फटकर धुआं निकला, कहीं सैकड़ों बीघा खेत रेत बन गये। एक ने सुनाया कि खूंटे में बंधे हुए दो बैल धरती फटने से वहीं-के-वहीं धंसकर लापता हो गये। एक आदमी जल निकलते हुए फटे स्थान में पांव डालकर मन बहला रहा था। उसके तलवे में पाताल-जल के वेगवान् प्रवाह की ठोकरें लगती थीं। वह घुटने तक पांव दबाता चला गया। इतने में सड़-से नीचे खिंच गया और ऊपर बहुत-सी कीच मिली हुई बालू निकल आयी। तमाशा देखनेवाले भाग खड़े

हुए। भूकम्प के बाद का यह पाताल-प्रवेश लोगों के हृदय पर गहरा आतंक छोड़ गया। इसी प्रकार एक धनी परिवार के तीन मृत व्यक्तियों को मलवे के नीचे से निकालने के लिए दो कुली फी मुर्दा पचीस रुपये के करार पर तैयार हुए। दो मुर्दे तो निकल आये, जो पुरुषों के थे। एक स्त्री को निकालने के लिए कुली गये, और उसके शरीर के गहने लेने का भी करार करा लिया। लेकिन वे न तो करार के पचहत्तर रुपये ही पा सके और न गहने ही, वहीं गहनेवाली के पास दीवार गिरने से दब गये। फिर उस मलवे के नीचे रह गये तीन के तीन ही मुर्दे!

दो दिन के बाद हवाई जहाज मंडराता नजर आया। सुना कि 'स्टेट्समैन' का रिपोर्टर है। लेकिन आकाश में उड़ते फिरने से जमीन पर बीतनेवाली मुसीबत का ठीक पता नहीं लग सकता। एक दिन लहेरियासराय में हवाई जहाज से 'स्टेट्समैन' की एक प्रति नीचे मैदान में गिराई गई थी। झुंड-के-झुंड लोग दौड़ पड़े थे। एक दिन और इसी तरह 'स्टेट्समैन' का एक अंक गिरा था। उस समय वह देवताओं की पुष्प-वृष्टि अथवा आकाशवाणी के समान प्रतीत हुआ; क्योंकि तार, रेल और डाक के बन्द होने से सब लोग यह जानने को बहुत उत्सुक थे कि दरभंगा के सिवा अन्य नगरों और जिलों की क्या दशा है। अपने-आप पर जो बीत चुकी थी, उसके लिए तो लोग दुःखी थे ही, पर अन्य स्थानों के अपने सगे-सम्बन्धियों और इष्ट-मित्रों के लिए भी बड़े चिन्तित थे।

मेरा परिवार काशी में था। मैं न तार दे सका और न कोई उपाय ध्यान में आया। विश्वनाथजी के भरोसे पर मन मारकर रह गया। 'भंडार' का एक कर्मचारी पटना की प्रधान शाखा का हाल-चाल लेने के लिए साइकिल से भेजा गया। उसी को मैंने पटना से डाक में छोड़ने के लिए बनारस की चिट्ठी दी। बनारस से जो तार और पत्र मेरे पास भेजे गये, वे मिले ही नहीं। डाक तो बंद थी ही, रेल की लाइन भी दरभंगा से समस्तीपुर तक खराब हो गई थी। भूकम्प के समय एक ट्रेन लहेरियासराय स्टेशन पर दरभंगा से आयी थी, सो स्टेशन पर ही खड़ी थी। उसके मुसाफिरों का कष्ट देखकर बड़ी पीड़ा और करुणा उत्पन्न होती थी। बहुत-से-मुसाफिर अपने ही सिर पर सामान लादकर रेलवे लाइन पकड़े हुए पैदल ही समस्तीपुर चले गये।

इसी तरह लोग पैदल आने-जाने लगे। जो इक्के-घोड़े लहेरियासराय में बच गये थे, वे भी बहुत महंगे मिलते थे। हम लोग आठवें दिन सोलह रुपये भाड़ा देकर तीस मील इक्के पर समस्तीपुर आये। पक्की सड़क से चौबीस मील का ही रास्ता है, मगर एक पुल के खराब होने से छः मील का फेर पड़ा। छोटी 'कोसी' नदी में डेढ़ रुपया खेवा देकर इक्का सहित पार हुए। नदी के तीर पर देखा भूकम्प-पीड़ित भगोड़ों के इक्के, मोटरें और बैलगाड़ियां कतार बांधे सुबह से खड़ी हैं। दो बड़ी नावें थीं, और सवारियां थीं दो सौ।

रास्ते में उधर से आते हुए लोगों के झुंड भी मिलते थे, जो पैदल या किसी सवारी पर अपने घर दौड़े जा रहे थे। कोई कलकत्ता से आता था, कोई बनारस से, कोई इलाहाबाद से, कोई और कहीं से। रास्ते में तमाम सड़कें फटी हुई मिलीं। कहीं-कहीं तो इतनी चौड़ी दरारें थीं कि उनमें आदमी कमर और छाती तक समा जा सकता था। सड़क के दोनों ओर जितने गांव मिले, सबमें टूटे-फूटे मकान दीख पड़े। चारों ओर जल और बालू की बाढ़ का दृश्य था। जहां-जहां पुल पड़ता था, इक्के से उतर जाना पड़ता था। लोहे के बड़े-बड़े पुल बीच-बीच में कमान की तरह झुक गये थे। एक नदी के पुल के बिचले खम्भे एकदम जल के पास तक धंस गये थे। जगह-जगह सड़क के बीच में जमीन फटकर बालू और पानी निकला था। ऐसे स्थानों में भी इक्के से उतरना पड़ता था। कितने ही कुएं ऐसे मिले, जो सशरीर पाताल में समा गये और उनके स्थान पर सिर्फ बालू से भरे हुए गड्ढे रह गये।

समस्तीपुर पहुंचने पर तलाश करने पर एक अच्छी दुकान मिली। वहीं सुअन्न से भेंट हुई। वहां एक मिल की चिमनी डायनामाइट लगाकर गिराई जा रही थी, जिससे बार-बार बड़े जोर का धड़ाका होता था। चिमनी का शिखर तो भूकम्प ने तोड़ डाला था, मगर उसका धड़ गिराने में कई दिन बारूद की शक्ति काम करती रही। डर लगता था कि धड़ाके की धमक से फटे हुए ऊंचे मकान न गिर पड़ें। सड़क से निकलते वक्त दिल दहलता था। स्टेशन के मुसाफिरखाने में भगोड़ों की भीड़ लगी हुई थी। मालूम हुआ कि आज ही पहले-पहल मुकामा घाट की गाड़ी रात में नौ बजे जानेवाली है। समस्तीपुर से हम लोगों को बछवारा जंकशन का टिकट मिला, वहां से छपरा का; फिर छपरा से भटनी जंकशन का, और भटनी से सीधे बनारस का टिकट नसीब हुआ। इस चक्करदार सफर में एक रुपया सात आने अधिक भाड़ा लगा। चित्त व्यग्र था, इसलिए रुपया नहीं सूझता था। दिल की घबराहट का पता इतने से ही लग सकता था कि भटनी में हड़बड़ी के मारे एक टिकट बेशी खरीद लिया गया, जिसके पीछे मुफ्त ही सवा रुपया पानी में गया। लेकिन उस समय हर तरफ से बरबादी ही बदी थी। मेरे साथ 'भंडार' के विद्यापति प्रेस के मैनेजर श्रीहनुमानप्रसाद गुप्त भी बनारस आ रहे थे। वे काशी के सीताराम प्रेस के संचालक श्रीबजरंगबली गुप्त 'विशारद' के सगे बड़े भाई थे। उनकी वजह से रास्ते-भर बड़ा आराम रहा। वे अगर साथ न होते तो मैं दो दिन तक उसी कोसी नदी के किनारे पड़ा रहता। वहां मोटरों और इक्के-घोड़ों का ठट्ट देखकर ही मैं चकरा गया। भागते हुए स्त्री-पुरुषों के चेहरे से आह टपकती थी। छोटे-छोटे बच्चे सूखा चूड़ा चबा रहे थे और गुड़ मांगकर अपनी माता को रुलाते थे। कितनी ही स्त्रियों की आंखें रोते-रोते सूज गई थीं।

भूकम्प से बचे हुए लोगों की भी कुछ कम दुर्दशा नहीं हुई। जान नहीं गई, मगर और कोई नतीजा बाकी न रहा। लहेरियासराय में देखा था कि जो लोग कोठियों और बंगलों के अन्दर अंगीठी से कमरे को गरम करके पलंग पर सोया करते थे, वे खर-छप्पर के नीचे पुआल पर लेटे-लेटे रात काटते हैं। खुले मैदान में डण्डों के सहारे दरी या कम्बल तानकर लोग कठोर शीत झेलते थे।

काशी आने पर जब विश्वनाथजी के दर्शन करने गया तो संध्या की मंगलारती हो रही थी। उसके अन्त में जब घंटे और डमरू का घनघोर शब्द होने लगा तब याद आया कि लहेरियासराय में भूकम्प के दिन कुछ इसी ढंग का शब्द कानों के परदे पर घहरा रहा था। धन्य है शंकर का प्रलय ताण्डव!

०

७

राजेन्द्र कॉलेज

छपरा : १९३९—

•

१५ नवंबर, १९३९ को शिवपूजनसहाय नवस्थापित राजेन्द्र कॉलेज में हिन्दी प्राध्यापक पद पर नियुक्त होकर सपरिवार छपरा चले आये और १९४९ तक इस पद पर रहे। किन्तु छपरा आने के ठीक एक वर्ष बाद ही, १६ नवंबर १९४० को तीसरी पत्नी श्रीमती बच्चनदेवी का उनवांस में देहान्त हो गया। चारों बच्चे छोटे थे और उनके पालन-पोषण की भीषण समस्या सामने थी। इन्हीं परिस्थितियों में १९४१ में बिहार हिन्दी साहित्य सम्मेलन के सत्रहवें पटना अधिवेशन, बरहज (गोरखपुर) की हिन्दी-साहित्य-परिषद्, राजराजेश्वरी हाई-स्कूल (सूर्यपुरा, शाहाबाद) की साहित्य-परिषद् के प्रथम वार्षिकोत्सव, जयपुर (राजस्थान), अखिल भारतीय हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन के बत्तीसवें अधिवेशन की साहित्य-परिषद् तथा कई संस्थाओं के वार्षिकोत्सवों का सभापतित्व किया। १९४४ में 'पुस्तक-भंडार' के जयंती स्मारक-ग्रंथ का संपादन किया। इसी अवधि में, १९४५-४६ में, कॉलेज से एक वर्ष का अवकाश लेकर पटना आ गये तथा 'पुस्तक-भंडार' (पटना) के साहित्यिक मासिक 'हिमालय' के संपादक रहे। १९४७ में, प्राध्यापक-पद पर रहते हुए ही, आरा-नागरी-प्रचारिणी सभा के राजेन्द्र-अभिनंदन-ग्रंथ' का भी संपादन किया। २९ दिसंबर, १९४९ को कॉलेज सेवा से मुक्त होकर पटना आ गये। बिहार

प्रादेशिक हिन्दी साहित्य सम्मेलन के त्रैमासिक 'साहित्य' के संपादक नियुक्त हुए तथा २० जुलाई, १९५० को विधिवत बिहार राष्ट्रभाषा परिषद् के मंत्री-पद का कार्यभार ग्रहण किया। राजेन्द्र कॉलेज, छपरा में प्राध्यापन में व्यतीत एक दशक की एक संक्षिप्त झांकी प्रस्तुत है इस परिच्छेद में।

●

माननीय अनुग्रह बाबू

सन् १९४० ई० में राजेन्द्र-कॉलेज, छपरा के विद्यार्थियों ने देशपूज्य राजेन्द्रबाबू के नाम पर एक हिन्दी-पुस्तकालय और सार्वजनिक वाचनालय की स्थापना की थी। उसके सभापति की हैसियत से मैं एक बार माननीय अनुग्रह बाबू से मिला। मैंने निवेदन किया कि पुस्तकालय का स्वतंत्र भवन बनवाने के लिए बिहार सरकार से सहायता मिलनी चाहिए। उन्होंने बड़ी सहानुभूति दिखाई।

जिस दिन मैं उनसे मिलने गया, मुलाकातियों की बड़ी भीड़ थी। सबने अपने-अपने कार्ड भेजे। मैंने एक चिट पर सिर्फ अपना नाम लिख भेजा। ईश्वर की दया, सबसे पहले मेरी ही बुलाहट हुई। आधा घंटा समय बातें करने में लगा। बड़े धैर्य से उन्होंने मेरी प्रार्थना सुनी। फिर सहर्ष दो हजार रुपये भवन-निर्माण के लिए देने का अभिवचन दिया। दरखास्त मैं पहले ही भेज चुका था, सिर्फ याद दिलाने के लिए एक पत्र फिर छपरा जाकर भेजा। रुपये उन्होंने शीघ्र भेज दिये। यह सहायता प्राप्त करने में कोई विशेष कठिनाई न हुई; क्योंकि उन्होंने बड़ी सहृदयता से प्रार्थना पर ध्यान दिया। इतना ही नहीं, उनसे पुस्तकालय के नये भवन की नींव देने की भी प्रार्थना की गई थी। उसे भी उन्होंने उदारतापूर्वक स्वीकृत किया। छपरा-यात्रा का अवसर मिलते ही उन्होंने पुस्तकालय की वह प्रार्थना सफल कर दी। पुस्तकालय की आर्थिक कठिनाई के कारण उनके स्वागत या अभिनन्दन का कोई उचित प्रबन्ध न हो सका। फिर भी उन्होंने बड़ी प्रसन्नता से शिलान्यास-कर्म सम्पन्न किया।

उनसे मिलने का सुअवसर पहले कभी प्राप्त नहीं हुआ था, पर उनके दर्शन का सौभाग्य कई बार प्राप्त हुआ था। असहयोग-आंदोलन और सत्याग्रह-आन्दोलन के समय कई जगह सार्वजनिक सभाओं में उनके भाषण सुने थे।

डा० सच्चिदानंद सिंह

जब मैं राजेन्द्र-कॉलेज (छपरा) के हिन्दी-विभाग में प्राध्यापक था, पटना-विश्वविद्यालय की बैठकों में सम्मिलित होने के लिए पटना जाया करता था। उन दिनों वे उसके उपकुलपति थे। प्रायः मुख्य बैठकें उनकी कोठी में ही होती थीं। सदस्यों के सामने मिठाइयों की तश्तरियां आती थीं। वे आरामकुर्सी पर लेटे-लेटे देखते रहते थे कि कौन ठीक तरह खाता है। नौजवान प्रोफेसरों को प्रेरित और उत्साहित करते थे कि खूब डटकर खाओ। स्वयं भी तश्तरी भर रसगुल्ले खा जाते थे। उनके यहां छोटे रसगुल्ले नहीं आते थे। बड़े-बड़े रसगुल्लों को चम्मच से उठाकर समूचा का समूचा मुंह में डालते चले जाते थे। जो लोग दांतों काटकर खाते थे उन्हें आवाज देकर और उनका नाम पुकारकर कहते थे कि मेरी तरह रसगुल्ले खाना सीखो। अपनी युवावस्था के प्रचुर भोजन की कहानियां कहकर आधुनिक युवकों के अल्पाहार पर विनोदपूर्ण खेद प्रकट करते थे।

बिहार-हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन का वार्षिक महाधिवेशन सम्मेलन-भवन (पटना) में हुआ था। उसके सभापति-पद से भाषण करने के बाद मैं उनके दर्शनार्थ गया। छपा भाषण उनकी सेवा में पहले ही भेजा गया था। उन्होंने भाषण की भाषा पर आधा घंटे तक कड़ी आलोचना करते हुए कहा—'तुम्हारा भाषण मैंने ठीक नहीं समझा। वह हिन्दी में नहीं, संस्कृत में है। ऐसी हिन्दी नहीं चलेगी। संस्कृत की तरह तुम लोग हिन्दी को भी मार डालोगे। पं० महावीरप्रसाद द्विवेदी को तुम लोग अपना रहनुमा मानते हो। उनकी हिन्दी भी कड़ी होती है। 'चन्द्रकांता' की हिन्दी मैं समझ लेता हूं। गोपालराम गहमरी की भाषा मैं पसन्द करता हूं। तुम उर्दू जानते तो ऐसी पंडिताऊ हिन्दी नहीं लिखते। मेरे मित्र सर तेजबहादुर सप्रू और पं० मोतीलाल नेहरू बहुत अच्छी उर्दू बोलते हैं। मैं उसी को आसान हिन्दी मानता हूं; क्योंकि पं० रामावतार शर्मा और डॉ० काशीप्रसाद जायसवाल भी उनको अच्छी तरह समझते थे। तुम्हारा सम्मेलन सिर पटककर मर जाएगा, तब भी तुम्हारी हिन्दी इस शक्ल में आमफहम जबान नहीं बन सकेगी।'

इस तरह उन्होंने पहले खूब फटकारा, फिर स्नेह भी प्रदर्शित किया। हाल-चाल पूछा, सम्मेलन के कामों का ब्योरा भी पूछने लगे। उसी समय एक महाशयजी नंगे सिर आ पहुंचे और हिन्दी में बातें करने लगे। अब वे उनके पीछे पड़ गये—तुम भोजपुरी में बातें क्यों नहीं करते? तुमसे कहीं अच्छी हिन्दी मैं जानता हूं। तुम पं० बनारसीदास चतुर्वेदी और पं० पद्मसिंह शर्मा को जानते हो? उन लोगों की लिखी हिन्दी तुमने पढ़ी है? वैसी हिन्दी मैं खूब समझता हूं। तुम्हारी 'भाखा' मेरी समझ में नहीं आयी। भोजपुरी में बोलने से गंवार देहाती बन जाते?

घर में भोजपुरी बोलते हो तो मेरे यहां क्यों बुगदादी हिन्दी छांटने लगे ? फिर नंगे सिर मनहूस की तरह क्यों रहते हो ? तुम्हारे बाप तो बराबर टोपी पहने रहते थे। खानदान से बाहर क्यों जा रहे हो ?'

महाशयजी सटक सीताराम। उनका मुंह खुला, मुंह ताकते रह गये। फिर उन्हें भी नौकरी-चाकरी का हाल पूछकर बहलाने लगे। उनके दादा की रईसी के किस्से सुनाने लगे। प्राय: फटकार के बाद दुलार दरसाना उनका स्वभाव था। तम्बीह के बाद तफरीह से उनके हार्दिक स्नेह का परिचय मिलता था। प्रौढ़ों और वृद्धों के भी वे पितातुल्य थे। विहार के तो वे भीष्म पितामह थे। बिहार या बाहर के लोगों के प्रति उनका वात्सल्य अनुकरणीय था। उनका हृदय अत्यन्त स्नेहपरायण था।

वे अकेले खाना नहीं पसन्द करते थे। खाने के पहले किसी-न-किसी स्नेही या सुहृद को फोन से बुला लेते थे। 'पलामू-समाचार' के संचालक के पूज्य पिता देवकी बाबू को बहुत मानते थे। पटना में देवकी बाबू रहते तो शायद ही कोई दिन ऐसा बीतता जब साथ खाने का बुलावा न आता। देवकी बाबू से मेरा परिचय साहित्य-सम्मेलन में हुआ था। सिन्हा साहब की कोठी पर उनसे कई बार भेंट हुई थी। सिन्हा साहब के सहभोजियों में वे प्रमुख थे, उनको सिन्हा साहब बातचीत करने के लिए भी रोक रखते थे। दोनों में हंसी-मजाक भी होता था। उन लोगों की बातचीत सुनने से कई तरह की नयी जानकारियां होती थीं। आरा नगर की नागरी-प्रचारिणी-सभा की ओर से राष्ट्रपति राजेन्द्र बाबू को अभिनन्दन-ग्रंथ समर्पित किया गया था। मैं भी उसके सम्पादकों में था। सिन्हा साहब के पास उसी के लिए लेख मांगने गया। जब निवेदन कर चुका तब कहने लगे—'क्यों ऐसी किताब के लिए मुझसे लेख मांगने आये जिसके नाम का मतलब ही मेरी समझ में न आया ! रामनन्दन, श्यामनन्दन, हरनन्दन, ब्रजनन्दन, वगैरह तो सुना था, यह अभिनन्दन कौन-सी बला है ? मुझे इसके असल मानी समझाओ।' मैंने अपनी हंसी रोककर अर्थ बतलाया। भला उनको अर्थ क्या समझाता, वे तो विनोद का रस लेने के लिए वैसा बोल गये। झट अपने पुस्तकालय के एक आदमी को बुलाया और कहा कि राजेन्द्र बाबू का रजिस्टर ले आओ। वह मोटा रजिस्टर जब आया तब देखा कि राजेन्द्र बाबू के स्कूली जीवन से राजनीतिक जीवन तक की प्रमुख घटनाओं से सम्बद्ध अखबारी कतरनें सिल-सिलेवार उसमें सटी हुई थीं। उन्होंने कहा कि इन्हीं कतरनों के सहारे एक लेख लिख लाओ जो मेरी स्टाइल का हो। जब मुझे जंचेगा तब उसी को एडिट करके दे दूंगा और अंग्रेजी में लेख चाहते हो तो मेरे 'हिन्दुस्तान-रिव्यू' में छपे लेख की नकल कर लो।

जब नये मौलिक लेख के लिए मैंने निवेदन किया तब उन्होंने पूरा ग्रन्थ छपा हुआ देख लेने पर देने का वचन दिया और वहीं पर पास बैठे हुए विश्वविख्यात पत्रकार सन्त निहालसिंह से भी लेख लिख देने का अनुरोध करके मुझसे कहा कि सर्किट हाउस में इनसे मिलकर लेख ले लेना। उन्होंने भी पूरा छपा ग्रन्थ देखने पर उसका प्राक्कथन लिखने की इच्छा प्रकट की। दोनों अंग्रेजी लेख उस ग्रन्थ में प्रकाशित हो चुके हैं। सन्त निहालसिंह से उनका दोस्ताना वर्ताव देखा।

'सभा' का सफल महोत्सव

जिस साल (१८९३ ई०) आषाढ़ में काशी-नागरी-प्रचारिणी सभा का शुभजन्म हुआ था उसी साल के सावन में मेरा भी, अतएव सभा के महोत्सव में सम्मिलित होने और उसका आजीवन सदस्य बनने का विचार मेरे मन में उठता रहा था। काशीश्वर भगवान् विश्वनाथ की दया से दोनों कामनाएं पूरी हुईं। सभा का अर्द्धशताब्दी (स्वर्ण-जयन्ती) महोत्सव देखकर हिन्दी और नागरी के उज्ज्वल भविष्य की आशा बद्धमूल हुई।

सभा के उत्सव में दूर-दूर से आये हुए अतिथियों के आतिथ्य का प्रबन्ध बड़ा सन्तोषजनक था। सभा की ओर से आतिथेय थे श्रीबैजनाथजी केडिया, जो अपनी सुप्रसिद्ध प्रकाशन-संस्था 'हिन्दी-पुस्तक-एजेन्सी' के द्वारा हिन्दी-साहित्य की स्तुत्य सेवा अनेक वर्षों से करते आ रहे थे। उन्होंने जैसी तत्परता और नम्रता से सब अतिथियों का सत्कार किया, वैसी लगन और विनय बहुत ही कम देखने में आती है। दोनों जून ठीक समय पर उत्तम पवित्र भोजन मिलने से सभी अतिथि अत्यन्त तृप्त हुए और सब लोग एक स्वर से उनकी सुव्यवस्था की प्रशंसा कर रहे थे। अतिथिशाला (दयानन्द-वैदिक कॉलेज) से सभा में आते-जाते, असामयिक वर्षा के कारण, जो पंकिल पथ मिलता था, वह रुचिकर भोजन को और भी सुस्वादु बना देता था। कानपुर के कविवर हितैषीजी को कभी 'बेनी' कवि की पांती ('मीच है कबूल पै न कीच लखनऊ की') याद आती थी, कभी वे जूतों को रबड़ी-बसौंधी चटाने लगते थे।

अतिथिशाला से जब अतिथियों का दल सभा की ओर चलता था, तब स्वामी केशवानन्दजी के तत्त्वावधान में पंजाबी प्रतिनिधियों का जत्था विशेष रूप से दर्शनीय प्रतीत होता था। बालकों और युवकों का केसरिया साफा एक कतार में जिधर निकल जाता, उधर ही उस बसन्ती छटा पर टकटकी बंध जाती। और, कहीं के एक विचक्षण जज साहब भी आ पहुंचे थे। जान पड़ता था कि यही 'बना-रस' है, और सब 'बिगड़ा-रस'। वर्षा के कारण दूसरे दिन प्रातःकाल जो

उत्सव हरिश्चन्द्र कॉलेज के भवन में हुआ उसमें उन्होंने खूब रंग बरसाया। खेद है कि श्रद्धेय आचार्य केशवप्रसाद मिश्रजी उनके अलौकिक भाषण के भीषण प्रभाव से वंचित रह गये। भीषण इस अर्थ में कि शब्दों की विचित्र व्युत्पत्ति और उनके अर्थों के विलक्षण विश्लेषण सुनकर उन्होंने श्रोताओं को चकित कर दिया। बाहर से तो बेचारे पानी की बौछार झेलते ही आये थे, भीतर भी जज साहब ने उन्हें पानी-पानी कर दिया। उनके रंग से सराबोर हो श्रोता लदफदा गये; फिर भी डटे रहे; क्योंकि 'गंवार+नर' और 'कमान+डर' ने आतंक स्थापित कर दिया था।

इस अधिवेशन में सिनेमा और रेडियो की भाषा के सम्बन्ध में प्रोफेसर गुरुप्रसादजी टंडन और कविवर हितैषीजी के भाषण अच्छे हुए; पर कोई निर्णय न हो सका—यद्यपि पूज्य पं० रामनारायणजी मिश्र ने कुछ अधिकारी विशेषज्ञों की एक समिति संगठित करने का सुझाव पेश किया था।

उसी दिन वर्षा के ही कारण, अपराह्ण का उत्सव टाउन-हॉल में हुआ, जिसमें पूज्य मालवीयजी के अपूर्व दर्शन हुए। उस दिव्य दर्शन का आनन्द अवर्णनीय है। जरा-जर्जर शरीर का मन्द-मन्द कम्पन देख शरीर रोमांचित और नेत्र सजल हो उठे। उनकी अमृतमयी वाणी बरसों बाद कर्णपुट में पड़ी थी, अन्तस्तल शीतल हो गया। फिर कला-भवन का संग्रहालय देखकर स्वनामधन्य कलाविद् रायकृष्णदास जी की सुरुचि और निष्ठा का बखान करते लोग नहीं अघाते थे। एक सज्जन कह रहे थे—'इस कला-मन्दिर के पुजारी रायसाहब ने साहित्य की वास्तविक आत्मा को पहचान लिया है, इसलिए इस सरस्वती-सदन (सभा) में साहित्य की प्रतिमा की प्राण-प्रतिष्ठा करनेवाले रायसाहब ही वास्तव में इसके जीवनदाता कहलाने योग्य हैं।'

रात में जो नाटक हुआ, अभाग्यवश मैं उसे न देख सका। फाटक तक पहुंचकर भी 'राजद्वारे···' रटता हुआ रिक्शारूढ़ हो भाग निकला। प्रतिनिधियों से सुना कि अभिनय बहुत ही सफल हुआ—श्रीकेशवराम टंडनजी का 'चाणक्य' का अभिनय अत्यन्त प्रभावशाली रहा।

तीसरे दिन का उत्सव सभा के प्रशस्त प्रांगण के पंडाल में हुआ। विद्वद्वर प्रोफेसर अमरनाथ झा की अध्यक्षता में वयोवृद्ध साहित्यसेवियों का अभिनन्दन बड़ा हृदयग्राही दृश्य था। सभा के तीनों संस्थापकों का समादर हिन्दी-प्रेमी युवक-वृन्द को एक नवीन प्रेरणा-शक्ति से अनुप्राणित करनेवाले था। इधर आचार्य श्यामसुन्दरदासजी का कम्पित कलेवर करुणा उत्पन्न कर रहा था, उधर पूज्य पंडित रामनारायण मिश्रजी के बुढ़ापे में जवानी का जोश उमड़ा देख ईर्ष्या हो रही थी। पंडितजी के समान अनुभवी एवं स्फूर्तिशाली नौजवान बूढ़ा किसी भी संस्था को उन्नति के शिखर पर पहुंचा सकता है।

रात में, कवि-दरबार से पहले, 'अयोध्या' पर[1] जो 'लैंटर्न-लेक्चर' हुआ, खासा विनोद-व्यंजक था । उससे कितनी ही अनोखी वातों की जानकारी हासिल हुई । वक्ता[1] की खोज में रामभक्ति का ओज था । फिर कवि-दरबार के ओज का क्या कहना !

जिस समय महाकवि केशवदास श्रृंगारासव के उन्माद में आकर कवयित्रियों के दल के पास ही भहरा पड़े, उस समय कलेजा दहल गया । किन्तु मीरा ने प्राणों में पुलक भर दी । सूर, तुलसी और रसखान ने भक्ति का उद्रेक किया । देव, पद्माकर और भारतेन्दु ने अपने वाने की लाली रख ली । घनानन्दजी तो 'सुजान' के वियोग से ऐसे कातर हो रहे थे कि उनकी विरह-विह्वल वाणी से उपस्थित कवयित्रियों और विदुषियों में भी कानाफूसी होने लगी । 'सुजान-प्रिया' के विरही 'घनानन्द' ने सचमुच अपनी मर्मव्यथा को बड़े करुण स्वर में व्यक्त किया । रत्नाकरजी की तो आत्मा ही स्वर्ग से उतर आयी थी । वही धुन, वही फबन, वही अकड़, वही ओज, वही हुंकार, वही झपटास । प्रसादजी तो अपने पड़ोसी ही की प्रतिभा में प्रकट हुए—श्री 'बेढव' जी उनके अन्तरंग मित्रों में थे, इसलिए उनकी ध्वनि ठीक उतार सके । वही मन्द-मन्द गजेन्द्र-गति उनके स्वर में थी ।

सब मिलकर कवि-दरबार के अधिकांश स्वांगों में बड़ी स्वाभाविकता रही । फिर प्रतिनिधि कवियों के कविता-पाठ में रायबहादुर पंडित श्रीनारायण चतुर्वेदी ने जमालगोटे की गोलियों से सबका अन्तरंग निखार-पखार कर उर्वर कर दिया । श्री वच्चनजी की मधुर स्वर-लहरी में लोग झूमने लग गये । पंडित श्यामनारायण पाण्डेय के 'जौहर' ने तो कमाल का जौहर दिखाया । उनकी ओजस्विनी कविता के चरणों में मृगेन्द्रता थी । श्रीमती सुभद्राकुमारी चौहान ने 'वीरों का कैसा हो वसन्त' में वस अन्त कर दिया । उनकी वाणी में बड़ी तेजस्विता थी । उनके कंठ-स्वर में पौरुष और पराक्रम की प्रगल्भता थी । अपनी 'झांसी की रानी' के आवेग में वे अन्तर्भूत जान पड़ती थीं ।

कवि-सम्मेलन से उठकर मैं सीधे स्टेशन भागा, दूसरे ही दिन कॉलेज में पहुंचना था; इसलिए रात का 'कालिदास' नाटक भी न देख सका । पर उत्सव में जो कुछ देखा, उससे वहुलांश में सन्तोष ही हुआ । उत्सव के आरम्भ में, प्रथम ही दिन, प्रमुख सभापति स्वामी भवानीदयालजी संन्यासी का भाषण बड़े मार्के का रहा । स्वामीजी सचमुच संन्यासी के स्वर में वोले । उस समय स्वामी आत्माराम[2]

स्वर्गीय लाला सीताराम अवधवासी के ज्येष्ठ सुपुत्र ।

१. वीसवीं सदी के आरम्भ में स्वामी आत्माराम संन्यासी के भाषणों की वड़ी

२. धूम थी । अत्यन्त वृद्ध होने पर भी वे उद्भट ओजस्वी, निर्भीक और स्पष्टवादी वक्ता थे ।

संन्यासी की याद आ गई। अस्वस्थ होने पर भी आद्यन्त भाषण एक स्वर से पढ़ सुनाया। बीच-बीच में 'सात्विक जीवन'-सम्पादक श्री गुप्तनाथ सिंहजी[1] उष्ण जल द्वारा उनमें संजीवनी-शक्ति का संचार करते जाते थे। स्वामीजी के सुन्दर गौर मुखमण्डल पर दाढ़ी की झांकी अपूर्व थी। कितनी ही परिचित आंखों को वह अपरिचित-सी प्रतीत होती थी, इसलिए उसमें एक प्रकार की विचित्रता दीख पड़ी।

सभा के उत्सव का साहित्यिक गौरव बढ़ानेवाले कुछ ग्रंथ भी उस अवसर पर दिखाई पड़े। पहले ही दिन, जब आचार्य शुक्लजी के वासस्थान पर साहित्यिक-समारोह हुआ, प्रोफेसर विश्वनाथप्रसादजी मिश्र ने आचार्य केशवप्रसादजी मिश्र के कर-कमलों में शुक्लजी की लिखी 'सूरदास' नामक नई पुस्तक लाकर अर्पित की जो उसी दिन प्रकाशित हुई थी। उपयुक्त अवसर की वह भेंट साहित्यिक दृष्टि से बड़े महत्त्व की सिद्ध हुई। फिर दूसरी पुस्तक थी 'आचार्य रामचन्द्र शुक्ल' जिसमें उसके सुयोग्य लेखक श्री शिवनाथजी ने प्रशंसनीय सहृदयता के साथ शुक्लजी के आदर्श जीवन और विराट् साहित्यिक महत्त्व पर अभिनव प्रकाश डाला। सभा के महोत्सव के शुभ अवसर पर ऐसी सर्वांगसुन्दर पुस्तक का प्रकाशन सर्वथा उपयुक्त कार्य हुआ। तीसरी पुस्तक भी ऐसी ही थी—'प्रसाद के नाटकों का शास्त्रीय अध्ययन', जिसमें उसके विद्वान् लेखक डॉक्टर जगन्नाथप्रसाद शर्मा ने प्रसादजी के नाटकीय कौशल का अत्यन्त विशद विवेचन किया। यह गवेषणा-पूर्ण ग्रंथ भी सभा के महोत्सव की शोभावृद्धि में सहायक सिद्ध हुआ। एक चौथी पुस्तक भी उस अवसर की स्मृति को चिरन्तन करनेवाली दीख पड़ी। वह थी प्रोफेसर विश्वनाथप्रसादजी मिश्र द्वारा सम्पादित 'घनानन्द कवित्त', जिसमें काव्य-मर्मज्ञ मिश्रजी ने 'घनानन्द' के सरस पदों पर विस्तृत टिप्पणियां दी थीं। महोत्सव-दर्शक प्रतिनिधियों को इस पुस्तक के दर्शन से सचमुच घना आनन्द प्राप्त हुआ।

अन्त में सभा के 'अर्द्धशताब्दी-इतिहास' का उल्लेख भी अत्यावश्यक है, जिसमें सभा का प्रामाणिक इतिवृत्त बड़े रोचक ढंग से प्रस्तुत किया गया था। यह हिन्दी के पिछले पचास बरसों के विकासक्रम का मार्मिक दिग्दर्शन करानेवाली थी। और, इसके साथ ही 'नागरी-प्रचारिणी पत्रिका' का विशेषांक भी महोत्सव-यात्रियों के लिए बड़ा आनन्दवर्द्धक सिद्ध हुआ। हां, 'सरस्वती' के विशेषांक का अभाव बहुतों को खलता रहा; क्योंकि सभा ही उसकी जननी थी। कुछ लोग यह भी कहते सुने गये कि 'सम्मेलन-पत्रिका' का भी एक विशेषांक इस अवसर पर

---

१. भभुआ-सबडिवीजन (शाहाबाद) के निवासी तथा बिहार-विधान-सभा के भूतपूर्व सदस्य।

निकलना चाहिए था, जिसमें 'सम्मेलन' का ही आद्योपान्त इतिहास होता; क्योंकि 'सम्मेलन' की जननी भी सभा ही है, और इस नाते वह 'सम्मेलन' की श्रद्धांजलि की अधिकारिणी भी है।

'द्विज' जी की विदाई

उस दिन अक्तूबर (१९४४ ई०) की दसवीं तारीख थी। मंगलवार का अपराह्न। छपरा जंकशन-स्टेशन पर सेकंड क्लास का रिजर्व डिब्बा पहले ही से खड़ा था। परमादरणीय भाई द्विजजी (पं० जनार्दनप्रसाद झा 'द्विज') का परिवार सवार हो चुका था। लगभग तीन बजे एक डाक गाड़ी आयी और उस डिब्बे को खींचकर ले भागी। मैं प्लेटफार्म पर विवश खड़ा था। खड़ा ही रह गया, ताकता ही रह गया, भाई द्विजजी की मंजुल मूर्ति आंखों से ओझल हो गई। मैं कवि नहीं हूं कि 'हिरदै से जब जाहुगे मरद बदौंगो तोहि' कहकर संतोष कर लूं। न मैं कल्पनालोक का विधाता हूं और न हृदय के भावों को शब्दों में अंटानेवाला कुशल शिल्पी। हृदय तो वार-वार अपने-आपमें टटोलता है और बिलखकर कहता है कि प्रेम के पिंजड़े का वह प्यारा पंछी किधर फुर्र से उड़ गया!

उधर प्लेटफार्म से गाड़ी सरकने लगी, इधर पैरों के नीचे की धरती खिसकती-सी जान पड़ी। मालूम हुआ, गाड़ी के साथ प्लेटफार्म भी चला। किन्तु प्लेटफार्म ऐसा सौभाग्यशाली न था। उसने अपनी थर्राहट को मेरे पैरों की राह सारे अंग में बिखेर दिया। लालसा थी; पर हाथ हिलाने की सुध ही न रही। मानो देखते-देखते हाथ साथ छोड़ गये। एकाएक हृदय भर आया। चेतना चम्पत हो गई। हाथ का छाता अनायास टेककर चकराता हुआ शरीर संभालने का प्रयास करने लगा। ऐसा कातर कभी न हुआ था। शायद ढलती उम्र की अशक्तता भावावेश के आकस्मिक आवेग से सहसा दहल गई। प्रेम की विह्वलता कहना तो दम्भ ही होगा।

धीरे-धीरे फाटक की ओर दबे पांव बढ़ा। बाहर निकलकर घर भी लौट आया। 'फिरेउ बनिक जिमि मूर गंवाई' सोचता ही रहा, बस सोचता ही रह गया। टोपी उतारने से पहले ही बिना बटन खोले, कुरता उतारने लगा। जब ध्यान आया, अनिच्छा की हंसी आ गई और उसके साथ ही आया आंखों में उफान। मन कदरा गया, आरामकुर्सी पर लेटे-लेटे पिछली स्मृतियों को कुरेदने लगा। कैसे थे वे दिन!

८

साहित्यिक यात्रा

जयपुर-नागपुर के यात्रा-संस्मरण

•

शिवपूजनसहाय के साहित्यिक जीवन की नींव तभी पड़ चुकी थी जब वे आरा में स्कूली छात्र के रूप में अपने शिक्षक एवं साहित्यिक गुरु पं० ईश्वरीप्रसाद शर्मा के साथ आरा की नागरी प्रचारिणी सभा के सार्वजनिक वाचनालय में बाबू शिवनंदनसहाय से मिले थे और उनका चरण स्पर्श किया था। 'रामचरितमानस' में अभिरुचि तो सात-आठ साल की उम्र में ही पिता एवं बहनोई की प्रेरणा से जागृत हो चुकी थी, शिवनंदनसहायजी के आशीर्वाद से वह उत्तरोत्तर विकसित हुई। साहित्य-प्रेम का बीज वहीं रोपित हुआ और उन सात्विक हिंदी-सेवियों से आशीषित होकर वह निरंतर पल्लवित-पुष्पित होता गया। अपने दीर्घ साहित्यिक जीवन में यों तो शिवजी ने अनेक ऐसी यात्राएं कीं जिनका प्रयोजन शुद्ध साहित्यिक था, किन्तु 'साहित्यिक यात्रा' से उनका अभिप्राय निश्चय ही ऐसी यात्राओं से रहा जिनका उद्देश्य मात्र साहित्यिक नहीं था, वरन् जिसमें साहित्यिक मित्रों के साथ शुद्ध साहित्यिक हास-परिहास के वातावरण में यात्रा हुई। ऐसी यात्राओं में सर्वप्रथम थी आरा से साहित्यिक मंडली के साथ हिन्दी साहित्य सम्मेलन के पांचवें अधिवेशन के लिए लखनऊ-यात्रा एवं वापसी में अयोध्या की यात्रा (१९१४)। फिर अगले ही वर्ष छठे अधिवेशन के लिए प्रयाग-यात्रा। ऐसी तीसरी यात्रा हुई १९१८ में जब पं० ईश्वरीप्रसाद शर्मा के बुलावे पर शिवजी आगरा गये और

वहां से सदल-वल दिल्ली होते हुए मथुरा-वृन्दावन की यात्रा पर गये। इसके वाद भी ऐसी कई यात्राएं हुईं किन्तु उनका विशेषोल्लेख उन्होंने नहीं किया है। जयपुर की पहली यात्रा 'मतवाला' के लिए धन-संग्रह के उद्देश्य से १९२३ में हुई थी, फिर दूसरी यात्रा १९४४ में हुई जव वे अखिल भारतीय हिन्दी साहित्य सम्मेलन के जयपुर-अधिवेशन में साहित्य-परिषद् के अध्यक्ष के रूप में वहां आमंत्रित हुए थे। जयपुर की तीसरी यात्रा का प्रयोजन यद्यपि साहित्यिक नहीं था—उसमें राजेन्द्र कॉलेज की ओर से एक शिष्टमंडल राजेन्द्र विश्वविद्यालय वनाने की अपील पर देश के प्रमुख नेताओं का हस्ताक्षर-समर्थन प्राप्त करने के उद्देश्य से जयपुर कांग्रेस अधिवेशन में भेजा गया था—तथापि सहयात्रा का परिवेश साहित्यिक ही था। इसी तरह नागपुर की यात्रा १९५० में विहार के तत्कालीन शिक्षामंत्री आचार्य वदरीनाथ वर्मा तथा पं० छविनाथ पांडेयजी के साथ हुई। जयपुर एवं नागपुर की इन यात्राओं का विवरण ही यहां प्रस्तुत है।

•

जयपुर-यात्रा

सन् १९२३ में 'मतवाला' निकला था। दो-तीन अंक छपने के वाद मैं धनी-मानी मारवाड़ी सज्जनों से सहायता लेने के लिए वाहर निकला। जहां-जहां मारवाड़ी धनिकों के गढ़ हैं वहां-वहां गया। उसी लम्वी यात्रा में पहले-पहल जयपुर जाना पड़ा। उस समय जयपुर-सेण्ट्रल जेल के सुपरिंटेंडेंट थे श्री नवरंग रायजी खेतान, जो श्री देवीप्रसाद खेतान के पिता थे। कलकत्ता का खेतान परिवार लक्ष्मी और सरस्वती दोनों का कृपापात्र है। श्री कालीप्रसाद खेतान वैरिस्टर और श्री दुर्गाप्रसाद खेतान एडवोकेट 'मारवाड़ी-सुधार' के लेखक थे। श्री देवीप्रसाद खेतान सब भाइयों में बड़े थे। उनकी चिट्ठी के साथ जव मैं जयपुर गया तो श्री नवरंग रायजी खेतान की कोठी में ठहरा। वह भी विहार में पहले रह चुके थे। वक्सर-सेण्ट्रल जेल के जव वे सुपरिंटेंडेंट थे, तव उनके ज्येष्ठ सुपुत्र श्री देवीप्रसाद खेतान का शुभ जन्म यहीं हुआ था। मुझे वक्सर-सव-डिवीजन का निवासी जानकर वह वहुत प्रसन्न हुए। उन्होंने जयपुर के धनाढ्य रईसों और हिन्दी-प्रेमियों के नाम मुझे परिचय-पत्र दिये। वहां अनेक संरक्षक, सहायक

और ग्राहक मिले।

जयपुर-नगर के परिदर्शन के लिए उन्होंने सवारी और पथ-प्रदर्शक का प्रबन्ध कर दिया। जयपुर के महल, मन्दिर, उद्यान, म्युजियम (संग्रहालय) आदि दर्शनीय स्थानों को दो-तीन दिन तक घूम-घूमकर मैं देखता रहा। सेण्ट्रल जेल को भी देखा। स्वर्गीय महाराजाओं और महारानियों की छतरियां (समाधियां) भी देखीं। श्री गोविन्दचन्द्र देवजी का मन्दिर, चन्द्रमहल, रामनिवास बाग आदि देखकर अपने देश के रजवाड़ों के वैभव पर बड़ा विस्मय हुआ। उक्त बाग में जो म्युजियम देखा उसकी शोभा-सम्पत्ति का विस्तृत वर्णन यहां संभव नहीं। उसकी दीवारों पर बने एक-से-एक सुन्दर चित्र बड़े ही आकर्षक हैं। स्वर्गीय जयपुर-नरेशों के चित्र अत्यन्त भव्य और प्रभावशाली हैं। उनके शरीर का सौन्दर्य बस देखते ही बना। उनके गौरवपूर्ण व्यक्तित्व से मानो राजपूती शान टपकती थी। म्यूजियम के संगमरमरी गुम्बद और कलश अत्यन्त आकर्षक हैं। जयपुर की कलाओं और राजस्थान की विभूतियों के दर्शन से चित्र मुग्ध हो गया।

छतरियों की छटा निराली थी। उनमें एक छतरी राज्य के प्रिय हाथी की देखी। उसकी समाधि पर काले पत्थर का एक विशाल गजराज खड़ा है। वह तेलिया पत्थर धूप में खूब चमकता था। छतरियों के बदले अगर स्वर्गीय नरेशों के अन्य प्रकार के लोकहितकर स्मारक बने होते तो देश का कहीं अधिक उपकार होता। उन लाखों-करोड़ों रुपये से जनता की भलाई के बहुतेरे अच्छे काम हो सकते थे। जयपुर में जहां विपुल ऐश्वर्य देखा, वहीं गरीबी और गन्दगी में सनी हुई अभावग्रस्त जनता भी देखने में आयी। उस समय महाराज माधवसिंहजी गद्दी पर थे। उनके शौर्य-वीर्य की रोमांचकारिणी कहानियां भी सुनने में आयीं। एक दिन गढ़ से उनकी शानदार सवारी निकली तो देखकर दंग रह गया। यह शान-शौकत इस युग में अब पुरानी कहानी हो गयी।

राज्य का पुस्तकालय भी देखने की चीज है। वह तो राष्ट्रीय सम्पत्ति होने योग्य है। उसी में पहले-पहल 'बिहारी-सतसई' की कई मूल प्रतियों के दर्शन हुए। अनेक अलभ्य प्राचीन ग्रन्थों को सुरक्षित और हस्तलिखित पोथियों का सुनहरा सौन्दर्य देखकर बड़ा गर्व हुआ। यदि वैसा अमूल्य संग्रह अनुसन्धानशील विद्वानों को सुलभ होता तो साहित्य की समृद्धि-वृद्धि में बड़ी सहायता मिलती। उस समय पता लगा कि इस संग्रह का सार्वजनिक सदुपयोग नहीं होता। मुझे तो श्री खेतान की कृपा से आज्ञा मिल गयी थी। उन्हीं के आदेश से सेण्ट्रल जेल में दरी-कालीन आदि को बनते देखा। उनकी कोठी में भी जेल की बनी कई चीजें थीं। दरी-कालीन की मजबूती और खूबसूरती सराहनीय थी। उसी समय पहले-पहल जेल के अन्दर प्रवेश करने का अवसर मिला था। कैदियों में बहुत-सी स्त्रियां भी थीं, जो चरखे और करघे पर काम कर रही थीं। कुछ कैदियों

की करुण-कातर दृष्टि देखी नहीं गयी और कुछ तो भयानक भी लगे।

अन्तिम दिन प्रातःकाल 'गलता नाला' देखने गया और सन्ध्या समय अम्बरगढ़ का किला। पहाड़ के अन्दर से एक गोमुखी द्वारा विमल जलधारा निकलकर कुण्ड में गिरती है जिसमें स्नान करना बड़ा आनन्दप्रद प्रतीत होता है। वहां पहाड़ की गोद में कुछ बस्तियां भी नजर आयीं। स्थान बड़ा रमणीय है। वहां पहुंचने का रास्ता भी बड़ा सुहावना है। वह एक प्रसिद्ध तीर्थ है। उसका रोचक इतिहास भी है। अम्बरगढ़ या आमेरगढ़ का किला पर्वत-मेखला के मध्य में है। किन्तु पर्वत-प्राचीर काटकर एक जगह प्रवेशद्वार बना दिया गया है। कहते हैं कि सम्राट् पंचम जार्ज की मोटर को किले के भीतरी द्वार तक पहुंचाने के लिए ऐसा अनर्थ किया गया था। वह दुर्भेद्य दुर्ग सर्वथा अरक्षित हो गया। उसके चतुर्दिक् पर्वत-श्रेणी की शोभा अत्यन्त भव्य है। उसके मुख्य द्वार पर दुर्गेश्वरी भवानी का मन्दिर है, जहां राजपूत वीर अपनी तलवार कालीजी के चरणों में रखकर शपथपूर्वक शस्त्र ग्रहण करके रणयात्रा करते थे। किले की दृढ़ता और सुन्दरता बस देखने ही योग्य है। एक जगह राजा के भोजनालय की दीवारों पर भारत के सभी तीर्थों के रंग-बिरंगे चित्र अंकित हैं। रनवास की दीवारों में कांच और शीशे के टुकड़े जड़े हैं जहां दियासलाई जलाने पर चारों ओर जगमगाहट छा जाती है। कहते हैं कि कांच की जगह पहले हीरे-जवाहरात जड़े थे। जो हो, आगरा के किले में भी एक कमरा ऐसा ही देखा था। किन्तु दिल्ली और आगरा के किले से यह कहीं अधिक भड़कीला और दुर्गम है। जयपुर शहर के अन्दर से उसका शिखर नजर आता है; पर ज्यों-ज्यों आदमी उसकी ओर आगे बढ़ता जाता है त्यों-त्यों उसका शिखर पर्वत-मेखला के भीतर डूबता और आंखों की ओट होता जाता है। उसके प्रशस्त आंगनों और दालानों में घूमते समय प्राचीन वैभव एवं गौरव की बातें याद आने लगती हैं—जाग्रत दशा में भी सुनहरे सपने सूझने लगते हैं।

जयपुर की दूसरी यात्रा सम्भवतः सन् १६४४ में हुई—बाईस-तेईस वर्ष बाद। अखिल भारतीय हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन का अधिवेशन पूज्य गोस्वामी गणेशदत्तजी के सभापतित्व में वहीं हुआ था। मैं वहां साहित्य-परिषद् का अध्यक्ष चुना गया था। मैं अस्वस्थ था, किन्तु अपने पुराने साहित्यिक मित्र पंडित वाचस्पति पाठक का आग्रह टाल न सका। भाषण लिखना पहाड़ हो गया। एक दिन दो बजे रात तक लिखता रहा। दूसरे दिन तबीयत खराब हो गयी। दो दिन काम पिछड़ गया। एक रोज कमरा बन्द कर दिन में ही लिखने बैठा। किन्तु दिन-दुल्लह को बाधा-वधू के बिना चैन कहां? आखिर फिर रात में ही

जाकर लिखना पड़ा। छपरा के वाणी-मन्दिर प्रेस ने बड़ी सहायता की। मैं जो लिखता गया, उसे देता गया। अन्त में प्रेस में ही जा बैठा। वहां भी रतजगा करना पड़ा। अन्तिम दिन अन्दाज लगा कि मैटर बहुत ज्यादा बढ़ गया, प्रस्थान के समय तक किसी तरह न छप सकेगा, कॉपी और प्रूफ में हत्याकाण्ड मचाकर आधी रात को घर लौटा। पानी बरस रहा था। ऊपर अन्धकार, नीचे छपरा की नुमाइशी सड़क; चप्पल ने चन्दन छिड़क खूब पीठ-पूजा की। कॉलेज में दशहरे की छुट्टी थी। दूसरे ही दिन सुबह की गाड़ी से जयपुर के लिए कूच करना था। यात्रा-चिन्ता से नींद खटक-सीताराम हुई। सब जरूरी सामान सहेजने-सरियाने लगा। वर्षा कहती थी कि बस आज ही बरसूंगी। तड़के ही नित्यकृत्य से निबट स्टेशन चला। उस समय कोई सवारी कहां मिलती, पैदल ही एक मील का जलमग्न रास्ता नापना पड़ा—समुद्र थाहना पड़ा। अपने पुराने नौकर बैजनाथ के सिर पर सामान रख राजेन्द्र पुस्तकालय (छपरा) के प्रधानमन्त्री श्री केदारनाथ अग्रवाल के साथ ज्योंही स्टेशन पहुंचा, गाड़ी आ धमकी। झटपट गाड़ी में सवार होते ही प्रेस के आदमी ने छपे भाषण का बंडल डिब्बे में पटक दिया। गाड़ी चल पड़ी, पानी पट पड़ गया, मानो प्रकृति परीक्षा ले रही थी।

परीक्षा तो इससे पहले भी हुई थी। मेरे मातृहीन बच्चे-बच्चियों की देखभाल करने वाला कोई न था, इसलिए मैं हताश हो गया था कि अब किसी तरह जयपुर पहुंच न सकूंगा। बिहार-सरकार के पब्लिसिटी-अफसर श्री उमानाथ और 'आर्यावर्त' के सहकारी सम्पादक श्री जयकान्त मिश्र छपरा पहुंचकर मेरी विवशता देख गए थे। श्री उमानाथ ने अपने उत्साही अनुज श्री शंकरनाथ को मेरे बच्चों के ननिहाल भेजकर संरक्षक बुलाने का प्रबन्ध कर दिया। यदि वह इतनी कृपा न करते तो मैं किसी प्रकार जयपुर न जा पाता। खैर, दशहरे की तातील के कारण गाड़ी में इतनी भीड़ थी कि छपरा से काशी तक और बनारस छावनी से कानपुर तक मुश्किल से बिस्तर के बंडल पर बैठने की गुंजाइश हो सकी। कानपुर के बाद कुछ अवकाश मिला। दूसरे दिन अपराह्न में दिल्ली पहुंचा। बनारस और दिल्ली में कुलियों ने अच्छी तरह मूंड़ा। आखिर वेटिंग-रूम में ही स्नान-ध्यान के बाद अन्नदेव के दर्शन हुए[1]। मेरी लड़कियों ने खाने का सामान काफी दे दिया था।

---

१. 'बिहार की साहित्यिक प्रगति' शीर्षक लेख जो सा० 'हुंकार' (१५ अक्टूबर १९४४) में प्रकाशित हुआ था। इसी यात्रा के समय मार्ग में ही लिखा गया था।—सं०

सन्ध्या से पूर्व जब जयपुर की गाड़ी में सवार होने गया तो देखा कि आचार्य चन्द्रबली पाण्डेयजी (वर्तमान-सम्मेलनाध्यक्ष) वहीं विराज रहे हैं। रास्ते में उनके सत्संग से बड़ा लाभ और सुख हुआ। रात में पिछले पहर जयपुर में उतरे। स्टेशन पर कोई मार्ग दर्शक नहीं। तांगेवाला कुछ जानकार निकला। सम्मेलन के पण्डाल से थोड़ी ही दूर पर संस्कृत-कॉलेज के भवन में (हवामहल के सामने) पड़ाव पड़ा। पूज्य पाण्डेयजी भी साथ ही एक कमरे में ठहरे। दूसरे दिन भोर में श्री उमानाथ वहीं मिल गये। लोकमान्य समिति (छपरा) के पं० सतीशचन्द्र शर्मा भी मिले। विहार और बाहर के सुपरिचित साहित्यिकों से मिलकर बड़ा सन्तोष हुआ। स्नान-ध्यान के बाद सभापतिजी के दर्शन कर आया। श्रद्धेय पं० बनारसीदास चतुर्वेदी और पं० झावरमलजी शर्मा के दर्शन का सौभाग्य अनेक वर्षों के पश्चात् सुलभ हुआ।

सम्मेलनाध्यक्ष का जुलूस राजमाता की अचानक मृत्यु के कारण नहीं निकल सका। वर्तमान जयपुर-नरेश भी सम्मेलन में न पधार सके, उनका सन्देश छपकर वितरित हुआ। खुले अधिवेशन और विषय-निर्वाचन-समिति अनेक साहित्य-सेवियों से मुद्दत के बाद भेंट हुई। डॉक्टर रामकुमार वर्मा से कुछ साहित्यिक चर्चा भी हुई। देखा कि मतभेदों का अखाड़ा पसीने से सींचा जा रहा है। राजर्षि टण्डनजी बढ़ते हुए विन्ध्य को निबारने वाले अगस्त्य थे। साहित्यिक दंगल का भी अपना एक निराला रंग होता है।

दूसरे दिन कौंसिल हॉल में साहित्य-परिषद् की बैठक हुई। मैंने अपना मुद्रित भाषण पढ़ना शुरू किया। किन्तु अस्वस्थता के कारण ऊंचे स्वर से न पढ़ सका। अतः पंडित सीतारामजी चतुर्वेदी ने पूरा भाषण पढ़ सुनाया। कौंसिल-भवन के सामने सहन में प्रतिनिधियों का परस्पर परिचय और मिलन हुआ। उसी समय राज्य के दीवान सर मिर्जा इस्माइल के साथ सब साहित्य-सेवियों का फोटो लेने के लिए बुलाहट हुई। 'साहित्य-सन्देश'-सम्पादक श्री गुलाबरायजी के साथ मैं उधर गया सही, मगर दीवान साहब से हाथ मिलाने के बाद बंधी कतार के पीछे से हम लोग खिसक गए। सामने का मनोहर पहाड़ी दृश्य देखते हुए हम लोग नीचे उतर आये। रात के कवि-सम्मेलन में चूरू (बीकानेर) के नवयुवक कवि 'श्री मुकुल' ने खूब रंग जमाया। हमारे दिनकरजी तो सर्वत्र ही सर्वोपरि विराजते हैं। उन्हें खूब तालियां मिलीं।

तीसरे दिन मेरे कलकत्ता-प्रवास-काल के मित्र श्री धर्मचन्द्र खेमका मिल गये, रतनगढ़ (बीकानेर) के निवासी पुराने लेखक। उनका साग्रह स्वागत-सत्कार शिवजी की विमल बूटी से शुरू हुआ और आमेरगढ़ के किले पर मधुरेन समाप्त हुआ। विचार था कि मित्रवर श्री गोपाल नवेटिया के गांव फतहपुर (शेखावाटी) जाकर वहां सरस्वती-पुस्तकालय अवश्य देख लूं, पर अपने एकाकी बच्चों की

चिन्ता छपरा की ओर बलपूर्वक खींच रही थी। नवलगढ़ (जयपुर) के हिन्दी-प्रेमी वहां चलने का बड़ा आग्रह कर रहे थे। और भी कई जगहों से प्रेमपूर्ण निमन्त्रण मिला, पर मैं ठहर न सका। जयपुर के राज-सम्मानित प्रतिष्ठित रईस कविराज प्रतापनारायणजी ने अपनी पुस्तकें मेरे पास भेज दीं, पर मैं उनके दर्शनार्थ निकलकर भी एक दुर्लभ-दर्शन जयपुरिया मित्र के फेरे में पड़ गया। चौमूं (जयपुर) के वयोवृद्ध साहित्यिक पंडित हनुमान शर्मा ने भी अपनी पुस्तकें मेरे पास भेजी थीं और लखनऊ की 'माधुरी' में काम करने के समय से ही उनसे पत्राचार था, पर साहित्यिकों की मण्डली में पड़कर वनस्थली की ओर चला जाना पड़ा। ये दोनों कृतघ्नताएं बराबर सालती रहीं।

तीसरी यात्रा जयपुर-कांग्रेस के समय हुई। राजेन्द्र कॉलेज की विकास-समिति का मैं अध्यक्ष था। उसमें एकाएक निश्चित हुआ कि राजेन्द्र विश्वविद्यालय के लिए, अपील पर राष्ट्रपति आदि प्रमुख नेताओं के हस्ताक्षर कराने के निमित्त, एक शिष्टमण्डल भेजा जाए। छपरा से जयपुर तक एक स्पेशल ट्रेन गयी थी, जिसका प्रबन्ध शायद प्रान्तीय कांग्रेस की ओर से हुआ था। छपरा के कांग्रेस-मन्त्री श्री रामानन्दसिंह की सहायता से जगह मिल गयी। साइन्स-विभाग के प्रोफेसर श्री भोला बाबू के साथ मैं भी चला। बिहार के प्रतिनिधियों में बहुतेरे परिचित भी मिल गये। छपरा के वकील श्री ईश्वरी बाबू बड़े मजेदार साथी मिले। रास्ता बड़ी मौज में कटा। एक जगह किसी कारण अचानक गाड़ी रुकी, तो सामने ही अमरूद के बाग पर कुछ प्रतिनिधियों ने धावा बोल दिया। उन लोगों ने मधुवन के फल खूब खाये। दांतों के बिना मैं गाड़ी में बैठा सिर्फ तमाशा देखता रहा। बड़े-बड़े बहुरंगी तरंगी जीव उस स्पेशल में थे।

जयपुर पहुंचकर पहले बिहार-कैम्प में उतरे। उसके बाद प्रसिद्ध कलाकार श्री उपेन्द्र महारथी के कला-मण्डल में चले गये। वह बिहार सरकार की ओर से उद्योग-विभाग की बहुत-सी चीजें प्रदर्शन के लिए ले गये थे। भारत के अनेक प्रान्तों के नर-नारी उन चीजों की प्रशंसा करते नहीं अघाते थे। मिथिला की बनी सींक की डलियां-चंगेली आदि पर स्त्रियां विशेष मुग्ध थीं।

हम लोग अपने कॉलेज की शासन-समिति के अध्यक्ष श्री महामायाप्रसाद सिंह के साथ एक दिन भोर में राष्ट्रपति डॉक्टर पट्टाभि सीतारमैया से मिले। उन्होंने राजेन्द्र विश्वविद्यालय की अपील पर हस्ताक्षर कर दिए। आचार्य कृपलानी ने तो विनोदपूर्ण ढंग से सिर्फ वादा किया। डॉक्टर किचलू और प्रोफेसर रंगा ने सहर्ष हस्ताक्षर कर दिये। लौटती बार दिल्ली में माननीय श्री जयरामदास दौलतराम और श्री जगजीवनराम से भी महामाया बाबू के साथ हम लोग मिले। दोनों ने पूरी सहानुभूति दिखाई। श्री जयरामदास ने बहुत-से

सुझाव दिये। उनके परामर्श वड़े अमूल्य थे। गांधी-सिद्धान्तों पर वने विश्वविद्यालय की आवश्यकता सवने वतलायी। सवने इसको पसन्द किया कि देशरत्न राजेन्द्रप्रसादजी के नाम पर ही गांधीवादी विश्वविद्यालय स्थापित हो सकता है। अव तो ईश्वर ही जानता है कि छपरा का राजेन्द्र कॉलेज कव तक गांधी सिद्धान्तों की नींव पर विश्वविद्यालय के रूप में परिणत होगा।

नागपुर-यात्रा

सन् १९४९ के दिसम्वर के अन्तिम सप्ताह में विहार के शिक्षा-सचिव श्रीमान माथुर साहब का तार मिला कि जनवरी, १९५० की पहली तारीख को शाम की गाड़ी से, विहार के शिक्षा मन्त्री माननीय आचार्य वदरीनाथ वर्मा के साथ, उनके सलाहकार (ऐडवाइजर) होकर नागपुर जाना होगा। तार के पहले एक पत्र भी मिल चुका था। उससे पता चला था कि नागपुर में मध्यप्रदेश की सरकार की ओर से राष्ट्रभाषा प्रमाणीकरण-परिषद् का अधिवेशन ४ जनवरी से होने वाला है। अतः राजेन्द्र कॉलेज, छपरा से छुट्टी लेकर ३१ दिसम्वर, १९४९ को मैं पटना पहुंच गया।

पहली जनवरी (१९५०) को रविवार था। शाम को पटना-जंकशन स्टेशन पर पहुंच गया। वहां विहार के वयस्क-शिक्षा-संघ के प्रकाशन-अफसर पंडित पाण्डेयजी मिल गए। मालूम हुआ कि वह भी वहां जा रहे हैं। यह जानकर बड़ा सन्तोष और ढाढ़स हुआ। श्रीमान् पाण्डेयजी के साथ रहने से लम्वे सफर में वड़ा आराम रहा। मौका पड़ने पर उनसे काफी मदद भी मिली। ठीक समय पर माननीय शिक्षा मन्त्री आचार्यजी की मोटर आ धमकी। प्लेटफार्म के एक छोर पर लगे रिजर्व डिव्वे में सवका सामान रखा गया। अव्वल दर्जे के उस डिव्बे में चार सीटें थीं। नीचे की दो सीटों पर माननीय आचार्यजी और पाण्डेयजी का विस्तर बिछा। ऊपर की सीटों पर माननीय आचार्यजी के अंगरक्षक महाशय और मैंने आसन जमाया। छह वजे के बाद एक्सप्रेस में डिव्बा जुड़ा। गाड़ी चल पड़ी। मोकामा स्टेशन पर भोजन होने लगा। मुझे तो रविवार के कारण अलोना भोजन करना था। आचार्य के साथ घर की वनी काफी भोजन-सामग्री थी। अलोनी चीजें नमकीन से अलग भी थीं। मुझे पर्याप्त प्रसाद मिल गया। खाते-खाते पुरानी स्मृतियां जाग उठीं।

लगभग सन् १९१४-१५ की बात याद आयी। लखनऊ में अखिल भारतीय हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन का पांचवां अधिवेशन होने वाला था। मैं आरा के एक हाई-स्कूल में हिन्दी-शिक्षक था। आरा से साहित्यिक प्रतिनिधि चले। श्रीव्रजनन्दन सहाय, श्री अवधविहारी शरणजी, पंडित ईश्वरीप्रसाद शर्मा आदि के साथ मैं भी

चल पड़ा। उस दल में माननीय आचार्यजी भी थे। उस समय आप पटना के बिहार नेशनल कॉलेज़ में प्रोफ़ेसर थे। जाते-आते रास्ते में बड़ा आनन्द रहा। लौटती बार हम लोग अयोध्या में उतरे। भक्तप्रवर श्री रूपकलाजी के दर्शनों का सौभाग्य प्राप्त हुआ। उन दिनों वह हनुमन्निवास में रहते थे। उस समय आचार्यजी में जैसी सरलता, सरसता और सहृदयता थी वह सदा वैसी ही रही। उनकी मिलनसारी से कौन परिचित नहीं !

सुबह होने से कुछ पहले ही हावड़ा-स्टेशन पर नींद खुली। देखा, 'विश्वमित्र' के संचालक मूलचन्दजी अग्रवाल डिब्बे में खड़े हैं। पाण्डेयजी ने उनको पहले ही खबर कर दी थी। उनकी शानदार मोटर ने जब उनकी आलीशान कोठी में पहुंचाया तब फिर पुरानी स्मृतियां जाग उठीं।

मैं 'मतवाला'-मंडल (कलकत्ता) में था। असहयोग-आन्दोलन का युग था। बड़ा बाजार में अफीम चौरस्ते के पास एक मकान में छापाखाने का कुछ सामान था। शायद मशीनें न थीं। 'विश्वमित्र' कम्पोज होकर कहीं और छपता था। फिर 'लिबर्टी' नामक अंग्रेजी दैनिक निकला था। अभावों और कठिनाइयों से घोर संघर्ष करते हुए घोर साहसी मूलचन्दजी ऐसे स्वावलम्बी बने कि उनका अध्यवसाय तथा उत्साह एक पाठ बन गया।

सफेद संगमरमर की सीढ़ियों और रंग-बिरंगे संगमरमर से बने कमरों के चित्रित फर्श तथा एक-से-एक सुन्दर असबाब उस कोठी के श्रृंगार थे। भाग्य भी पुरुषार्थी पुरुष का ही साथ देता है। भोजन के समय चांदी के तश्त और प्याले संगमरमर की मेज पर चमकते थे। ईश्वर की विचित्र लीला है। एक तरफ इतना विपुल ऐश्वर्य, दूसरी तरफ देश में फैली हुई दर्दनाक गरीबी के दिल दहलाने वाले दृश्य ! इस विषमता को दूर करने के शुभ प्रयत्न बहुत हो रहे हैं; क्योंकि इस वैज्ञानिक एवं बौद्धिक युग में पुराकृत कर्मों के परिणाम अब विश्वसनीय नहीं रह गए।

मूलचन्दजी का आतिथ्य साहित्यिक ढंग का रहा। उसमें आत्मीयता अधिक थी। उन्होंने बहुत दूर तक मोटर की सैर करायी। अपनी ओर से हम लोगों को एक पुस्तक भेंट की, जिसमें उनके पत्रकार-जीवन के अनुभव अंकित हैं। मैं पाण्डेयजी के साथ कालीघाट जाकर भगवती महाकाली के भी दर्शन कर आया। इतने में दक्षिण-हैदराबाद के साहित्य-सम्मेलन से लौटे हुए पंडित भगीरथप्रसाद दीक्षित वहां आ पहुंचे। मूलचन्दजी का घर साहित्यिकों की अतिथिशाला के रूप में दीख पड़ा। सुना कि साहित्यिकों के लिए उनका द्वार सदा खुला रहता है। दीक्षितजी से प्रयाग के साहित्य-सम्मेलन की स्थिति सुनकर ध्यान में आया कि आज के हम साहित्यनामधारियों में स्वार्थपरता और पारस्परिक ईर्ष्या-द्वेष की वृद्धि कितनी अधिक मात्रा में हो गई है !

वहीं पर एक युवक चित्रकार भी आ मिले। वह स्वनामधन्य स्वर्गीय चित्रकार प्रोफ़ेसर ईश्वरीप्रसाद वर्मा के पौत्र थे। नाम अब याद नहीं। उनसे यह सुनकर बड़ा दुःख हुआ कि स्वर्गीय वर्माजी की सारी कला कृतियां गायब हो गईं। जीते-जी उन्होंने अपने परिवार के लड़कों को भी अपनी कला की बारीकियां नहीं बतलायीं—अपनी उत्कृष्ट कला की एक भी निशानी अपने परिवार में नहीं रहने दी। मरते दम तक अपने कला-संग्रह का सन्दूक अपने सिरहाने रखे रहे, जो उनके मरते ही किसी ऐसे चतुर लोभी के हाथ लग गया जो पहले से ही उसकी ताक में था। वह अपनी कला-मर्मज्ञता अपने साथ ही लेते गए।

जब पंडित छविनाथ पाण्डेय बिहार प्रादेशिक हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन के मंत्री थे, उपर्युक्त प्रोफ़ेसर वर्मा ने मुझसे यह इच्छा प्रकट की थी कि सम्मेलन को अपने सभी चित्र दे देंगे और उनके नाम पर सम्मेलन-भवन में एक कला-संग्रहालय रहेगा तथा वह स्वयं भी सम्मेलन-भवन में ही रहेंगे। यहां तक कि मेरे साथ सदाकत-आश्रम जाकर पूज्य राजेन्द्र बाबू के सामने भी उन्होंने यह इच्छा प्रकट कर दी और पूज्य बाबू का आशीर्वाद भी मिल गया तथा पाण्डेयजी ने सम्मेलन-भवन में उनके पास रहने के लिए एक कमरा भी सुसज्जित कर दिया; किन्तु वह कहीं भी स्थायी निवास न बना सके, इधर-उधर भटकते फिरे। सुप्रसिद्ध चित्रकार श्री उपेन्द्र महारथी उनको अपने साथ बड़ी श्रद्धा से रखना चाहते थे। मैंने उनसे कहा भी कि अपनी पुरानी कला वर्तमान सर्वश्रेष्ठ कलाकार महारथीजी को सिखला दीजिए; पर उन्होंने अपने पुत्रों और पौत्रों को तो अपना हुनर सिखलाया ही नहीं, दूसरों को भला कैसे सिखलाते! स्वर्गीय वर्माजी ने अपनी कला की खूबियां अपने किसी श्रद्धालु शिष्य को भी नहीं सिखलाईं। भारतीय उस्तादों की यह परम्परागत नीति अत्यन्त संकीर्ण है। कितने ही कलावन्त और गुणी अपना कलात्मक चमत्कार अपने ही साथ लेते गए। सुपात्र पाकर भी जो कला का वरदान नहीं करता वह इन्साफ के रोज क्या जवाब देता होगा!

दूसरे दिन आठ बजे रात के बम्बई-मेल से नागपुर की ओर प्रस्थान हुआ। इसमें भी अव्वल दर्जे का रिजर्व डिब्बा था। तीसरे दिन रास्ते में डूंगरगढ़ स्टेशन पर भोजन हुआ। रायगढ़ स्टेशन देखकर 'छत्तीसगढ़' के सम्पादक मित्रवर पं० मनोहरप्रसाद मिश्र की याद हो आयी। इसी प्रकार छिन्दवाड़ा स्टेशन देखते ही स्वर्गीय छेदीलालजी बैरिस्टर का स्मरण हो आया, जो एक बार बिहार प्रान्तीय सेवा-समिति के वार्षिकोत्सव में सभापति होकर मुजफ्फरपुर पधारे थे। बिलासपुर स्टेशन पर पहुंचते ही बालपुर-निवासी पंडित लोचनप्रसाद पाण्डेय का ध्यान बंध गया, जो काव्यानुशीलन के अतिरिक्त पुरातत्त्वानुसंधान में भी कीर्ति-लाभ कर चुके हैं। राजगांव-स्टेशन मिला तो साहित्यमूर्ति श्रीपदुमलाल पुन्नालाल बख्शी की वह औलिया फकीर-जैसी सूरत याद पड़ गई जो द्विवेदी-युग की 'सरस्वती' के

कार्यालय में कभी दीख पड़ी थी। इस तरह कई पुराने साहित्यसेवियों की स्मृतिधारा में अवगाहन करते और सघन-वनश्री-मण्डित पर्वतश्रेणियों की शोभा निरखते आंखें निद्रालु हो गईं। तब तक गाड़ी नागपुर स्टेशन पर जा लगी। वहां माननीय आचार्यजी के स्वागतार्थ सरकारी अफसर मौजूद थे। सरकारी मोटरें भी बाहर खड़ी थीं। हम लोग मध्यप्रदेश के मुख्यमंत्री माननीय पंडित रविशंकर शुक्ल की कोठी में पहुंचाये गए। शुक्लजी का व्यक्तित्व बड़ा आकर्षक था। गोरा, लम्बा, तगड़ा शरीर और बड़ी-बड़ी सफेद मूंछों से सुशोभित भव्य मुखड़ा बड़ा प्रभावशाली प्रतीत हुआ। उनका सौजन्य और सौहार्द्र तो कभी भूलने का नहीं। हंसते-हंसते बातें करते; अपने पोते को गोद लिये चले आते और नाश्ता करने के लिए खुद साथ बुला ले जाते; हर कमरे में खुद पहुंचकर सुख-सुविधा की बात पूछते; माननीय आचार्यजी के साथ बैठकर घरेलू सुख-दुःख भी बतियाते; दिन और रात के भोजन के लिए भी स्वयं ही बुलाने पहुंच जाते; नाश्ता और भोजन के समय भी बच्चों से मन बहलाया करते; गजब की अपनैती उनके बर्ताव में थी। भोजनालय विशुद्ध भारतीय ढंग का था। उनके ज्येष्ठ सुपुत्र पं० अम्बिकादत्त शुक्ल आकर घंटों बैठते और राजनीति तथा समाजनीति पर अपने क्रांतिकारी विचार प्रकट कर हम लोगों का खूब मनोरंजन करते। एक दिन वह पाण्डेयजी के साथ मुझे भी मोटर से बहुत दूर घुमाने ले गये—जंगल, झील, पहाड़, प्रान्तर आदि दिखलाये। प्राकृतिक दृश्य बड़ा मनोहर था। फिर एक दिन माननीय पं० द्वारकाप्रसाद मिश्र के पास भी ले गये। मिश्रजी ने पाण्डेयजी को और मुझको अपने काव्य-ग्रन्थ 'कृष्णायन' की एक-एक प्रति दी तथा शिक्षा एवं साहित्य के सम्बन्ध में बिहार की प्रगति पूछी।

चौथी तारीख को लगभग मध्याह्न में हम लोग नागपुर के हवाई अड्डे पर गये। मद्रास से डकोटा विमान द्वारा पूज्य राजेन्द्र बाबू आये। हवाई अड्डा अत्यन्त विस्तृत है। विमान पृथ्वी पर उतरकर दौड़ने लगा। उसके रुकते ही राष्ट्रपति सीढ़ी से उतरते नजर आए। उनके साथ ही चक्रधर शरणजी भी थे, जिनके हाथ में बहुत बड़े-बड़े गुलाबों की एक लम्बी-सी माला थी। उसके बीच में पान के पत्तों को कतरकर बनाया हुआ एक गोल-सा तार-मढ़ा झब्बा था। उस माला को कमरे के बड़े शीशे पर मैंने लटका दिया। गुलाब के फूलों की सुरभि से कमरा गमगमाता रहा।

अपराह्न-काल में असेम्बली-भवन में राष्ट्रभाषा प्रमाणीकरण-परिषद् का अधिवेशन आरम्भ हुआ। पूज्य राजेन्द्र बाबू ने उद्घाटन-भाषण किया। डॉक्टर रघुवीर और माननीय पं० द्वारकाप्रसाद मिश्र के भाषणों का सारांश यह था कि राष्ट्रभाषा हिन्दी में जो नये पारिभाषिक शब्द बनाये या गढ़े जाएंगे, उनकी मूल भित्ति संस्कृत भाषा ही हो सकती है। मध्य-प्रदेश के स्पीकर माननीय श्री

घनश्यामदास गुप्त ने भी इसी मत का समर्थन करते हुए भाषण किया। माननीय आचार्यजी ने नवनिर्मित शब्दों की सुबोधता एवं सुगमता पर जोर देते हुए प्रचलित और सुपरिचित शब्दों को भी ग्रहण करने की सलाह दी। पाण्डेयजी के बाद मैंने भी अपनी राय जाहिर की। हम लोगों के मत-प्रकाश के अनन्तर श्री सत्यनारायणम् (एम० पी०) ने संविधान-सभा की, और मद्रास के हिन्दू कॉलेज के हिन्दी विभागाध्यक्ष डॉक्टर गणपति ने दक्षिण भारत के अहिन्दी-भाषा-भाषियों की कठिनाइयां तथा आवश्यकताएं बतलाईं। भाषणों द्वारा विचार-विनिमय हो चुकने के उपरान्त अन्त में माननीय मिश्रजी का जो धन्यवादसूचक भाषण हुआ उसका निष्कर्ष यही रहा कि संस्कृत के स्रोत से लिये गए नूतन शब्द ही व्यापक प्रसार पा सकेंगे और आवश्यक शब्दों की सृष्टि के लिए संस्कृत के शब्द-भंडार को ही उद्गम-स्थान मानना भारतीय प्रकृति एवं संस्कृति के अनुकूल होगा। इसके बाद लिपि, व्याकरण, उच्चारण आदि के प्रमाणीकरण के निमित्त कई समितियां बनीं, जिनमें से एक के अध्यक्ष माननीय आचार्यजी भी निर्वाचित हुए। हम लोग भी सदस्य बनाये गए। बिहार की ओर से हम लोगों ने लिपि-समिति में प्रोफेसर कृपानाथ मिश्र का तथा व्याकरण-समिति में प्रोफेसर नलिनविलोचन शर्मा का नाम दिया। इन समितियों की बैठकें दूसरे दिन हुईं।

संध्या समय महामहिम राज्यपाल के राजभवन में हम लोग आचार्यजी के साथ पूज्य राजेन्द्र बाबू के दर्शन करने गये। जैसे हवाई अड्डे पर राष्ट्रपति ने भोजपुरी बोली में कुशल-मंगल पूछा था, वैसे ही राजभवन में भी विहार का हालचाल पूछने लगे। उसी समय वहां के गवर्नर श्री मंगलदास पकवासा आ गए। पूज्य राजेन्द्र बाबू ने बड़े उदार शब्दों में हम लोगों का परिचय दिया। राष्ट्रपति की महत्ता और गवर्नर साहब की सादगी देखकर मैं तो स्तब्ध रह गया। गांधी-युग ने देश में कैसे-कैसे महापुरुष उत्पन्न किए ! ऐसी विमल विभूतियां क्या भावी युग में भी दृष्टिगत हो सकेंगी ?

उक्त समितियों की बैठकों के सिलसिले में वहां के शिक्षा-सचिव डॉक्टर वेणीशंकर झा से परिचय हो गया। सभी बैठकों की कार्यवाहियां आश्चर्यजनक शीघ्रता के साथ हिन्दी में टाइप होकर हम लोगों के हाथों में आ जाती थीं। वहां के सरकारी दफ्तर में हिन्दी-टाइपराइटर मशीनों की अंधाधुंध खटखटाहट सुनकर बड़ी प्रसन्नता हुई। जब यह पता चला कि डॉ० झा हिन्दी के वयोवृद्ध साहित्यसेवी पं० लज्जाशंकर झा के सुपुत्र हैं तब और भी हर्ष हुआ। वह मुझे और पाण्डेयजी को अपनी मोटर से अपने घर ले गये। हम लोगों ने वृद्ध वसिष्ठ झाजी के दर्शन को एक अलभ्य लाभ माना। झाजी की नेत्र-ज्योति बहुत मन्द पड़ गई थी, पर हम लोगों का अंगस्पर्श करके उन्होंने बहुत असीसा। वह बहुत दिनों तक काशी के ट्रेनिंग कॉलेज के प्रिंसिपल थे। उनकी एक स्वराज्य-संबंधी हिन्दी-पुस्तक

श्रीरायकृष्ण दास ने अपने भारती-भंडार से प्रकाशित की थी। वह मेरी ही देख-रेख में छपी थी। वह हिन्दी का उत्कर्ष-संवाद सुनकर अत्यन्त सन्तुष्ट हुए।

दूसरे दिन प्रातःकाल एक विराट् ग्रंथ-प्रदर्शनी हुई। उसे भी राष्ट्रपति ने ही उद्घाटित किया। वहां डॉक्टर रघुवीर ने जो भाषण किया उससे उनके बहुभाषाविज्ञ होने का प्रत्यक्ष प्रमाण मिला। वहां भी राष्ट्रपति प्रायः भोजपुरी में ही आचार्यजी और पाण्डेयजी से बातें करते रहे। वह उस प्रदर्शनी से प्रेरणा पाने की सीख दे रहे थे। उसमें भूमंडल की अनेक प्रमुख भाषाओं के शब्दकोशों का अपूर्व संग्रह था। राष्ट्रपति को डॉक्टर रघुवीर ने उन सैकड़ों कोशों में से कई अप्राप्य कोश दिखलाये। डॉक्टर रघुवीर की श्रमशीलता, श्रद्धा और लगन देखकर राष्ट्रपति भी बहुत प्रभावित हुए। हम लोग भी अपरिमित संख्या में दुर्लभ कोशों को एकत्र संगृहीत देखकर डॉक्टर रघुवीर के धैर्य एवं अध्यवसाय पर मुग्ध हो रहे। सभी प्रान्तीय सरकारों के प्रतिनिधि आये थे। सबने देखा और सराहा। डॉक्टर रघुवीर के तैयार किये हुए कोशों की पांडुलिपियां अक्षरानुक्रम से अलमारियों में सजी थीं। उनकी सजिल्द प्रतियां देखकर डॉक्टर रघुवीर के स्वाध्याय एवं शोध की महिमा का अनुमान करना भी कठिन जान पड़ा।

रात में प्रदर्शनी के स्थान पर ही बम्बई की एक महाराष्ट्र-मंडली के विलक्षण क्रीड़ा-कौतुक का प्रदर्शन हुआ। झंडा-गान, लोकनृत्य, ग्रामीण खेल-कूद, व्यायाम, अभिनय आदि से यही धारणा हुई कि ऐसी राष्ट्रीय भावना को उत्तेजित करने वाली मंडली को गांव-गांव में भ्रमण कराने की व्यवस्था सरकार की ओर से होनी चाहिए। अत्यन्त भावोद्दीपक प्रदर्शन था। बिहार सरकार की मोद-मंडली के कार्यकर्त्ताओं को अनुप्राणित करने के लिए उस मंडली का बिहार में आना अत्यावश्यक लगा।

उसी रात डॉक्टर रघुवीर ने अपने निवास-स्थान पर एक प्रीतिभोज दिया। उसमें हम लोग आमंत्रित हुए। वहां पंजाब के माननीय शिक्षा-मंत्री सरदार नरोत्तमसिंह से परिचय हुआ। उन्होंने कश्मीर पर पाकिस्तान के आक्रमण और पंजाब के विभाजन के समय की रोमांचकारिणी घटनाएं सुनाईं तथा सिक्खों की बहादुरी एवं विपत्तियों का भी दिग्दर्शन कराया। यह देखकर बड़ा संतोष हुआ कि मध्यप्रदेश की सरकार से डॉक्टर रघुवीर को रहने और काम करने के लिए हर तरह का सुपास मिला हुआ है। एक अधिकारी विद्वान् को निश्चिन्ततापूर्वक अध्ययन-मनन-अनुशीलन करने के लिए सम्मानपूर्वक सारी सुविधाएं देना किसी भी सरकार के लिए गौरव और प्रतिष्ठा का कारण हो सकता है।

अन्तिम दिन छः जनवरी को चायपान-गोष्ठी में काशी हिन्दू विश्वविद्यालय के आचार्य विश्वनाथप्रसाद मिश्र से भेंट हुई। पता लगा कि प्रोफेसर नन्ददुलारे

वाजपेयी भी आये हुए हैं। वहीं निश्चित हुआ कि रात में मिश्रजी के निवासस्थान पर सब एकत्र हों। काशी के सुप्रसिद्ध प्रकाशक श्री नन्दकिशोर ब्रदर्स की एक दूकान नागपुर में है। पाण्डेयजी के साथ मैं भी वहां गया। वनारसी बूटी छनी और दिव्य भोजन भी हुआ। वाजपेयीजी के दर्शन तो न हुए, पर मिश्रजी ने आचार्य रामचन्द्र शुक्ल के साहित्यिक संस्मरण सुनाये। उन्होंने वतलाया कि शुक्लजी प्राकृतिक दृश्यों के दर्शन के बड़े अनुरागी थे। उनका प्रकृति-प्रेम सचमुच उनके निबन्धों में स्पष्ट झलकता है। वह विन्ध्याचल की वनराशि का सौन्दर्य-निरीक्षण करते हुए वहुत दूर-दूर तक चले जाते थे और सुन्दर वनस्पतियों के संस्कृत-नाम भी बतलाते थे। एक वार आचार्य केशवप्रसाद मिश्र के साथ पर्यटन करते हुए उन्होंने 'मेंहदी' का संस्कृत नाम 'नख-रंजनी' वतलाया था।

सातवीं तारीख को मध्याह्न के कलकत्ता मेल से फिर पूर्ववत् रिजर्व डिब्बे में हम लोगों ने नागपुर से प्रस्थान किया। ठिकाने पहुंच पाण्डेयजी के एक मारवाड़ी मित्र के अतिथि हुए। श्री वसन्तलाल श्यामसुन्दर शायद उस गद्दी का नाम था। आतिथेय सज्जन श्री रामगोपाल हिम्मतसिंह पिंजरापोल के मंत्री थे। शाम को पिंजरापोल (सैदपुर) देखने मोटर से गये। गोरक्षिणी के रजिस्टर में लिखी हुई सम्मतियों को पढ़ने लगा तो पूज्य मालवीयजी आदि के स्वाक्षर देखकर मन में नाना प्रकार के भाव उठने लगे। कितने ही नेताओं, साहित्यिकों और विद्वानों की हस्तलिपियों और गोरक्षा-सम्बन्धी सम्मतियों को प्रदर्शित करने के लिए कहीं सुरक्षित रखना चाहिए।

लौटती वार कलकत्ता में श्री बजरंगलाल लोहिया का ग्रंथ-संग्रह देखने का निश्चय पहली ही वार किया था। आठवीं जनवरी के अपराह्न में पाण्डेयजी के साथ उनके यहां पहुंचने पर अनेक दुष्प्राप्य ग्रंथों के दर्शन हुए। १६५१ के अंत में कलकत्ता के हिन्दी-प्रेमियों ने लोहियाजी का अभिनन्दन किया था और एक थैली भी उन्हें भेंट की गई थी। वह विशेष शिक्षित नहीं हैं, परन्तु प्राचीन महत्त्वपूर्ण दुर्लभ ग्रंथों के संग्रह में ही उनके जीवन का प्रत्येक क्षण वीता है। फतहपुर (जयपुर) के सरस्वती-पुस्तकालय को उन्होंने दर्शनीय ग्रंथों से पूर्ण समृद्ध कर दिया है। माननीय आचार्यजी को उन्होंने 'विहारी-सतसई' की एक अत्यन्त प्राचीन मुद्रित प्रति भेंट की थी, जो सम्भवतः लल्लूलालजी के तिलक से विभूषित और डॉ० ग्रियर्सन द्वारा सम्पादित एवं प्रकाशित थी।

उसी दिन हम लोग रात में दिल्ली एक्सप्रेस से पटना लौट चले। नवीं जनवरी को प्रातःकाल पटना पहुंचने पर वड़ी थकावट मालूम होने लगी। कन्या-विवाह की कार्य-व्यस्तता और लम्वी यात्रा के अंत में जो श्रान्ति आती है वह बड़ी मीठी और गाढ़ी नींद साथ लाती है।

९

बिहार राष्ट्रभाषा परिषद्

पटना : १९५०—

•

२९ दिसंबर, १९४९ को कॉलेज-सेवा से मुक्त होकर शिवपूजन सहाय पटना चले आये और जुलाई, १९५० में बिहार राष्ट्रभाषा परिषद् के मंत्री पद का कार्यभार ग्रहण किया। बाद में इस पद का उन्नयन निदेशक के रूप में हुआ और इसी पद से १ सितंबर, १९५९ को एक दशक की सरकारी सेवा से निवृत्त हुए, यद्यपि 'हिन्दी साहित्य और बिहार' ग्रंथमाला के संपादन के लिए वे प्रतिदिन पूर्ववत् परिषद् जाते रहे और उसी क्रम में किंचित् अस्वस्थता की स्थिति में परिषद् से लौटते हुए वर्षा में भींग जाने के कारण १३ जनवरी, १९६३ को ज्वरग्रस्त हुए एवं १६ जनवरी की संध्या में अर्द्धचेतनावस्था में पटना अस्पताल ले जाये गये जहां २१ जनवरी के ब्राह्ममुहूर्त्त में ३ बजकर ५ मिनट पर महाप्रयाण हुआ। जीवन का यह अन्तिम द्वादशक साहित्यिक कार्यकलाप एवं संपर्कों के दृष्टिकोण से अत्यंत महत्त्वपूर्ण रहा। इसी अवधि में परिषद् से 'शिवपूजन रचनावली' चार खंडों में प्रकाशित हुई; कई बार गंभीर व्याधियों से ग्रस्त हुए; १९६० में 'पद्मभूषण' की उपाधि से अलंकृत हुए, १९६१ में पटना नगर निगम की ओर से नागरिक अभिनंदन हुआ तथा १९६२ में भागलपुर विश्वविद्यालय की मानद उपाधि डी० लिट्० से विभूषित हुए। इस महत्त्वपूर्ण कालखंड के साहित्यिक संस्मरण प्रस्तुत हैं इस परिच्छेद में।

•

श्री व्रजनन्दनसहाय 'व्रजवल्लभ'

सन् १९१४ में अखिल भारतीय हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन का पांचवां महाधिवेशन लखनऊ में हुआ था। पंडित श्रीधर पाठक सभापति थे। श्री श्यामसुन्दरदासजी वहां के कालीचरण हाईस्कूल के हेडमास्टर थे। स्कूल के आंगन में ही सम्मेलन का पण्डाल बना था। आरा-नागरी-प्रचारिणी सभा की ओर से एक प्रतिनिधि-मण्डल वहां गया था। व्रजवल्लभजी उस मण्डल के मुखिया थे। अवधविहारीशरणजी भी उस दल में थे। आचार्य बदरीनाथ वर्मा, पंडित ईश्वरीप्रसाद शर्मा आदि भी साथ ही थे। मैं भी गया था। सम्मेलन में प्रसिद्ध साहित्य-सेवियों द्वारा व्रजवल्लभजी का आदर-सत्कार देखकर इस बात का पता लगता था कि साहित्य के विद्वानों में उनकी कैसी प्रतिष्ठा है। श्यामसुन्दरदासजी और मिश्रबन्धुओं से उनका मित्रवत् व्यवहार देखने में आया। हिन्दी के सुकवि राय देवीप्रसाद 'पूर्ण' उनसे मिलने के लिए प्रतिनिधि-निवास में आये। जबलपुर के यशस्वी 'मानस'-टीकाकार श्री विनायक राव साठे उनसे बार-बार गले मिले। वयोवृद्धों का वह मिलन-महोत्सव बड़ा आकर्षक और हृदयग्राही था। वैसे दृश्य अब दुर्लभ हो गये।

लौटती बार अयोध्या में श्री रूपकलाजी के दर्शनार्थ सब लोग उतर पड़े। वे हनुमन्निवास में रहते थे। उनके दिव्य-दर्शन का आनन्द अपूर्व था। वे 'रामचरितमानस' और 'विनय पत्रिका' की प्रसंगानुकूल पंक्तियों को कहकर ही बातचीत करते थे। चाहे किसी विषय का प्रसंग छिड़ा हो, किसी तरह का कोई प्रश्न ही क्यों न हो, सबके लिए वे उन्हीं दोनों ग्रन्थों की उपयुक्त पंक्तियों का प्रयोग करते थे। उनकी स्मृति-शक्ति की अलौकिकता देखकर मैं तो स्तब्ध रह गया। उनमें व्रजवल्लभजी और अवधविहारीशरणजी की असीम श्रद्धा थी। तुलसी-साहित्य पर उनका असाधारण अधिकार था। वे विहार के सारन जिले के निवासी थे। भक्तमाल पर उनकी टीका प्रसिद्ध है। रामभक्ति-साहित्य के मर्मज्ञों में उनका आदरणीय स्थान है। पहुंचे हुए सन्त तो थे ही, शुद्ध साहित्यिक भी थे।

आरा की नागरी-प्रचारिणी-सभा की स्थापना सन् १९०१ में हुई थी। उसके संस्थापकों में पंडित सकलनारायणजी अन्यतम थे। आरम्भ से ही व्रजवल्लभजी उसके प्रधान मंत्री थे। उनके समय में सभी ने देशी रजवाड़ों और सरकारी दफ्तरों में हिन्दी-नागरी-प्रचार के लिए उल्लेखनीय प्रयत्न किये थे। उन्होंने अंग्रेजी में बड़े लम्बे-चौड़े मेमोरेंडम लिखकर और छपवाकर सर्वत्र भेजे थे। उस समय के विश्वविद्यालयों में भी हिन्दी-साहित्य के प्रशिक्षण के लिए उन्होंने मेमोरेंडम भेज-भेजकर अथक उद्योग किया था। कलकत्ता विश्वविद्यालय

में हिन्दी का प्रवेश कराने में उनको पंडित जगन्नाथप्रसादजी चतुर्वेदी से बड़ी सहायता मिली थी। सभा की मासिक 'साहित्य पत्रिका' के सम्पादन-प्रकाशन में भी वे बड़े मनोयोग से सहयोग-प्रदान करते थे। सभा की आरम्भिक उन्नति का अधिकांश श्रेय उन्हीं को है। उनकी हिन्दी-सेवा से प्रभावित होकर ही श्यामसुन्दरदासजी ने उनकी, उनके पिताजी की और पंडित सकलनारायणजी की जीवनियां 'हिन्दी-कोविद-रत्नमाला' नामक अपनी पुस्तक में प्रकाशित की थीं। प्रधान-मंत्री के पद से अवसर-ग्रहण करने के बाद सभा ने भी उन्हें 'विद्या-वाचस्पति' की उपाधि से विभूषित किया था। बिहार-हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन के वेगूसराय (मुंगेर) वाले वार्षिक अधिवेशन के सभापति वे ही हुए थे। उन्होंने अपना सारा साहित्य-संग्रहालय अपने जीवन-काल में ही आरा के 'वाल-हिन्दी-पुस्तकालय' को अपने स्वर्गीय पिता के स्मारक रूप में समर्पित कर दिया था, जो बड़ा शोधोपयोगी है।

'व्रजवल्लभ' जी का कद कुछ नाटा था। उन्हें मंझोले कद का व्यक्ति समझना चाहिए। उनकी कटी-छटी दाढ़ी उनके चेहरे को भव्य बनाती थी। अदालत में वकालत करने जाते समय वह काला चोगा भी पहनते थे। साधारणतः कमीज, कोट, धोती और सादा दुपल्ली टोपी ही उनकी स्वाभाविक वेशभूषा थी। छड़ी लेकर सुवह-शाम टहलने निकलते थे। लगभग अस्सी-पचासी वर्ष की आयु में, महीनों बीमार रहने के बाद, उनका देहान्त हुआ था। जीवन-भर उनका स्वास्थ्य वहुत अच्छा रहा। खान-पान में वे बड़े संयमी थे। रहन-सहन में भी सादगी-पसन्द थे। प्रायः मुंह चुनियाकर बोलते थे। आवाज में कुछ खसखसाहट थी। अंग्रेजी और बंग-भाषा के साहित्य का वड़ा गम्भीर अध्ययन किया था। साहित्यिक चर्चा में उनकी अध्ययनशीलता का परिचय मिलता था। भाषण करने का अभ्यास तो था ही, क्योंकि एक सुखी वकील थे, पर सभा-सम्मेलनों से उदासीन रहा करते थे। केवल लिखते रहने में ही उनको सन्तोष और शान्ति का अनुभव होता था। उनके अक्षर सुवाच्य तो होते थे, पर सुन्दर नहीं। कहा करते थे कि मेरे अक्षर मेरे पिताजी के नन्हे-नन्हे अक्षरों के बड़े-बड़े प्रतिरूप हैं। वात सही थी। पिता-पुत्र का कद भी एक-सा था। हिन्दी-साहित्य के इतिहास में वे कवि एवं कथाकार के रूप में चिरस्मरणीय रहेंगे।

व्रजवल्लभजी जव मृत्युशय्या पर थे, मैं उन्हें देखने आरा गया था। उस

समय उनसे जो वार्तालाप हुआ,[1] वह भी साहित्यिक संस्मरणों के रूप में था[2]। रोगशय्या पर अस्थिमात्रावशेष देखकर वड़ी करुणा हुई। उस दशा में भी मसनद के सहारे बैठकर उन्होंने एक घंटे तक साहित्यिक संस्मरण सुनाए। उनके ही शब्दों में—

'मेरे पिताजी (बाबू शिवनन्दन सहाय) गवर्नमेंट के ट्रांसलेटर थे। उनके साथ पटना रहकर मैं पटना-कॉलेजिएट में पढ़ता था। स्कूल के हिन्दी-शिक्षक पंडित बिहारीलाल चौबे मुझे बड़े स्नेह से पढ़ाते थे। वे अच्छे साहित्यिक व्यक्ति थे। उनकी जीवनी 'सरस्वती' में छपी थी। जब कभी वे कान ऐंठते थे तब मालूम होता था कि कानों को मरोड़कर उखाड़ लेंगे। उसी गोशमाली (कनैठी) की बदौलत उनकी बताई हुई एक-एक बात मुझे आज तक याद है। वे हाईस्कूल में ही शब्दों की व्युत्पत्ति सिखाते थे। शब्दों के अर्थ और प्रयोग जो उन्होंने बतलाये थे, वे कॉलेज की पढ़ाई में भी काम आते रहे। पंडित अम्बिकादत्त व्यास जब छपरा और भागलपुर के जिला-स्कूल में हेड पंडित थे तब पटना आने पर मेरे पिताजी के पास ही प्रायः ठहरते थे। उन्होंने भी मुझे लड़कपन में ही कविता बनाने के नियम सिखाये थे। वे जब आते थे तब नयी कविता और नया श्लोक मुझसे सुनते थे। उनके आने की खबर पाकर पिताजी मुझे कविता और श्लोक कण्ठस्थ करा देते थे। पिताजी जब पटना सिटी के हरमन्दिर में बाबा सुमेरसिंह साहबजादा से मिलने जाते थे अब अकसर मुझे भी साथ ले जाते थे। बाबा ने ही मुझे पिंगल पढ़ने की प्रेरणा दी। जब मैं बी० एन० कॉलेज में पढ़ता था तभी उन्होंने अपनी 'समस्यापूर्ति' पत्रिका के सम्पादन का काम सौंप दिया। उनकी देख-रेख में काम करने से उनके स्वर्गीय होने के बाद भी मैं उनका सहेजा हुआ काम कुछ दिनों तक करता रहा। वे काव्य शास्त्र के प्रकाण्ड पंडित थे। पंडित अम्बिकादत्त व्यास के साथ उनकी बातचीत होने लगती थी तो छन्द-शास्त्र और अलंकार-शास्त्र की चमत्कारपूर्ण बातें सुनकर शास्त्रीय ज्ञान बहुत बढ़ जाता था। यही हाल पंडित दामोदर शास्त्री का भी था। वे खड्गविलास प्रेस में ग्रन्थ-शोधन आदि काम करते थे। संस्कृत के वे बहुत अच्छे विद्वान् थे। पंडितों से प्रायः संस्कृत में ही

---

१. 'उस समय मैंने उनसे पूछा था कि भारतेन्दु-जीवनी की वह शेषांश सामग्री और बेठन में बंधा वह कागज-पत्र का बस्ता कहां है? उन्होंने उत्तर दिया कि 'पंडित अयोध्यासिंह उपाध्याय हरिऔध सब समेटकर उठा ले गये— जीते-जी उसको लौटाया ही नहीं, मरने पर तो वह दुर्लभ ही हो गया।'

२. बिहार-हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन के त्रैमासिक मुखपत्र 'साहित्य' में उन पुराने संस्मरणों का प्रकाशन हो चुका है।

बतियाते थे। उनकी पत्नी कभी किसी परपुरुष के सामने होकर बात नहीं करती थीं। मराठी महिला होने के कारण परदा-प्रथा नहीं मानती थीं, पर सबके सामने मुंह मोड़कर बात करती थीं। थोड़ी संस्कृत वे भी जानती थीं। कभी-कभी मुझसे संस्कृत में ही कोई छोटा प्रश्न पूछती थीं। वे ऐसी बलवती थीं कि दो भरे गगरे दोनों हाथों में लेकर ऊंची सीढ़ियों पर खटाखट चढ़ जाती थीं। महाराष्ट्र-दम्पति को संस्कृत में परस्पर भाषण करते मैंने सुना था। शास्त्रीजी हिन्दी की शुद्धता पर विशेष ध्यान रखते थे। पुस्तकों और पत्र-पत्रिकाओं की भाषा में अशुद्धियों को झट पकड़ लेते थे। चौबेजी और व्यासजी प्रायः खड्गविलास प्रेस में जाते थे। शास्त्रीजी से उन दोनों की बातचीत प्रायः भाषा की शुद्धता पर ही होती थी। आजकल के साहित्य-सेवी व्याकरण-संगत भाषा लिखने पर कम ध्यान देते हैं। पर, वे लोग शब्दशास्त्र के मन्थन और मनन में ही लगे रहते थे। जब वे लोग आपस में बहस करने लगते थे तब बाबू रामदीन सिंह तुरन्त मिठाइयां मंगाकर उन लोगों के सामने परोस देते थे। महाराजकुमार (बाबू रामदीन सिंह) के समान विद्वानों का सम्मान करनेवाला गुणग्राही उस समय कोई न था। उन्होंने अनेक लेखकों और कवियों की लिखी पुस्तकें काफी रुपये देकर खरीद ली थीं। उनके मरने के बाद कई अलमारियां अप्रकाशित पाण्डुलिपियों से भरी थीं। किसी को उन्होंने निराश-विमुख नहीं किया। रोगी होने पर, कन्या के विवाह में, अभाव में कष्ट पाने पर और किसी संकट में पड़ने पर साहित्य-सेवी लोग उन्हीं के पास पहुंच जाते थे और निश्चय ही सफल-मनोरथ होते थे। वैसा त्यागी और दानी होना कठिन है।'

मेरे बहुत मना करने पर भी वे संस्मरण सुनाते ही जाते थे, इसलिए मैं यह कहकर शीघ्र चला आया कि दूसरी बार आकर सुनूंगा। पर, एक महीने के अन्दर ही उनके मरने की खबर मिली। मैं पुछार करने भी गया था और ठीक महालया के दिन उनके श्राद्ध में भी सम्मिलित हुआ था। उस समय मेरे मन में यह भाव उठा था कि उनसे अतीत-युग के संस्मरण यदि लिखवा लिये गये होते, तो वह चीज हिन्दी-साहित्य की एक अमूल्य निधि होती। अनेक पुराने साहित्यकार अपने साथ ही बहुमूल्य संस्मरण लेते चले गये।

डा० श्रीकृष्ण सिंह

श्री बाबू के प्रथम दर्शन का सुअवसर असहयोग-युग में प्राप्त हुआ था—पटना में ही। उस समय उनके ओजस्वी भाषण की छाप दिल पर गहरी पड़ी थी।

सन् १९२० ई० में आरा (शाहाबाद) के एक हाई स्कूल से मैं असहयोगी बनकर निकला और वहीं के नवस्थापित राष्ट्रीय विद्यालय में हिन्दी का अध्यापक

हुआ। प्रति रविवार को छात्रों के दल के साथ गांवों में जाकर प्रचार-कार्य करता। विद्यालय में भी विद्यार्थियों को राष्ट्रीयता का ही सन्देश सुनाना पड़ता। सार्वजनिक सभाओं की सूचना पाते ही उनमें पहुंचकर जोशीले भाषण सुनने की चाट लगी रहती। यहां तक कि गरमागरम भाषण सुनने के लोभ से कभी-कभी पटना तक दौड़ लगाता।

उन्हीं तूफानी दिनों में पटना में आपका भाषण सर्वप्रथम सुना। नये खून में उबाल-सा आ गया। देखा कि आप बोलते समय स्वदेशाभिमान से उन्मत्त हो उठे हैं।

मेरे तो रोंगटे खड़े हो गये। आंखों में रह-रहकर आंसू उमड़ पड़ते। रगों में बिजली-सी दौड़ गयी। दिल में नयी उमंगें लहराने लग गयीं। जान पड़ा, मानो एक नयी चेतना और नयी प्रेरणा पा गया होऊं। भाषण के कई मार्मिक वाक्यों को मन-ही-मन दुहराता-गुनगुनाता आरा लौट गया।

मैंने राजनीति-क्षेत्र में कभी काम किया नहीं, इसलिए किसी नेता से कभी किसी प्रकार का सम्पर्क भी न हुआ। अगर कभी हुआ भी तो केवल साहित्यिक कारण से ही। श्रीबाबू से भी पहले-पहल मिलने का सौभाग्य इसी कारण प्राप्त हुआ। वह भी राजनीतिक क्षेत्र के एक प्रसिद्ध व्यक्ति और साहित्यिक क्षेत्र के यशस्वी कलाकार श्री बेनीपुरी के साथ।

संभवतः १९४५ या ४६ ईसवी के शीतकाल का आरम्भ था। रात के आठ बजे होंगे। पटना में, बोरिंग रोड पर अमावां-राज्य की कोठी में, उनके दर्शन हुए। बेनीपुरीजी ने मेरा परिचय दिया। मैंने श्री राजेन्द्र-अभिनन्दन-ग्रंथ के लिए एक लेख की प्रार्थना की। उन्होंने फिर एक बार याद दिलाने पर भेज देने का वादा किया। ग्रंथ के बारे में और-और बातें भी पूछने लगे। मैंने सब विवरण बतलाया।

फिर जब मैं बिहार-राष्ट्रभाषा-परिषद् का संचालक था तब उनकी सेवा में उपस्थित होने के कुछ अवसर मिले थे। एक बार परिषद् के प्रकाशित ग्रन्थों को उन्हें भेंट करने के लिए राज भवन के पास उनकी कोठी में गया। वे अपने अध्ययन-कक्ष में पुस्तकों के बीच बैठे थे। परिषद् के ग्रन्थों को देखकर अतिशय प्रसन्न हुए। कहने लगे, एक साथ ही दस-बीस ग्रन्थों को देने की अपेक्षा यही अच्छा होगा कि एक ग्रन्थ ज्यों ही प्रकाशित हो त्यों ही मेरे पास भेज दीजिए, इससे मुझे पढ़ने में सुविधा होगी, साथ ही मुझे परिषद् की प्रगति से भी परिचित कराते रहिए, अपने राज्य की ऐसी साहित्यिक संस्था में मेरी खास दिलचस्पी है।

फिर एक बार परिषद् के वार्षिकोत्सव में सम्मिलित होने के लिए उन्हें सादर निमंत्रित करने गया। परिषद् के प्रकाशित वार्षिक कार्य-विवरण और ग्रन्थों का सूचीपत्र भी मैं साथ ले गया था। वे उसी एकान्त ग्रन्थागार में एकाकी बैठे

हुए थे। लगभग एक घंटा समय देकर उन्होंने परिषद् के कार्यकलाप का निरीक्षण किया और ग्रन्थों पर आयी हुई विद्वानों तथा पत्र-पत्रिकाओं की सम्मतियों को भी बड़े ध्यान से देखा। बीच-बीच में जहां-तहां आवश्यक वातों के विषय में मुझसे पूछताछ भी की। फिर वार्षिक महोत्सव में पधारने की स्वीकृति देते हुए कहा, लम्बी बीमारी के वाद आपका स्वास्थ्य अभी ठीक सुधरा नहीं है, संयम और सावधानी के साथ परिश्रम कीजिए। कभी-कभी कहीं किसी सभा या समारोह में भेंट हो जाती थी तो कृपापूर्वक मेरे स्वास्थ्य का हाल पूछ वैठते थे।

परिषद् से अवसर-ग्रहण करके मैं जिस दिन (१-९-५९ को) कार्यमुक्त हुआ, उसी दिन उन्हें प्रणाम करने के लिए उनके वंगले पर गया। सन्ध्या के बाद वहां कोई सभा हो रही थी। अनेक सज्जन प्रतीक्षा में वैठे थे। वहीं पंडित धनराज शर्मा, एम० एल० ए०, भी थे। मैंने भी अपना नाम लिखकर चपरासी को दे दिया। सभा समाप्त होने पर वे एक छोटे कमरे में आकर मिलनेवालों को बुलाने लगे। चपरासी मुझे बुलाने आया तो उक्त शर्माजी ने मुझसे कहा, 'जाइए, आप बड़े खुशकिस्मत हैं कि सबसे पहले बुलाहट हुई।' मैं उस कमरे में गया तो सामने की कुर्सी पर बैठने का आदेश देते हुए सबसे पहले मेरे स्वास्थ्य का हाल पूछा। मैंने निवेदन किया, 'कामचलाऊ है।' वोले, 'कामचलाऊ स्वास्थ्य से साहित्य-सेवा कैसे होगी? उम्र आपकी कितनी हुई?' मेरे बतलाने पर हंसकर कहा, 'तब तो आप मुझसे छोटे हैं।' मैंने नम्रतापूर्वक कहा, 'इसीलिए आज आपका आशीर्वाद लेने आया हूं, लगभग दस साल आपकी सरकार की सेवा में रहकर आज ही कार्यमुक्त हुआ हूं, अतः केवल प्रणाम करने के उद्देश्य से ही आपके दर्शन को आया हूं।' इतना ही कहकर मैं झट उठ खड़ा हुआ। यह देख कहने लगे, 'आप इतनी उतावली में क्यों हैं, आपके अवसर-ग्रहण करने और कार्यमुक्त होने की बातें मुझे खूब मालूम हैं। बतलाइए कि अब मुझसे आप क्या चाहते हैं?' मैंने पुनः सविनय निवेदन किया, 'मैं किसी अन्य प्रयोजन से नहीं आया हूं, आपकी सरकार की सेवा से मुक्त होने पर आज आपका दर्शन करके प्रणाम करना मेरा कर्तव्य था, उसी का पालन-मात्र करने आया हूं।' इतना कहकर मैंने पांव आगे बढ़ाया, वे मौन गंभीर हो गये, मेरे जुड़े हुए हाथों को अपने दोनों हाथों से जोर से दवाकर झकझोरा और सहानुभूति के स्वर में कहा, 'मेरे करने योग्य कोई काम हो तो कहने में संकोच न कीजिएगा।' 'आपकी कृपा का भरोसा तो रहेगा ही' कहता हुआ मैं हाथ जोड़े सिर झुकाए वाहर निकल आया। रास्ते में उनकी सहृदयता का रसास्वादन करता हुआ मेरा हृदय बार-बार ईश्वर को धन्यवाद देता रहा, क्योंकि महान पुरुष का आशीर्वाद ईश्वर-कृपा से ही सुलभ होता है। ईश्वर की कृपा से ही उनकी इतनी सहानुभूति मिल सकी, नहीं तो मैं उनका इतना प्रसाद कैसे पा सकता।

परिषद् की सेवा से निवृत्त होने पर मेरे बाकी अर्जित अवकाश में से डेढ़ महीने का पूरा आधा वेतन देने की स्वीकृति महालेखापाल से मिली थी; किन्तु लिखा-पढ़ी होते-होते १९६० के ग्रीष्मकाल तक रुपये मिले नहीं थे। उसी समय मैं वहुत बीमार हो गया। श्री दिनकरजी ने मुझे अस्पताल में भरती कराया और श्रीबाबू से मेरे आर्थिक संकट के सम्बन्ध में निवेदन किया। श्रीबाबू ने तुरत आदेश दिया कि अड़तालीस घंटे के अन्दर पूरी रकम चुका दी जाय और खास सरकारी आदमी को रांची भेजकर रुपये पाने का अधिकार-पत्र मंगाया जाय। ईश्वर की असीम कृपा से वैसा ही हुआ और दो दिनों में ही मुझे कुल रुपये मिल गये, जिससे मेरी चिकित्सा में बड़ी सुविधा हो गयी। यदि ठीक समय पर यह सहायता न मिली होती तो मेरी शोचनीय दशा कभी सुधरती ही नहीं। श्री दिनकरजी प्रयत्नशील न होते तो यह काम किसी तरह सिद्ध न हो सकता। उन्होंने राष्ट्रपति राजेन्द्र बाबू और प्रधान-मंत्री नेहरूजी को भी लिख दिया, जिससे क्रमशः दो सौ और दो हजार रुपये आ गये। अस्पताल में लगभग दो-ढाई महीने रहकर जब मैं घर आया तब इन्हीं रुपयों से स्वास्थ्य-रक्षा में सहायता मिली। अस्पताल के कॉटेज में भी श्रीबाबू ने मेरे स्वास्थ्य का हाल पुछवाने की कृपा की, और मेरे स्वस्थ होने के वाद साहित्य-सम्मेलन-भवन की एक सार्वजनिक सभा में अकस्मात् साक्षात्कार हो जाने पर भीड़ में भी हाल-चाल पूछ वैठे। उनकी उदारता और महत्ता का कहां तक वखान किया जाय, वे असंख्य व्यक्तियों का उपकार कर गये।

राजर्षि पुरुषोत्तमदास टण्डन

सन् १९१४ में मुझे उनके प्रथम दर्शन का सौभाग्य लखनऊ के पांचवें भारतीय साहित्य-सम्मेलन में प्राप्त हुआ था। उर्दू के उस प्राचीन गढ़ में हिन्दी की सर्व-भाषा-हितैषणा और व्यापकता पर टण्डनजी का जो प्रभावशाली भाषण हुआ था, वह समागत प्रतिनिधियों के बीच बरावर चर्चा का विषय वना रहा। उर्दू-प्रेमी भाइयों ने उसी समय एक खास सभा करके अपने जो मनोभाव व्यक्त किये थे, उनमें से एक-एक बात का यथार्थ उत्तर टण्डनजी ने अपने दूसरे दिन के सार्वजनिक भाषण में ऐसी मिठास के साथ दिया कि उर्दू के हिमायती विद्वान् उनसे प्रतिनिधि-शिविर में मिलने और शुक्रिया अदा करने पधारे थे। वह उर्दू के विरोधी नहीं थे, उसे तो वह हिन्दी की ही एक विशिष्ट शैली मानते थे। उनके अनेक भाषणों में भाषा-सम्वन्धी उनके उदार विचार सुने जा चुके हैं। उस समय भी उन्होंने कहा था कि हिन्दीवाले अनगिनत अरबी-फारसी शब्दों को पचाये हुए हैं, पर उर्दूवाले अप्रचलित और दुरूह शब्दों से अपनी भाषा

को क्लिष्ट और बोझिल बनाकर हिन्दी से उसे अलग करते जा रहे हैं। फिर रात में सम्मेलन के पण्डाल में कविवर राय देवीप्रसाद 'पूर्ण' ने हिन्दी पर किये गये उर्दू वालों के आरोपों का पद्यबद्ध उत्तर ऐसे विनोदपूर्ण ढंग से दिया था कि उनके आशुकवित्व का चमत्कार देख कितने ही उपस्थित उर्दू-प्रेमी बन्धु 'वाह-वाह' कर उठे थे। टण्डनजी और पूर्णजी ने उर्दू के किले में हिन्दी का झण्डा फहराया तथा उर्दू के आगे हिन्दी ने भी दोस्ती का हाथ बढ़ाया।

पुनः अखिल भारतीय हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन के ही कलकत्तावाले एकादश अधिवेशन में भी, जिसके सभापति डॉक्टर भगवानदास थे, प्रतिष्ठित वंगीय विद्वान् सर देवीप्रसाद सर्वाधिकारी ने जब बंग-भाषा के साहित्य की समृद्धि-वृद्धि का गुणगान करते हुए हिन्दी-साहित्य के अभावों पर असन्तोष तथा खेद प्रकट किया, तब टण्डनजी ने बड़ी ओजस्विता के साथ और संयत भाषा में उन्हें ऐसा सटीक उत्तर दिया कि टण्डनजी का भाषण समाप्त होते ही वह मौन धारण किये उठ चले। हिन्दी की साहित्यिक सम्पत्ति का यथार्थ मूल्यांकन करनेवाला वह भाषण सचमुच मर्मस्पर्शी था। उस उपयुक्त अवसर की टण्डनजी की तेजस्विता देख हिन्दी-प्रेमियों का हृदय गर्वोल्लास से स्पन्दित होने लगा। उन्होंने हिन्दी के साहित्यिक ऐश्वर्य का विशद वर्णन करते हुए कहा था कि 'कांच के चमकीले टुकड़ों की असंख्य राशियां भी एक अमूल्य रत्न की बराबरी नहीं कर सकतीं—ग्रन्थों की संख्या-वृद्धि से ही कोई साहित्य वैभवशाली नहीं होता—परमोच्च कोटि के दो-चार ही लोकप्रिय ग्रन्थ किसी साहित्य को महिमा-मण्डित कर सकते हैं—हिन्दी का 'रामचरितमानस' अकेला ही अन्य भाषाओं के ग्रन्थ-समुदाय से लोहा ले सकता है—अपने प्राचीन साहित्य के बल पर हिन्दी-विश्व-साहित्य के सामने भी अपना सिर ऊंचा कर सकती है···' फिर सम्मेलन के बाहर की सार्वजनिक सभा में भाषण करते हुए उन्होंने बंगला और हिन्दी के साहित्य का जो तुलनात्मक अध्ययन उपस्थित किया था वह भी उनकी गहन अध्ययन-शीलता का ही परिचायक था। हिन्दी के चालू साहित्य पर बंगला का प्रभाव स्वीकार करते हुए उन्होंने बंगला के काव्य-साहित्य पर भी विद्यापति, कबीर, मीरा आदि भक्त और सन्त हिन्दी-कवियों के स्पष्ट प्रभाव का सप्रमाण संकेत किया था, जिसे सुनकर 'दारोगा-दफ्तर' के सम्पादक श्री कार्त्तिकेयचरण मुखोपाध्याय ने टण्डनजी के स्वाध्याय की गम्भीरता पर आश्चर्य प्रकट करते हुए मुग्ध स्वर में कहा था कि ऐसे ही समन्वयवादी विद्वान् अपनी एकता-विधायिनी वाणी से वंगीय साहित्यसेवियों के हृदय पर हिन्दी का सिक्का जमा सकते हैं। टण्डनजी हिन्दी के पक्ष में भी दुराग्रही नहीं थे, पर हिन्दी की महत्ता के प्रतिपादन में उनके युक्तियुक्त तर्क बड़े अचूक होते थे। कोई प्रचण्ड तार्किक भी उनसे हिन्दी की हीनता नहीं स्वीकार करा सकता था। वह तो स्वयं ही समस्त

भारतीय भाषाओं के साथ हिन्दी का सौहार्द स्थापित करना चाहते थे। हिन्दी-विषयक उनके भाषण वस्तुतः रेकार्ड करने योग्य होते थे। उनके भाषण यदि संकलित और प्रकाशित हो सकते तो निश्चय ही साहित्य की अमूल्य निधि होते।

भारतीय साहित्य-सम्मेलन के प्रत्येक अधिवेशन में टण्डनजी अनिवार्य रूप से सम्मिलित होते थे। उसके मंच से उनके भाषण जिन लोगों ने सुने हैं, वे लोग आज भी अनुभव कर रहे होंगे कि हिन्दी की समस्याओं पर वैसी तन्मयता और दृढ़ ममता के साथ हृदयग्राही भाषण करनेवाले अब इने-गिने ही हैं। यदि यह कहा जाए कि हिन्दी टण्डनजी की सांस है तो अत्युक्ति न होगी। वह जहां कहीं, चाहे जिस किसी परिस्थिति में रहे, उनके चिन्तन का विषय हिन्दी-हित ही रहा। जब वह उत्तर प्रदेश में विधान-सभा के अध्यक्ष थे, कांग्रेस के सभापति थे, केन्द्रीय संसद में थे, लाला लाजपतराय की पीपुल्स-सोसायटी के प्रधान थे, भारतीय संस्कृति-सम्मेलन के संचालक थे, कहीं भी हिन्दी उनके ध्यान से न उतरी। हिन्दी के लिए ही उन्होंने महान्-से-महान् पद को त्याग दिया। अपमान का भी ध्यान छोड़कर हिन्दी की भलाई पर ही निगाह रखना उन्हीं के समान वीतराग तपस्वी का काम था। उनकी दिनचर्या भी तपस्वियों और ऋषियों के समान ही थी। दिल्ली में भारतीय संस्कृति-सम्मेलन की स्थापना करके उन्होंने स्वदेशवासियों के नैतिक उत्थान का जो प्रयास किया वह भी उनके तपोमय जीवन का एक मुख्य प्रसंग है। उस संस्था की त्रैमासिक मुखपत्रिका 'भारतीय संस्कृति' और उसके वार्षिक अधिवेशनों के सभापतियों के भाषणों से हिन्दी-साहित्य की जो यत्किंचित् श्रीवृद्धि हुई वह उपेक्षणीय नहीं है। उदाहरणार्थ, डॉक्टर भगवानदासजी का भाषण भारतीय संस्कृति का स्फटिक-स्वच्छ स्वरूप प्रदर्शित करनेवाला एक अभूतपूर्व निबन्ध है। उक्त सम्मेलन से, परिमित परिमाण में ही सही, गिने-चुने अधिकारी विद्वानों द्वारा सांस्कृतिक साहित्य तैयार कराने का सर्वाधिक श्रेय टण्डनजी को ही है। एक बार मुझे दिल्ली जाने का अवसर मिला तो उनके दर्शन का भी सौभाग्य प्राप्त हुआ। मेरे मित्र पंडित केदारनाथ शर्मा 'सारस्वत' वहां भारतीय-संस्कृत-साहित्य-सम्मेलन के प्रधान-मंत्री और 'भारतीय संस्कृति' के सम्पादक भी थे। वही मुझे उनकी सेवा में ले गए। प्रायः परिचित व्यक्ति से भेंट होने पर बड़े लोग भी सम्बद्ध कार्य-कलाप अथवा जीवन की गतिविधि के सम्बन्ध में पूछताछ करते हैं; पर टण्डनजी ने बिहार में हिन्दी की प्रगति के विषय में ही जानना चाहा, बिहार-हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन और बिहार-राष्ट्रभाषा-परिषद् की साहित्य-सेवा की ही बातें कहते-सुनते रहे। वर्तमान वैज्ञानिक युग के नाम पर भारतीय संस्कृति के प्रति आधुनिक युग की उदासीनता से वह चिंतित जान पड़े और उनकी बातों से यह भी ध्वनित हुआ कि भारत की राजधानी दिल्ली

में भारतीय संस्कृति-सम्बन्धी साहित्य का एक सुसंचालित प्रचार-केन्द्र होना अत्यावश्यक है। किन्तु ईश्वर की ऐसी इच्छा कि सारस्वतजी भी उनसे पहले ही संसार छोड़ गए। वही टण्डनजी की प्रेरणा और सहायता से उक्त संस्था और पत्रिका चलाते थे।

हिन्दी-जगत् को भली-भांति विदित है कि आचार्य महावीरप्रसाद द्विवेदी आजीवन साहित्य-सम्मेलन से उदासीन और तटस्थ रहे। उनको सम्मेलन का सभापति बनाने के लिए अनेक बार प्रयत्न हुए, पर कभी उन्होंने सभापतित्व स्वीकार नहीं किया। सम्मेलन के अधिवेशनों में सम्मिलित होने से भी वह विमुख रहे। किन्तु हिन्दी के सच्चे सेवक की साहित्य-सेवा के प्रति उनके हृदय में पर्याप्त आदर-भाव था। इसी कारण जब बाबू श्यामसुन्दरदास प्रयाग में छठे सम्मेलन के सभापति हुए तब द्विवेदीजी उसमें सहर्ष पधारे। बाबू साहब के साथ उनका मतभेद जग-जाहिर था; फिर भी वह बाबू साहब की अनिर्वचनीय हिन्दी-सेवा के प्रति सम्मान प्रदर्शित करने की भावना से अधिवेशन में निस्संकोच उपस्थित हुए।

मैं भी उस महोत्सव में उपस्थित था। वह लाला रामप्रसाद के बाग में हुआ था। उस दर्शनीय समारोह में भारतेन्दु-सखा पंडित बदरीनारायण चौधरी 'प्रेमघन' भी आये थे। उस समय के सामयिक पत्रों में यह बात छपी भी थी कि द्विवेदीजी के हृदय में श्यामसुन्दरदासजी की हिन्दी-सेवा के लिए जो प्रतिष्ठा थी, उसी को प्रकट करने की इच्छा से वह सर्वविदित वैमनस्य को विस्मृत कर सम्मेलन में चले आए। फिर उस समय के कई साल बाद जब सम्मेलन का अधिवेशन कानपुर में हुआ तब भी सभापतित्व के लिए द्विवेदीजी से आग्रह किया गया था। पर उनका संकल्प तो शम्भु-शरासन-सदृश अटल था। अतः टण्डनजी उसके सभापति बनाये गए। उस युग के पत्रों के पाठकों को यह स्मरण होगा कि टण्डनजी के निर्वाचन को सार्वदेशिक समर्थन प्राप्त हुआ था। जब द्विवेदीजी को टण्डनजी के मनोनयन का समाचार मिला तब वह अत्यन्त प्रसन्न हुए। इतना ही नहीं, जब उनसे स्वागताध्यक्ष होने के लिए निवेदन किया गया, तब सम्मेलन की छत्रछाया में किसी प्रकार का कोई पद अंगीकृत न करने की अपनी प्रतिज्ञा को विसारकर वह स्वागताध्यक्ष बन गए। उन दिनों के पत्र-पाठकों को स्मरण होगा, द्विवेदीजी ने स्पष्ट कहा था कि सम्मेलन के मंडप में कोई पदाधिकारी होकर प्रवेश करना मेरे सिद्धांत के विरुद्ध है; पर जब टण्डनजी सभापति होकर हमारे नगर में आ रहे हैं तब उनका स्वागत करना मेरा कर्तव्य है, क्योंकि हिन्दी को भारतव्यापी बनाने में उनका भगीरथ-प्रयत्न प्रत्येक हिन्दी-हितैषी के लिए वन्दनीय है। आधुनिक पाठकों को भी यह ज्ञात होगा कि द्विवेदीजी बहुत दिनों तक जूही (कानपुर) में रहे थे, जहां उनका 'कर्मशियल प्रेस' भी था और उनका यह पता 'सरस्वती' में भी बराबर छपता रहा। उनका वह स्वागत-भाषण द्रष्टव्य है,

जिसमें टण्डनजी के प्रति उनके उदात्त उद्‌गार अंकित हैं।

जुलाई, १९५४ में टण्डनजी पटना पधारे थे। बिहार राज्य के वित्त-मंत्री डॉक्टर अनुग्रहनारायणसिंह के अतिथि हुए। मैं स्टेशन पर उनके स्वागतार्थ गया था। वह सपत्नीक आये थे। चरणस्पर्श करते समय उन्होंने भीड़ में सहसा मुझे नहीं पहचाना। निवासस्थान पर उन्होंने मेरा हाल पूछा और जब मालूम हुआ कि स्टेशन पर मैं भी मौजूद था तब दोपहर की कड़ी धूप में ही अचानक बिहार-राष्ट्रभाषा-परिषद् के कार्यालय में मुझे आशीर्वाद देने के लिए पहुंच गए। कहने लगे, 'मैंने भीड़ में तुमको पहचाना नहीं क्योंकि चश्मा नहीं था। तुम्हारी यह परिषद् हिन्दी की अच्छी सेवा कर रही है, अब तुम्हारा स्वास्थ्य ठीक है?' मैं उनका आकस्मिक शुभागमन और सौहार्द तथा सौजन्य देख अवाक् रह गया। उनकी सेवा में परिषद् की पुस्तकें बराबर भेजता ही रहता था। जो नयी छपी पुस्तकें शेष थीं उन्हें समर्पित कर आशीर्वाद की याचना की तो भाव-विभोर होकर ग्रंथ-प्रकाशन की सराहना करने लगे।

फिर दूसरे दिन बिहार-हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन में 'बच्चन देवी-साहित्य-गोष्ठी'[1] का उद्घाटन करने आए। उस अवसर के अपने भाषण में उन्होंने साहित्यकारों को चरित्र की निर्मलता का संदेश दिया था। उन्होंने बड़े दृढ़ शब्दों में अपनी यह धारणा व्यक्त की थी कि ऊंचे चरित्र के साहित्यसेवी का साहित्य ही समय के थपेड़े को सहता हुआ सदियों तक टिकाऊ रह सकता है। और जिस साहित्य के पीछे चरित्रोत्कर्ष की शक्ति होगी वही लोक-कल्याणकारी तथा स्थायी होगा। जिस समय वह बोल रहे थे उनके मुखड़े की शिराएं तन गई थीं। चेहरा तो उनका ऋषियों-जैसा था ही। उनकी वाणी उनके अन्तस्तल से निकलती थी और उसमें उनकी तपस्या की तेजस्विता रहती थी। आधुनिक साहित्य-संसार में पवित्र चरित्र को महत्त्वहीन समझने की प्रवृत्ति पर उन्होंने खेद प्रकट किया था। वास्तव में आदर्श चरित्र की व्यावहारिक शिक्षा देने के लिए उनका सारा जीवन एक विद्यालय के समान है।

टण्डनजी ने अपनी लेखनी से अधिक अपनी वाणी से ही राष्ट्रभाषा हिन्दी की सेवा की है। देश-विदेश में हिन्दी को व्यापक बनाकर वह अमर हो गए हैं।

मैं नवम्बर, सन् १९६० में निरालाजी को देखने प्रयाग गया था। मित्रवर पं० वाचस्पति पाठक के साथ टण्डनजी के दर्शन करने भी गया। सम्मेलन के भूतपूर्व प्रधान-मंत्री पं० मौलिचन्द्र शर्मा वहां विराजमान थे। शर्माजी उनसे चर्चा कर

---

१. बच्चन देवी (तीसरी पत्नी) के नाम पर स्थापित इस साहित्य-गोष्ठी का उद्घाटन टण्डनजी द्वारा ४ जुलाई, १९५४ को हुआ था।—सं०

रहे थे कि सम्मेलन का उद्धार शीघ्र ही होने जा रहा है। वह प्रसन्न-मुद्रा में थे; पर सांसों में ही बोलते थे। अत्यन्त मंद स्वर उनकी अशक्तता का द्योतक था। जब हिन्दी की वर्तमान स्थिति पर बातें होने लगीं तब उनका मुखमंडल विवर्ण हो गया, उनके चेहरे की शिराएं तन गयीं। पलंग पर मसनद के सहारे बैठे थे, हिन्दी का हाल सुनते-सुनते वह सांस खींचकर लेट गए। दाहिने हाथ की अंगुलियों को आड़ी-तिरछी करके शून्य में हिला दिया और आंखें मूंद लीं। उनकी मनःस्थिति देखकर चित्त कातर हो गया।

उनके दिल का दर्द परखकर पाठकजी ने कहा भी कि अब आप इन सारी चिन्ताओं से मुक्त हो जाइए। किन्तु वह जीवनमुक्त महापुरुष हिन्दी की चिन्ता में ही सतत तल्लीन रहकर संसार से ही मुक्त हो गया। क्या उनको बातों से समझाकर कोई आश्वस्त कर सकता था? उनको विश्वास न था कि जिस राष्ट्र की सेवा में उन्होंने अपना जीवन होम दिया, वही राष्ट्र उनकी भावना को ठेस पहुंचाएगा। वह सच्चे अर्थ में कर्मयोगी और कर्मवीर पुरुषोत्तम थे, पर साहित्यिक रुचि के मनुष्य होने के कारण उनकी भावना बड़ी सुकुमार थी। हिन्दी को अपने ही घर में अपदस्थ होते देखकर वह बेचारी सुकुमारी छटपटाकर अथाह में डूबती हुई-सी उनके प्राणों को ग्रसती रही और अन्त में उन्हें ले ही डूबी। अब उनकी तरह सांस-सांस में हिन्दी को कौन जपेगा?

आचार्यश्री नलिनविलोचन शर्मा

नलिनजी के स्वभाव की मधुरता उनकी अपनी पैतृक सम्पत्ति थी। उनके पिता महामहोपाध्याय पंडित रामावतार शर्मा को मैंने देखा था। वह अन्तर्राष्ट्रीय ख्याति के विद्वान् थे। उनके निवासस्थान पर प्रायः संध्या-समय पंडितों का जमघट होता था[1]। प्रोफेसर अक्षयवट मिश्र और पंडित रामदहिन मिश्र तथा पंडित ईश्वरीप्रसाद शर्मा के साथ मैं अनेक बार उस दरबार में गया था। वहां मैं दर्शक-मात्र था। वहां जो शास्त्रीय और साहित्यिक चर्चा होती थी, उसका मौन श्रोता भी मैं था। चुपचाप देखने-सुनने के सिवा मेरी वहां गति ही कहां थी! शर्माजी की मधुर प्रकृति पंडितों को आकृष्ट किए रहती थी। अपनी गम्भीरता में अपनी विद्वत्ता छिपाये हुए वह पंडितों की बातें सुनते रहते थे। कभी-कभी बीच में कहीं छेड़ते और उकसाते भी थे। उनकी मधुर वाणी पंडितों को उत्कंठित और

---

१. 'महामहोपाध्याय पंडित रघुनंदन त्रिपाठी, पंडित विजयानंद त्रिपाठी; पंडित देवदत्त त्रिपाठी आदि उस दरबार के प्रतिष्ठित सदस्य थे।'

विस्मित कर देती थी। शाही दरबार का वह दृश्य आंखों में झलक जाता है। उस समय तक मैं साहित्य-क्षेत्र में प्रवेश पा चुका था। अतः जव कभी मैंने वह विद्वत्सभा देखी, मुझे यही अनुभव हुआ कि शर्माजी विश्वविख्यात विद्वान् होने पर भी अपने मधुर व्यवहार से सभी समागत विद्वानों को सन्तुष्ट ही करना चाहते हैं, किसी पर अपने पांडित्य की धाक जमाना नहीं चाहते। यही विशेषता नलिनजी में भी थी। मेरा तो यहां तक अनुमान है कि नलिनजी अपने पिता से भी अधिक मधुर और गम्भीर थे। उनके और उनके पिता के इस गुण में अन्तर भी था। उनके पिता के मधुर स्वभाव से कोई अनुचित लाभ नहीं उठा सकता था। किन्तु उनके अपने स्वभाव में जो मिठास थी उससे लोग सुगमता के साथ अनुचित लाभ उठा लिया करते थे। उनकी प्रकृतिगत मधुरता दूसरों के लिए लाभ-दायिनी थी, पर उनके अपने हित में उससे वाधा पहुंचती थी। उनकी गम्भीरता भी ऐसे प्रसंगों को पचाने के लिए अगाध थी। यदि कभी उनसे कहा भी जाता कि ऐसा मधुर न बनिए जिससे मिट्टी के देवता की तरह लोग तिलक में ही गायब कर दें, तो हंसकर रह जाते थे। फिर स्वभाव ज्यों-का-त्यों।

नलिनजी के पास कॉलेजों के प्राचार्य और अध्यापक भी अपनी 'थीसिस' के विषय में सलाह लेने आया करते थे। स्नातक तो आते ही थे, साहित्यिक शोध में निर्देश लेने सुदूरवर्ती लोग पत्र लिखकर भी पूछताछ करते थे। आगन्तुक सज्जन अपना प्रयोजन सिद्ध करने की धुन में यह वात भूल जाते थे कि नलिनजी के समय का भी कुछ मूल्य है। रात हो या दिन, खाने का समय हो या सोने का, परीक्षा की कॉपियां जांचने में देर हो रही हो, कहीं वाहर जाने के लिए तैयार होने की उतावली हो, वह न किसी की उपेक्षा कर सकते थे और न किसी को हताश। धीर-गम्भीर भाव से यथोचित सुझाव देते चले जाते थे। थीसिसों की रूपरेखा में संशोधन-परिवर्तन-परिवर्द्धन करते भी उन्हें देखा है। उसे आपाद-मस्तक रंग डालते थे। अपने परमावश्यक कार्य का ध्यान रखते हुए भी बला नहीं टालते थे। उकताते या झुंझलाते नहीं थे। जो महाशय आते थे वे उनकी मधुरता से तृप्त होकर जाते थे। अस्वस्थता की दशा में भी यह मधुरता का बाना अपना बानक बनाये रहा।

साहित्य-क्षेत्र में उनकी परोपकार-वृत्ति का लेखा-जोखा आंकना बड़ा कठिन है। इसी के कारण दिन-भर और रात में काफी देर तक उन्हें कार्य-व्यस्त रहना पड़ता था। अतः लिखने-पढ़ने का अधिकतर काम रात में जागकर ही करते थे। सोने का समय पढ़ने में बिताने से सुबह देर तक सोना अनिवार्य हो जाता था। इधर कुछ दिनों से उनको अस्वस्थ रहते देखकर मैंने कई बार उनसे कहा कि रात में जागकर पढ़ने और सुवह में सोने का क्रम बदलिए। किन्तु वह अपनी

विवशताएं बतलाने लगे तो यह कहते न बना कि अपना कार्य-भार हलका करने के लिए कुछ कामों को अस्वीकृत कर दीजिए या मित्रों में बांट दीजिए; क्योंकि वह सभी अंगीकृत कार्यों को अपनी प्रतिष्ठा और धारणा के अनुकूल ही सम्पन्न करना चाहते थे। उनके पास विविध भांति के बड़े महत्त्वपूर्ण साहित्यिक काम आते थे और सबको वह स्वयं ही पूरा करते थे। दूसरा कोई न उनकी तरह सोच सकता था और न लिख सकता था। उनकी चिन्तनधारा और विचारधारा तथा लेखन-शैली में उनकी निजी मौलिकता की ही सत्ता व्याप्त थी। अपने ऊपर व्यस्त कार्य की पूर्ति में वह सदा अपनी ही सूझ-वूझ का सहारा लेते रहे। इस प्रकार उन्हें निरन्तर परिश्रम करने में तत्पर रहना पड़ता था। 'साहित्य' के विविध-विषयक लेख प्रायः शोध-समीक्षा-प्रधान ही होते थे और उनके संशोधन-सम्पादन में तथा समालोचनार्थ प्राप्त पुस्तकों को मनोयोगपूर्वक पढ़कर उनकी आलोचना लिखने में वह अपने मस्तिष्क पर वहुत अधिक बल देते थे। साधारण काम को भी जैसे-तैसे निपटाकर पिण्ड छुड़ाना वह नहीं जानते थे। इसलिए उन्हें खटना तो पड़ता ही था, खपना भी पड़ता था। अपने उत्तरदायित्व के निर्वाह में सदा सावधान रहने की जो प्रवृत्ति उनमें थी, उसके कारण साहित्य-सेवा के छोटे-बड़े नानाविध कार्यों में उन्होंने अपने-आपको खूब खपाया। अपने किये हुए काम में किसी प्रकार की कोताही करना या कुछ भी कसर रहने देना उनके स्वभाव के अनुकूल नहीं था। काम के पूरा होने में कुछ समय भले ही लग जाए, उसे अपने संतोष के अनुसार अच्छी तरह पूरा करके ही चैन पाते थे।

मैं लगातार ग्यारह वर्षों तक उनके साथ 'साहित्य' का सम्पादक रहा। वह मुझसे पचीस वर्ष छोटे थे, तब भी मैंने उनसे बहुत-कुछ सीखा। उनके पिता की विद्वत्ता तो भारत-प्रसिद्ध थी, जिसके तेजस्वी कण उनके उर्वर मस्तिष्क में इधर कई साल से अंकुरित और क्रमशः पल्लवान्वित होने लगे थे। पुष्पित और फलित होने का समय आ ही रहा था कि आचार्य जानकीवल्लभ शास्त्री के उद्गारानुसार 'हा हन्त हन्त नलिनं गज उज्जहार'। 'साहित्य' में छपने वाले निबन्धों की पाण्डुलिपियों का सम्पादन करते समय वह अपनी कसौटी का उपयोग बड़ी दृढ़ता और निष्पक्षता से करते थे। निबन्ध, कहानी, कविता, उपन्यास, आलोचना आदि के सम्बन्ध में उनके अपने निश्चित सिद्धान्त थे, जिन्हें कभी प्रसंगवश सुनने पर उनकी मननशीलता का परिचय मिलता था। ऐसे ही प्रसंगों के छिड़ने पर उनके विचारों को सुनने से ज्ञानवृद्धि होती थी। प्राच्य और पाश्चात्य का गहन तुलनात्मक अध्ययन उन्होंने बड़ी सूक्ष्मदर्शिता से किया था, इसलिए उनके विचार बड़े ठोस होते थे। समीक्षा के क्षेत्र में तो समस्त हिन्दी-संसार में उनका एक स्वतन्त्र स्थान बनता जा रहा था। उपन्यासों की नाड़ी-परीक्षा में वह ऐसे परिपक्व अनुभवी हो गये थे कि कोई नया प्रसिद्ध उपन्यास पढ़

लेने के बाद उनसे उसकी चर्चा चलाने पर उनके तत्सम्वन्धी विचार सुनकर दृष्टिकोण ही वदल जाता था, उसका जौहर भी खुल जाता था और उसकी वास्तविकता भी प्रकट हो जाती थी। इस तरह उनके सुचिन्तित विचार एक नयी दृष्टि देते और अपने आलोक से चमत्कृत भी करते थे। अपनी संक्षिप्त समालोचना में भी वह एक-दो पंक्तियों में ही ऐसे पते की वात कह जाते थे कि उससे आलोच्य पुस्तक की नस पकड़ में आ जाती थी। कभी-कभी तो उनका केवल एक ही शव्द ऐसी मार्के की बात ध्वनित कर देता था कि उनकी सूझ की बारीकी पर विस्मय होता था। वह कितने ही ऐसे विपुलार्थवोधक नये शव्द गढ़कर प्रयोग करते थे जो हिन्दी के प्रकाशित साहित्य में कहीं दृष्टिगत नहीं होते थे। उनकी रचनाओं में ऐसे सुदूरसन्धानी ध्वन्यात्मक शव्द देखे जा सकते हैं।

एक अवसर पर मैंने एक पत्र लिखकर उन्हें दिया, जिसमें उनसे निवेदन किया था कि अस्वस्थता और नेत्र-शक्ति की क्षीणता के कारण अव मैं 'साहित्य' का सम्पादक नहीं रहना चाहता, इसलिए ग्यारहवें नये साल से 'साहित्य' पर मेरा नाम न छापा जाये। यद्यपि मेरी आंख और देह की दशा देखकर कई साल पहले से ही वह मुझसे सम्पादन-सम्वन्धी कोई काम नहीं लेते थे, तथापि मुझे यह बहुत खलता था कि उन्हें अकेले ही सारा भार वहन करना पड़ता है, जिसका हानिकारक प्रभाव उनके स्वास्थ्य पर पड़ रहा है। किन्तु मेरा पत्र पढ़कर उन्होंने मधुर-मधुर हंसते हुए कहा—'आप तो अभी सम्पादकीय टिप्पणियां लिख ही देते हैं, जब एक भी अक्षर न लिख सकेंगे तब भी नाम छपता रहेगा।' मैं उनके बन्धुत्व की बड़ाई कहां तक करूं! वैसा सुहृद दुर्लभ है। वैसा स्मितपूर्वाभिलाषी और मधुरालापी व्यक्ति कहां मिलेगा! वैसा मित्र-वत्सल और शिष्ट पुरुष साहित्यिक समाज को धन्य करने क्या फिर आयेगा?

संयोग की बात, एक दिन विहार-हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन के अनुशीलन-कक्ष में हम दोनों वैठे थे। उन्होंने सहसा कहा कि 'साहित्य' के सम्पादकीय स्तम्भ में स्वर्गीय साहित्य-सेवियों पर लिखी आपकी संस्मरणात्मक टिप्पणियां[1] मुझे बहुत पसन्द हैं। मैंने कहा कि आपकी पसन्द हीं उनकी सार्थकता है; किन्तु मेरे निधन पर आपको भी वैसी ही टिप्पणी लिखनी पड़ेगी। छूटते ही बोल उठे कि कहीं आपको ही मेरे लिए लिखना पड़ गया तो आपकी अभ्यस्त लेखनी

---

१. अप्रैल १९५९ से जनवरी १९६२ के बीच 'साहित्य' में प्रकाशित ऐसी सभी संस्मरणात्मक टिप्पणियां 'विम्व : प्रतिविम्व' शीर्षक संस्मरण-पुस्तक में १९६७ में संकलित-प्रकाशित हुई थीं।—सं०

मुझसे बाजी मार ले जाएगी ।'[1] इस पर उस दिन तो हम दोनों के अट्टहास से कक्ष मुखरित हो गया, परन्तु उस बात की स्मृति का वृश्चिक-दंशन हृदय को बड़ा ही व्यथित कर गया। क्या मनुष्य के अन्तःकरण में व्याप्त ब्रह्म भविष्यवाणी भी किया करता है ?

राजा राधिकारमणजी

मैंने राजा साहब को सबसे पहले सन् १९०५ में देखा था । मैं जिस हाईस्कूल में पढ़ता था उसके पिछवाड़े की कोठी में वे दोनों भाई रहते और आरा जिला-स्कूल में पढ़ते थे । जिस शानदार फिटन पर वे लोग स्कूल जाते-आते थे, उसमें दो मस्ताने लाल घोड़े जुते रहते थे, जिनकी फरफराती हुई नौतियां और मस्ती की अंग-भंगी देखने के लिए पथिक भी ठिठक जाते थे। दोनों भाइयों की एकरूपता, किशोरावस्था की सुन्दरता तथा राजसी वेशभूषा

---

१. यह टिप्पणी अक्तूबर, १९६१ के 'साहित्य' में प्रकाशित हुई । उसकी ये पंक्तियां विशेष उद्धरणीय हैं—

'हमसे उम्र में वे लगभग पचीस वर्ष छोटे थे । तब भी हम अपनी ब्रह्मण्य भावना के वशीभूत हो दशहरा और होली में उनके चरणस्पर्श का आग्रह करते थे। वे कहते, यह असह्य अत्याचार है । हम कहते, यह हमारा जन्मसिद्ध अधिकार है । विजय हमारी श्रद्धा की ही होती, पर वे क्षणभर संकुचित और गम्भीर होकर मौन रहते । ऐसे शीलवान थे कि उनका मुखमण्डल पलभर विवर्ण रहता। तर्क से उनको कायल करना कठिन था। किन्तु सहृदय तो वे एक ही थे । उन्होंने विवशता के स्वर में कहा था—'श्रद्धा के सामने तार्किक बुद्धि भी किंकर्तव्यविमूढ़ हो जाती है।' ये शब्द अक्षरशः उन्हीं के हैं । लोग कहते हैं, वे प्राचीन परम्परा के विरोधी थे। किन्तु, लगातार बारह वर्षों तक अत्यंत निकट से उन्हें देखने के कारण हमारी यह निश्चित धारणा है कि वे भारतीयता के अनन्य उपासक थे। जो अतिथि-सत्कार में अद्वितीय था, जिसका आचरण मानव-धर्म का आदर्श उपस्थित करता था, जिसकी वाणी सबके हृदय को आप्यायित करती थी, जिसकी लेखनी सत्य को प्रकट करने में निर्भय थी, जो परोपकार करके उसके गोपन में सावधान रहता था, जो अपने अपकारकर्त्ता का भी अनिष्ट सोचता तक न था, जो अपने शील से दूसरों को अनुचित लाभ उठाते देख-परखकर भी मुसकराते-मुसकराते विष पी जाता था, उससे बढ़कर भारतीय परम्परा का समर्थक कौन हो सकता है ?'

की शोभा हम स्कूली लड़कों के लिए बड़े कुतूहल की वस्तु थी।

जहां तक स्मरण है, सन् १९२० में बिहार-प्रादेशिक-हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन का दूसरा महाधिवेशन बेतिया (चम्पारण) में हुआ था। उसके सभापति राजा साहब ही थे। उनके साथ आरा नगर के कई साहित्यसेवी बेतिया गये थे। पंडित ईश्वरीप्रसाद शर्मा, पंडित रामदहिन मिश्र, पंडित पारसनाथ त्रिपाठी आदि के साथ मैं भी गया था। राजा साहब सबको अपने साथ प्रथम श्रेणी के डिब्बे में ले गये थे और बेतिया के राजमहल में सबको अपने साथ ही ठहराया था। उसी समय उनसे निकट सम्पर्क स्थापित हुआ। वह राज्य के अतिथि थे। स्टेशन से राजमहल तक सभापति का जो जुलूस चला उसमें बेतिया-जैसे प्रसिद्ध और प्रतिष्ठित राज्य का वैभव पूर्ण रूप से प्रदर्शित था। सम्मेलन के किसी वार्षिक अधिवेशन में वैसा भव्य जुलूस नहीं देखा गया। राज्य के आतिथ्य का सुख हम साहित्यिक व्यक्तियों ने भी भोगा। राजा साहब का भाषण ऐसा आकर्षक हुआ कि उस युग के पत्रों में उसकी खासी चर्चा रही।

उस समय से भी पहले उनकी ललित कहानियों का एक संग्रह आरा की नागरी-प्रचारिणी-सभा से निकल चुका था। उसका नाम था 'गल्पकुसुमावली'। उसके प्रकाशन के बाद हिन्दी-पत्र-पत्रिकाओं में उसकी सरस भाषा-शैली की इतनी अधिक प्रशंसा हुई कि अनेक वयोवृद्ध साहित्यकारों के रहते हुए भी राजा साहब अपनी उठती जवानी में ही प्रादेशिक सम्मेलन के सभापति मनोनीत कर लिये गये। उक्त कहानी-संग्रह के बाद उनकी 'तरंग' और 'नवजीवन' या 'प्रेम-लहरी' नामक पुस्तकों ने भी उनके लिए ऐसी कमनीय कीर्ति अर्जित की कि हिन्दीजगत् के धुरन्धर विद्वानों तथा आलोचकों का ध्यान भी उनकी ओर आकृष्ट हुआ। फलस्वरूप वह काशी की नागरी-प्रचारिणी-सभा के वार्षिक महोत्सव के भी अध्यक्ष बनाये गये। इतना ही नहीं, आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने अपने 'हिन्दी-साहित्य का इतिहास' ग्रन्थ में भी राजा साहब की भाषा-शक्ति की प्रशंसा की। भाषा की क्षमता और रमणीयता के लिए आचार्य शुक्ल की प्रशंसा प्राप्त करना आसान बात नहीं है। वह भी राजा साहब को अनायास सुलभ हुई।

१०

मेरा जीवन

मेरे पूज्य पिता बहुत अच्छे रामायणी थे और प्रतिदिन दोनों वेला 'रामचरितमानस' का पाठ नियमित रूप से किया करते थे। 'मानस' के श्लोक और चौपाई-दोहे कंठस्थ करके सुनाने पर मुझे नित्य पैसे दिया करते। मेरे बचपन में उन्होंने यह अभ्यास कई साल तक कराया। उनकी प्रेरणा से यह अभ्यास उनके जीवन के अंतिम दिनों (१९०६ ई०) तक चलता रहा। इसका प्रभाव मेरे समस्त जीवन पर बड़ा गहरा पड़ा। मर्यादापुरुषोत्तम भगवान् रामचन्द्र में श्रद्धा-भक्ति रखने और उनके आदर्शों पर सदैव ध्यान देने के लिए वह प्रोत्साहन दिया करते थे। मेरे आचरण पर पिताजी की सीख का बहुत अच्छा असर हुआ। मैं समझता हूं कि राम-कृपा से ही मैं प्रवेशिका-कक्षा से फारसी-उर्दू की पढ़ाई छोड़कर एकाएक हिन्दी पढ़ने लगा, जो मेरे स्कूल या नगर (आरा) की सबसे पहली घटना थी। स्कूल में शुरू से ही फारसी-उर्दू पढ़ते रहने पर भी रामायण का संसर्ग कभी न छूटा और पिताजी के आदेशानुसार मैं नित्य 'मानस'-पाठ भी करता रहा, जो बराबर जारी रहा। साहित्य-सेवा की प्रेरणा का मूल स्रोत मेरी समझ में 'मानस' ही है, जिसके कारण छात्रावस्था (१९१० ई०) से ही मैं पटना की साप्ताहिक पत्रिका 'शिक्षा' में लेखादि लिखने लगा। मेरे स्कूल के हिन्दी-शिक्षक पंडित चन्द्रहास द्विवेदी, जो मेरे जिले के ही थे, और संस्कृत-शिक्षक पंडित रामचरित उपाध्याय, जो बलिया जिले (उत्तर प्रदेश) के थे, मुझे उर्दू-कक्षा से हिन्दी-कक्षा में आने तथा मानसानुरागी छात्र होने के कारण विशेष उत्तेजना देने लगे। उक्त द्विवेदीजी ने 'हिन्दी-बोध' नामक एक पुस्तक लिखकर छपवायी, जिसे मैं अपनी साहित्य-शिक्षा की पहली पाठ्य-पुस्तक मानता हूं। फिर उक्त उपाध्यायजी ने मुझसे संस्कृत की प्रथमा परीक्षा दिलवायी और मुझसे संस्कृत का 'सुभाषित-रत्न-भांडागार' नामक ग्रंथ (निर्णयसागर प्रेस, बम्बई) मंगवाकर मुझे पढ़ाने तथा उसके सुबोध श्लोकों को कंठस्थ कराने लगे। इसका परिणाम यह

हुआ कि संस्कृत और हिन्दी के प्रति अविरल अनुराग मेरे मन में जाग्रत होता गया। संयोगवश सुपरिचित हिन्दी-साहित्य-सेवी पंडित ईश्वरीप्रसाद शर्मा मेरे स्कूल में हिन्दी के साहित्याध्यापक होकर आये, जिन्होंने मेरे साहित्यानुराग को परखकर उसे और भी अधिक बढ़ावा दिया। वह मुझे आरा नगर की नागरी-प्रचारिणी-सभा में प्रतिदिन संध्या समय अपने साथ ले जाते और पत्र-पत्रिकाएं चुनकर पढ़ने तथा उनमें से आवश्यक बातें लिख लेने के लिए निर्देश करते थे। इस प्रकार वही मेरे साहित्यिक गुरु बन गए और जब तक जीते रहे, मेरा पथ-प्रदर्शन करते गए। अत: साहित्य-सेवा का व्यापार मेरी आर्थिक आवश्यकता की पूर्ति का साधन होने के अलावा मेरी हार्दिक प्रवृत्ति के कारण भी मेरे जीवन का चिरसंगी बन गया। यद्यपि हिन्दी लिखे-पढ़े बिना चैन न पाने की मेरी स्वाभाविक मनोवृत्ति और प्रवृत्ति हो गयी, बल्कि प्रकृति ही वैसी बन गयी, तथापि मैं यही मानता हूं कि केवल जीविकोपार्जन के मुख्य साधन के रूप में ही मैंने साहित्य को अपनाया। योगक्षेम की कामना के साथ-साथ वह जन्मजातोपम प्रकृति भी इस काम में निरन्तर उत्साह देती रही।

साहित्य-समाराधन के कार्य में प्रवृत्त करानेवाले संयोग का सूत्रपात उसी समय हो चुका था, जब मैं फारसी-उर्दू पढ़नेवाला छात्र था। उस संयोग का श्रीगणेश तो तब हुआ जब मैं स्कूल में दाखिल होनें से पहले उर्दू के मदरसे में पढ़ता था। मेरे बड़े बहनोई मुंशी कालिकाप्रसादजी हिन्दी के प्राचीन भक्ति-साहित्य और रीति-साहित्य के बड़े अच्छे ज्ञाता थे। मकतब की पढ़ाई-लिखाई के अतिरिक्त जो अवकाश का समय मिलता था उसमें वह मुझसे नागराक्षर लिखवाते थे। मेरे अक्षर सुडौल होतें थे, इसलिए काशी-नरेश के विशाल 'महाभारत' के रोचक प्रसंगों की प्रतिलिपि वह मुझसे ही कराते थे। वे हस्तलेख मेरे संग्रहालय में हैं। उन्होंने स्वयं भी महाभारतान्तर्गत 'भगवद्गीता' की पूरी प्रतिलिपि तैयार की थी, फिर अयोध्या-नरेश के प्रसिद्ध ग्रंथ 'रसकुसुमाकर' की भी प्रतिलिपि कर डाली थी। इन दोनों ग्रंथों की नकल करते समय मैं बालपन के कुतूहलवश उनसे विविध भांति के प्रश्न करता जाता था और वह बड़े सरस ढंग से प्रसंग समझाते थे। इस रीति से भी उर्दू के पाठाभ्यास-काल से ही साहित्यिक दिशा में प्रवृत्ति बढ़ती गयी। फिर स्कूल में पढ़ते समय जब मेरी पहली शादी हुई (१९०७ ई०), तब जेठ में ब्याह होने के बाद भाद्र मास में ही मेरी धर्मपत्नी का देहान्त हो गया। यद्यपि द्विरागमन नहीं हुआ था, तथापि पत्नी से मेरा सामान्य परिचय करा दिया गया था। वह पढ़ी-लिखी थी, इसलिए दो महीने तक चिट्ठी-पत्री भी होती रही। किन्तु उसके अचानक मरने से चित्त पर ऐसी चोट पहुंची कि मैंने उसके सभी संचित प्रेम-पत्रों को जला डाला और अब प्रेम-पत्रों का वियोग भी खलने लगा, तब उस देवी की दिवंगता आत्मा को लक्ष्य करके सुन्दर-

से-सुन्दर सम्वोधनों के साथ प्रेम-पत्र लिख-लिखकर अपने व्याकुल हृदय के उद्‌गार बाहर निकालने लगा। यह क्रम एक वर्ष तक चला। खेद है कि अज्ञानजन्य मोहवश उन ललित प्रेम-पत्रों को भी नष्ट कर दिया। किन्तु उन्हीं प्रेम-पत्रों से लिखने की लत लग गयी। यह एक ऐसा अद्‌भुत रोग है जिसकी दवा भी यही है।

आरम्भ में जो छोटे-मोटे लेख छपे, वे तो वैसे ही लघु निबन्ध थे, जैसे स्कूली छात्रों से कक्षाओं में लिखवाये जाते हैं; पर जब कहानियां लिखने का शौक हुआ, तब पहले प्रेम की दुनिया में प्रवेश हुआ। पर मेरे उपर्युक्त साहित्यिक गुरु शर्माजी ने उन सभी कहानियों को अस्वीकृत ही नहीं किया, उनका अस्तित्व भी नष्ट करा दिया। उनके निर्देशानुसार मैं लोक-समाज में ही कथावस्तु खोजने की ओर उन्मुख हो गया। मेरी कुल पन्द्रह मौलिक कहानियां हैं, जिनमें ऐतिहासिक सत्य पर जो आश्रित हैं, उन्हें छोड़ सभी कहानियां आंखों-देखी, कानों-सुनी सच्ची घटनाओं पर ही अवलम्बित हैं। अत्यन्त साधारण ग्रामीण व्यक्ति मेरे सम्पर्क में आये और उनके द्वारा सुने हुए वृत्तान्तों से कहानी लिखने की प्रेरणा मिल गयी। ऐसी प्रेरणा व्यक्तिगत अथवा निजी अनुभवों से भी मिली। मेरे गांव का एक मामूली किसान, जिसका नाम 'जगेसर' था और जो वड़ा निष्ठावान शिव-भक्त था, प्राय: ईश्वर-भक्तों की कथाएं सुनाया करता था; लड़कपन में उससे सुनी हुई सच्ची घटना पर मेरी 'हठ भगतजी' नामक कहानी लिखी गयी।

जीवन के संघर्ष के अवसर तो बराबर बने रहे। किशोरावस्था में ही अभिभावकों की छत्रछाया सिर से हट गयी, गांव के घर की खेतीबारी भी आकाशवृत्ति-तुल्य हो गयी, जीविका की आधारशिला केवल लेखनी ही रह गयी। हिन्दी के लेखकों और प्रकाशकों में जैसा सम्बन्ध रहता आया है, जग-जाहिर है। 'अंधी पीसे कुत्ता खाय' कहावत मुझ पर सटीक वैठती है। किन्तु भगवद्‌कृपा से अभावग्रस्त रहते हुए भी संतोष का पल्ला कभी न छूटा। मेरी रचनाओं में कोई ऐसी विशेषता भी न होती कि मैं पुरस्कार अथवा पारिश्रमिक के निमित्त कभी आशा अथवा आग्रह करूं। अपनी रचना को प्रकाशित और लोकलोचन के समक्ष उपस्थित देखकर ही आनन्द-अनुभूत रहा और दिन-रात की श्रमशीलता से जो कुछ विश्वम्भर दिलवाते, उससे तन-मन को सुख प्राप्त होता रहा। यदि प्रकाशक-बंधु मेरे प्रति थोड़ी भी सहानुभूति दिखाते तो संघर्ष की प्रखरता कुछ कम हो जाती। किन्तु अपनी परम्परा-प्राप्त स्वाभाविक आस्तिकता के कारण मैं यही समझकर संघर्ष झेलता रहा कि मैं प्रकाशकों का पुराकृत ऋण चुका रहा हूं और यथालाभ-संतोष ही प्रभु का आदेश है। हिन्दी से ऐसी लगन ही लग गयी कि संघर्ष से मैं कभी कतराया नहीं और इसके लिए कभी किसी के साथ मन मैला न किया। घोर अर्थ-संकट में भी शील का कभी

तिरस्कार करने का दुस्साहस न किया। ईश्वर ने इसका यही पुरस्कार दिया कि संकट आया भी तो बाढ़ की तरह ऊपर-ही-ऊपर निकल गया। ईश्वर-प्रार्थना का सहारा मनुष्य को कभी दीन अथवा परमुखापेक्षी नहीं होने देता। और संघर्ष तो जीवन-चन्दन का सौरभ फैलानेवाला है, उसके बिना जीवन सर्वथा निष्क्रिय हो जाता है। मैंने संघर्ष को सदा भगवद्प्रसाद ही समझा है। जीवन के संघर्षों का विवरण देना तो कटुता फैलानेवाला, राग-द्वेष का तूफान खड़ा करना है। वह विवरण तो मेरी दैनन्दिनी के पन्नों में ही गुप्त रहने योग्य है। मुझे तो अपने अनन्य हिन्दी-प्रेम के लिए कठिनाइयों से जूझते रहने की शक्ति ही परमात्मा से मांगने में सुख मिलता है। जब उसकी मर्जी के खिलाफ एक पत्ता तक नहीं हिलता, तब संघर्ष को भी उसी की देन समझने में हानि ही क्या है! परमहंस श्री रामकृष्ण की वह अमरवाणी इसी सत्य का उद्घाटन करती है—'जो हानि हो सो प्रभु की इच्छा और जो लाभ हो सो प्रभु की कृपा।' इस अमोघ संतवाणी का ध्यान बना रहे तो जीवन-संग्राम में उस लोकोक्ति का चमत्कार स्पष्ट दीख पड़ता है—'भारत में भरदूल का अंडा, घंटा टूटि पर्‌यो।' किन्तु संघर्षशील जीवन में इस दार्शनिक भावना को चरितार्थ करने के लिए भी कठोरतम मानसिक संघर्ष करना पड़ता है और उसके लिए भगवद्कृपा की चिरन्तन अनुभूति से ही क्षमता प्राप्त होती है।

जीवन में आये-गये संकटों और क्लेशों का लेखा-जोखा संकलित करना बड़ा कठिन काम है, परन्तु दो मुख्य प्रसंगों के संक्षिप्त उल्लेख से मेरी उपर्युक्त बातों की पुष्टि होती दीख पड़ेगी। काशी-प्रवास के समय (१९२७ ई०) ऊंची छत से गिरने के कारण मेरा दाहिना पैर टूट गया। पैसे पास नहीं थे। सेवक-सहायक का भी अभाव था। किन्तु ईश्वरेच्छानुसार इष्टमित्रों और शुभचिन्तकों ने अप्रत्याशित रूप में सब अभावों की पूर्ति कर दी। समझ में न आ सका कि महीनों तक सैकड़ों का खर्च कैसे निभा और किसने निभाया। उस अदृश्य सत्ता के सिवा किसी और का यह खेल नहीं था। दूसरी बार जब मैं बिहार-राष्ट्रभाषा-परिषद् (पटना) का संचालक था, यक्ष्मा से आक्रान्त हो गया (१९५१-५२)। यक्ष्मा-केन्द्र चिकित्सालय में महीनों शैयाग्रस्त रहा। मेरे दोनों पुत्र कॉलेज के छात्र थे। आमदनी का कोई जरिया नहीं। नयी सरकारी नौकरी के नियमानुसार केवल डेढ़ मास का वैतनिक अवकाश मिला। परिवार की असहायावस्था की चिन्ता अलग सताने लगी। किन्तु विपत्ति के घने बादलों में से ईश्वर की कृपा की सुनहली किरणें अनायास फूट पड़ीं। उस समय हिन्दी के प्रसिद्ध साहित्यकार श्री जगदीशचन्द्र माथुर, आई० सी० एस०, बिहार सरकार के शिक्षा-सचिव और आचार्य बदरीनाथ वर्मा शिक्षामंत्री थे। इन दोनों महानुभावों को भगवान् ने अविलम्ब मेरी सहायता की प्रेरणा दी। देखते-देखते उक्त परिषद् से मेरी सभी

छोटी-बड़ी रचनाओं के प्रकाशन की व्यवस्था हो गयी। बिहार सरकार ने इस काम के लिए पैंतीस हजार रुपये परिषद् को दिये और समस्त रचनाओं की अनुमति पृष्ठ-संख्या के आधार पर मुझे लब्धांश (रॉयल्टी) भी पेशगी मिल गया। सरकारी वैधानिक व्यूह को भेदकर यह सुविधा अनायास निकल आयी। फिर प्राणघाती रोग की बुराई में से यह भलाई भी निकली कि मेरी अधिकांश रचनाएं उक्त परिषद् से चार बड़े खंडों में प्रकाशित हो गयीं, जिसका लाभांश प्रतिवर्ष मिल रहा है। इस प्रकार विपत्ति में सम्पत्ति का आगमन सहसा भगवद्-कृपा का ही आभास देता है।

मुझे सबसे अधिक संतोष जीवनभर में दो ही कामों से मिला। एक तो मेरे चिर-संचित पुस्तक-संग्रह की सुरक्षा के योग्य पक्का भवन बन गया और बिहार के साहित्यिक इतिहास के प्रकाशन की निश्चित व्यवस्था उक्त परिषद् में हो गयी। पुस्तकालय बनवाने के लिए पैसे मेरे पास न थे और आशा भी न थी कि पक्का मकान कभी बन सकेगा। अचानक सरकारी आदेश मिला कि अहिन्दी-भाषी सरकारी अफसरों की हिन्दी-शिक्षा के लिए एक पाठ्य-पुस्तक बनाओ। मैंने प्रयत्न किया। वह सफल भी हुआ। एकमुश्त दो हजार रुपये मिल गए और गांव के घर पर पुस्तकालय बनवा डाला। वह १९२१ ई० में श्रीरामनवमी को पिताजी के नाम पर स्थापित हुआ था और आज उसमें पुस्तकों तथा पत्र-पत्रिकाओं की संख्या लगभग बीस हजार है। बिहार के साहित्यिक इतिहास के लिए सामग्री-संग्रह का काम १९१८ ई० में ही शुरू कर दिया था और संगृहीत सामग्री की रक्षा के निमित्त भी चिन्तित रहना पड़ता था। किन्तु जब मैं उक्त परिषद् की सेवा में आया, तब अधिकारी-वर्ग से साहित्यिक इतिहास के प्रकाशनार्थ निवेदन किया और उपर्युक्त माथुर साहब ने यथोचित प्रबन्ध कर दिया, जिसके फलस्वरूप वह काम नियमित रूप से चलता रहा। यद्यपि मैं परिषद् से अवसर ग्रहण करके सितम्बर, १९५९ में ही कार्यमुक्त हो गया, तथापि अधिकारियों की इच्छा के अनुसार वह काम उसके बाद भी मेरी ही देख-रेख में होता रहा। इससे मुझे इतना अधिक संतोष हुआ कि इस साहित्यिक यज्ञ की पूर्णाहुति देखने के सिवा और कोई कामना नहीं रही।

भाग्य के उतार-चढ़ाव और गहरी-से-गहरी उदासी में भी मुझे एकमात्र ईश्वर-प्रार्थना से ही शान्ति मिली है। जीवनभर के अनुभवों का सार इतना ही है। हां, सद्ग्रंथों का स्वाध्याय भी उद्विग्न मन को शान्त करने का एक उत्तम साधन अनुभूत हुआ है। आध्यात्मिक अथवा दार्शनिक विचारों और संत-समागम तथा साहित्यिक कार्य-सम्पादन से भी यदा-कदा उदासी मिटी है; परन्तु ईश्वर-प्रार्थना के समान उसका स्थायी प्रभाव नहीं दीख पड़ा है। भाग्यजन्य उत्थान-पतन में धीर-प्रशान्त बने रहने का कोई दूसरा अचूक उपाय अब तक के जीवन

में नहीं सूझ पड़ा है जो ईश्वर की भक्ति और प्रार्थना के समान अमोघ हो। ऐसा अनुमान होता रहता है कि मनुष्य व्यर्थ ही अपने मिथ्या अहंकार के वशीभूत हो सुख-शान्तिमय जीवन-यापन के सुगम मार्ग—ईश्वर-प्रार्थना-पथ—से भटक गया है। श्रीमद्भागवत गीता में जो शाश्वत शान्ति का आश्वासन देनेवाले भगवद्वाक्य हैं वे जीवन-यात्रा को निर्विघ्न सम्पन्न करने के लिए अत्युत्तम सम्बल हैं। किन्तु श्रद्धा और विश्वास की शर्त पूरी किये विना वह सम्बल सुलभ नहीं। मेरा अटल विश्वास है कि भौतिक उन्नति के उत्तमोत्तम साधनों से भी मानव-जाति सच्चा सुख नहीं पा सकती। अंत में इस वैज्ञानिक युग को भी अध्यात्म की चुनौती के सामने नतमस्तक होना पड़ेगा।

समग्र संसार के सभी प्रयत्नों और उद्योगों का लक्ष्य सुख प्राप्त करना है। सुख की चाह और खोज में सभी प्राणी दिन-रात व्यस्त रहते हैं। मनुष्य अपनी मनोवृत्ति, प्रवृत्ति और प्रकृति के अनुसार ही सुख का अनुभव करता है। प्रतिदिन के जीवन में सुख के अनुभव के क्षण प्राय: आते-जाते रहते हैं। किन्तु आनन्द के क्षण साधारण जन को प्रतिदिन नहीं सुलभ होते। वे केवल भगवद्भक्त को, ईश्वर के अनन्य उपासक को, एकाग्र मन के ध्यानी को, निस्पृह आत्मचिन्तक को और योगी को ही उपलब्ध होते हैं।

सुख और आनन्द में महान् अन्तर है। रमणी-विलासी केवल सुन्दरी-समागम को ब्रह्मानन्द-सहोदर मानता है। किन्तु ब्रह्मानन्द का कोई सहोदर है ही नहीं—होता ही नहीं—हुआ भी नहीं। भोजन-विलासी केवल दिव्य आहार में ही अपने आनन्द की पूर्णता समझता है। परन्तु इन्द्रियों को सन्तुष्ट करनेवाले भोगों से आनन्द कभी उपलब्ध नहीं होता। इन्द्रियों के विषयों के उपभोग से सुख अवश्य प्राप्त होता है, जो अनिवार्यत: क्षणभंगुर होता है। आनन्द यदि सचमुच प्राप्त हो जाता है तो सदैव रोम-रोम में रमा रहता है। वह कभी क्षीण नहीं होता। उसकी मात्रा निरन्तर बढ़ती ही रहती है। वह अखण्ड आनन्द एकमात्र योगी का मूलधन है।

योगी केवल जंगल-पहाड़ में ही नहीं रहता। वह सांसारिक प्रपंचों के बीच गृहस्थी में भी रहता है। सद्गृहस्थ योगी आज के विकृत समाज में भी कहीं दीख जाते हैं। वे कहते हैं कि दुःख की छाया का ही नाम सुख है। वे ही बतलाते हैं कि परमात्मा के साथ जीवात्मा का संयोग ही 'योग' कहलाता है और यही शाश्वत आनन्द का मुख्य स्रोत है। इसी आनन्द से मानवात्मा परितृप्त होती है। किसी प्रकार के सांसारिक सुख से मानव की आत्मा परितृप्त नहीं होती। पर सात्विक आनन्द से आत्मा की तृप्ति होती है। ऐसी तृप्त आत्मा भगवद्भक्ति से ही लभ्य हो सकती है।

मेरा भी व्यक्तिगत अनुभव ऐसा ही है। सत्संग और स्वाध्याय से भी मैं

इसी निष्कर्ष पर पहुंचा हूं। किन्तु अहर्निश अनुभूति को आलिंगित किये रहनेवाले आनन्द से अभी तक वंचित ही हूं। जीवन में अपने किसी विशेष कार्य से उस आनन्द का आभास मात्र-सा मिला है; पर तन-मन में सतत व्याप्त रहनेवाला आनन्द अभी तक नसीब नहीं हुआ है। अपनी विशेष मन:स्थिति में परम तृप्ति की अनुभूति भी क्षणिक ही हुई है; क्योंकि परम तृप्ति का रस रोमावली में जब तक नहीं सरसाता, तब तक वह अशेष आनन्द नहीं बरसाता। तन-मन-प्राण को पुलकित और विह्वल बनाये रखनेवाले आनन्द का जो उद्‌गमस्थल है, उसके पास तक पहुंचने का सौभाग्य मुझे अभी तक प्राप्त नहीं हुआ है।

यों तो मेरे रामभक्त रामायणी पिता मुझे बचपन से ही भगवन्नाम-स्मरण की महिमा बतलाते और उसका अभ्यास सिखाते रहे; पर जीवन के विकट संघर्ष ने उस अभ्यास को साधना का रूप नहीं लेने दिया। तब भी जिस विशेष कार्य से मैं आनन्द की छाया छूता रहा हूं, वह साहित्य-समाराधन के अतिरिक्त और कुछ नहीं है। मेरी धारणा है कि मेरी अनुभूति में अभी वह तत्त्व-तल तक पहुंचने की गहरी पैठवाली अमोघ क्षमता नहीं आयी है, जो आनन्द के मूल उत्स तक अनायास ले जाती है। फिर भी जिस विशेष मन:स्थिति में परम तृप्ति के अनुभव की झलक मिलती है, वह तुलसीकृत 'रामचरितमानस' और 'विनयपत्रिका' की कथा एवं भावना में तल्लीनता का ही परिणाम है।

साहित्य-सेवा और साहित्यानुशीलन में जो सुख मिलता है, उस सुख को आनन्द की संज्ञा देने में हिचक इसलिए होती है कि परमात्मा के समक्ष आत्म-समर्पण करते समय जो आभ्यन्तरिक आह्लाद होता है, उसकी समकक्षता में वह सुख टिक नहीं पाता। उपर्युक्त 'मानस' और 'विनयपत्रिका' का स्वाध्याय भी प्रकारान्तर से साहित्यानुशीलन ही कहा जा सकता है। मनोयोग के साथ श्रीमद्‌भगवद्‌गीता का पारायण भी एक प्रकार का साहित्यानुशीलन ही है; पर इस साहित्यानुशीलन की विशेषता यह है कि इसमें मस्तिष्क और बुद्धि से अधिक एकाग्र चित्त-वृत्ति तथा अन्तस्तल की अनुभूति का ही योगदान रहता है। ऐसा स्वाभाविक योगदान केवल आध्यात्मिक साहित्य में तन्मय होने पर ही मिलता है।

निश्चय ही मेरा मन उस अविरल आनन्द की झांकी मात्र देखने के लिए भी लालायित रहता है; किन्तु अपनी विषम परिस्थितियों से विवश रहने के कारण वैसी साधना में तत्पर नहीं हो पाता, जैसी साधना से उस प्रकाशमय आनन्द की किरण-रेखा इन आंखों में अमृतांजन आंजने के लिए स्वर्ण-शलाका बन सकती है। इतने पर भी मेरा निजी अनुभव है कि साहित्य-साधना में मन के केन्द्रीकरण का जो अभ्यास बंध जाता है, वह हरिकथा-कीर्तन और नाम-सुमिरन की साधना में एक प्रकार का सहायक ही सिद्ध होता है। साहित्यकार तो 'मानस' या

'विनयपत्रिका' या 'गीता' का पाठ करते समय अपनी भावुकता को भक्ति-भावना में निमग्न रखता है और अपनी सहृदयता को भाषा-भाव-गत काव्यात्मक सौन्दर्य में। इस तरह उसको दोहरा या डबल आनन्द मिलता चलता है।

सच पूछिए तो साहित्य ही मनुष्य के आनन्द का स्वाद बढ़ाता है। असाहित्यिक भक्त भी 'मानस' या 'विनयपत्रिका' में उतना आनन्द नहीं पा सकता, जितना साहित्यिक भक्त पाता है। मैं भक्त होने का दावा नहीं कर सकता, पर इतना जानता हूं कि आनन्द की सदासलिला स्रोतस्विनी भगवद्भक्ति ही है। जब मनःस्थिति उसमें अचल हो जाती है, तब यही आकांक्षा होती है कि यह क्षण यदि अनन्त हो जाता तो मनोरथ-रथ अपने लक्ष्य की ओर अबाध गति से अग्रसर होता रहता या उस तक पहुंच ही जाता। किन्तु माया-प्रपंच ऐसा होने नहीं देता। इसी विवशता के कारण मन को इतना ही सन्तोष रहता है कि साहित्याराधन से जितना आनन्द अनुभूत हो जाता है और भक्ति-साधना से जितनी तृप्ति मिल जाती है, उतने से ही जीवन की सार्थकता मान लेनी चाहिए। इस प्रकार मुझे साहित्यिक कार्य में संलग्न और परमात्म-चिन्तन में अनुरक्त होने पर ही अलौकिक आनन्द तथा सर्वोपरि परितृप्ति का अनुभव हुआ है और होता भी है। वह आनन्द केवल अनुभूति का ही विषय है, अतः सर्वथा अनिर्वचनीय है।

□

'पारिजात' के कुछ महत्त्वपूर्ण प्रकाशन

आचार्य शिवपूजन सहाय का सृजनात्मक जीवन वर्तमान शती के प्रथम दशक में ही प्रारम्भ हुआ था, यद्यपि उनकी पहलो पुस्तक 'बिहार का विहार' सन् १९१९ ई० में प्रकाशित हुई। प्रथम कहानी-संग्रह 'विभूति' १९२१ में तथा 'देहाती दुनिया', जो हिन्दी के प्रथम आंचलिक उपन्यास के रूप में विख्यात है, १९२६ में प्रकाशित हुई थी। तीसरे दशक के प्रारम्भ से ही वे हिन्दी पत्रकारिता के क्षेत्र में अपने सम्पादन-कौशल के लिए विख्यात हो गये, और उसके बाद के दशकों में उनका लेखनकार्य प्रमुखतः पत्र-पत्रिकाओं में ही होता रहा। पत्रकारिता-क्षेत्र में उनका प्रवेश 'मारवाड़ी-सुधार' के सम्पादक के रूप में हुआ जिसके बाद 'मतवाला', 'समन्वय', 'आदर्श', 'मौजी', 'गोलमाल', 'उपन्यास-तरंग' आदि पत्रों का सम्पादन उन्होंने अपने कलकत्ता-प्रवासकाल में किया। इस बीच १९२४ में कुछ दिनों तक वे प्रेमचंद के साथ 'माधुरी' के सम्पादक रहे। १९२७ में वे 'बालक' के सम्पादक नियुक्त हुए, फिर १९३० में सुलतानगंज (भागलपुर) से प्रकाशित 'गंगा' का सम्पादन किया। १९३२ में वे काशी से प्रकाशित पाक्षिक 'जागरण' के सम्पादक रहे, जिसका सम्पादन उनके बाद प्रेमचंद ने सम्भाला। इसके लगभग डेढ़ दशक बाद पटना से इनके सम्पादन में 'हिमालय' प्रकाशित हुआ और फिर वहीं से प्रकाशित, बिहार-हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन के शोध-समीक्षा-प्रधान त्रैमासिक 'साहित्य' का सम्पादन इन्होंने आचार्य नलिनविलोचन शर्मा के सहयोग में किया। इनकी सम्पूर्ण रचनाएं 'शिवपूजन रचनावली' के रूप में चार खंडों में १९५६ से १९५९ के बीच इन्हीं की देखरेख में बिहार-राष्ट्रभाषा-परिषद्, पटना से प्रकाशित हुईं। इनके द्वारा सम्पादित ग्रंथों में 'द्विवेदी-अभिनंदन-ग्रंथ' (१९३३), 'राजेन्द्र-अभिनंदन-ग्रंथ' (१९५०), 'जयंती-स्मारक-ग्रंथ' (१९४२), 'अयोध्याप्रसाद खत्री-स्मारक-ग्रंथ' (१९६०), 'बिहार की महिलाएं' (१९६२) आदि विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। मरणोपरांत प्रकाशित संस्मरण-पुस्तकें हैं: 'वे दिन : वे लोग' तथा 'बिम्ब-प्रतिबिम्ब'। उनके साहित्यिक पत्र-संग्रह, जीवन के लगभग बीस वर्षों की उनकी दैनंदिनियां, उनके अद्यतन असंगृहीत साहित्यिक निबंध, टिप्पणियां आदि विविध महत्त्वपूर्ण साहित्यिक सामग्री का कई खंडों में शीघ्र प्रकाशन प्रस्तावित है।